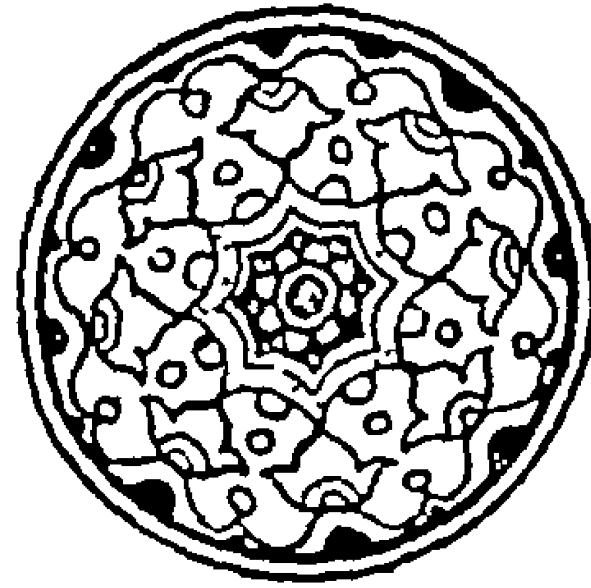


‘णाणं पयासत्रो’  
**गुरुवाणी**

---



सम्पादिका  
प्रीति जैन

गुरुवाणी प्रकाशन

जयपुर

♦ प्रकाशक

ज्ञान प्रकाश बकशी

♦ प्रबन्ध सम्पादक

सुमेरु कुमार जैन

♦ सहयोगी

ताराचन्द वैद

राजेन्द्रकुमार बिल्टीवाला

वाबूलाल जैन

योगेन्द्र जैन

♦ चित्र-सज्जा

आनन्द आचार्य

सुरेन्द्र काला

♦ प्रथम सम्स्करण अप्रैल १९७६

वीर सम्बत् २००५

♦ प्राप्ति-स्थान

गुरुवाणी प्रकाशन

११३०, महावीर पार्क रोड

जयपुर ३०२००३

• मूल्य २० ०० रुपये (डाक व्यय अलग)

• पुस्तकालय सस्करण ३५ ०० रुपये (डाक व्यय अलग)

• मुद्रक

फ्रेंड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स

जौहरी बाजार, जयपुर-३

## अपनी बात <sup>जयपुर</sup>

□ ज्ञानाकुर के प्रस्फुटन में, भव-भवान्तरो में ग्रहण किया गया बोध भी एक आधार बन जाता है। कब व किस शुभ-घड़ी में उत्पन्न चिनगारी, उसी रूप में पड़ी रह कर भी, जब अवसर या संयोग पा जाती है, तो सुलगने लगती है और अग्नि में अथवा ज्वाला रूप में प्रकट हो जाती है। जन्म-जन्मान्तरो में, कभी किसी सत्गुरु के चरणप्रसाद से, तप के प्रभाव से उनके मुख कमल से निसृत व निर्भरित सवोधि की वह चिनगारी—अपना विशाल रूप ग्रहण कर सकती है। पुरुषार्थ का योग उसे मिले, वातावरण का निर्माण हो, और संयोग जुट सके तथा सभी साधनों का संयोग हो, तो प्रशस्त राह की दृष्टि-उपलब्धि सहज व सुलभ हो सकती है। चिर-पिपासित चेतन को ज्ञान-जल की सिक्तता चाहिए ताकि भव-भवान्तर की तिक्तता से त्राण मिल सके। चिंतन, मनन, ज्ञान-ध्यान व तपस्या की प्रवाहित धारा में निमग्न, परम शांति की उपलब्धि हेतु साधना में रत साधुजनों का सान्निध्य मिले वह क्षण जीवन का एक सुअवसर है।

चौदह वर्ष पश्चात् मुनि श्री गोम्मटेश्वर की ओर विहार करते हुए राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर होकर पधारेंगे—इस समाचार से श्रद्धा की भाव-तरंगें मानस पर छाने लगीं। मुनिश्री के जयपुर-प्रवास की यह घड़िया स्मृति के माध्यम से कुछ स्थायित्व पा सके, इस निमित्त अपना योगदान क्या हो व कैसे हो उसके लिये साधन कैसे उपलब्ध हो, सहयोग किनका व कैसे मिले, सभी बातों का संयोग कैसे हो, इन सब विचारों की साकारता के प्रयत्न कैसे सफल हो? भावनायें कैसे साकार हो, मूर्त्त हो, ताकि श्रद्धा-सुमन भक्ति सहित अर्पित हो और जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षण स्मरणीय हो जावें।

सहयोगियों ने परस्पर एक-दूसरे के विचारों को सबल दिया और अपना महत्त्वपूर्ण योग देकर मुनिश्री के प्रवचनों को, गुरुवाणी को, सभी जनों



तक पहुँचाने के प्रयोजन से पुष्प रूप में प्रकाशित किया और उन्हें ही अब पुस्तकाकार में प्रेषित किया जा रहा है ।

मुनिश्री ने अपने जयपुर-प्रवास के समय प्रवचनों में अत्यन्त रोचक उदाहरणों द्वारा जीव की वस्तुस्थिति की ओर आकर्षित किया और बताया कि द्रव्य शाश्वत है, चैतन्य शाश्वत है, नश्वरता अपनी नहीं, परजनित है । जीव स्वतन्त्र है, पराधीन नहीं, चैतन्य-बोध सुख का कारण है, दुःख का कारण पराधीनता है—‘पराधीन सपनेहु सुख नाही’ । अहिंसा जीव का अपना स्वभाव है जो सामान्य जीवन में अनुशासन का आधार है, वह ही सामाजिक जीवन में पारस्परिक सौहार्दता व वात्सल्य रूप में निर्वहन पाता है । मन चंचल है, पर-जनित भावनाएँ किस-किस रूप में उठती हैं और कैसा प्रभाव छोड़ जाती हैं, आचार्यों ने उसका वर्गीकरण षट्प्लेयाओं के माध्यम से करके समझाया है । अशुभ-पाप है, शुभ-पुण्य है और पाप-पुण्य दोनों से अलग शुद्ध अपना स्वभाव है । अशुभ सर्वथा त्याज्य है, वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को वह दुःखी बनाता है, शुभ दुःख से त्राण देता है, समता व शांति की ओर उन्मुख होने में सहायक होता है, स्वचेतना को दिशा बोध कराता है । सामाजिक स्तर पर परोपकार, दान, त्याग की भावनाएँ, पारस्परिक व्यवहार में विनय, गुरुजनों के प्रति आदर, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति, सहज जीवन की कला है, जो आत्म-साधना में सहायक होती है । देव-दर्शन अपने आदर्शों के स्मरण के लिए साधन है, आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं । मंदिर व मूर्तियाँ ‘वन्दे तद्गुण लब्धये’ हेतु साकार साधन हैं । भगवान् महावीर, राम व कृष्ण के जीवन-आदर्श अनुकरणीय व आत्मबोधक हैं ।

ज्ञान आत्मा में है, जो साधक, साधन व साध्य स्वयं ही है, ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय स्वयं ही है, वद्यक व वद्य भी स्वयं ही है । जो पर है वह अपना नहीं है । पर के प्रति अपनापन, उसकी ओर दृष्टि ही विभाव है, दिशा-विमुखता है, राग है । पर का साथ पूर्ण स्व-सिद्धि तक छोड़ा नहीं जा सकता । अतः दृष्टि साधन की ओर नहीं, साध्य की ओर होना परमावश्यक है इसके लिए जीवन में सर्वांगीण समता—पर की चंचलता से, अशांति से छुटकारा दिलाने में समर्थ है । यह राग आग दहे सदा, यह राग ही अशांति का कारण है । आत्मा का आराधन करके परमात्मा बनने की शक्ति चैतन्य में है, अपने में ही है । पुण्य व पाप ही जीवन है, जो इससे मुक्त हुये, वे सिद्ध हो गये । परन्तु सिद्ध होने तक जीवन छोड़ा नहीं जा सकता । उसे सक्लेशमय न बनायें, इसके लिये समता की आवश्यकता है । पारस्परिक सौहार्द के लिये अहिंसा के

सिद्धान्त को जीवन में गूँथा जाना ही एकमात्र उपाय है। अहिंसा ही आत्म-रक्षा का कवच है। अपने दोषों का शमन ही आत्मोपलब्धि का एक मात्र साधन है।

जो अपने कर्तव्य-पालन में रत हैं, वे ही पुरुषार्थी हैं। कर्तव्य-पालन ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ से ही आत्म-कल्याण संभव है। सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र के त्रियोग के बिना ध्यान व ज्ञानपूर्ण नहीं है। इसके बिना आत्मोपलब्धि नहीं हो सकती। इन सबके लिये त्रियोग सहित सन्तुलन ही समता है, पर, से विमुखता है।

उक्त सभी विदुओं पर तत्त्वज्ञान की गूढ़ गुत्थियों को सहज व सुलभे हुए रूप में, उदाहरणों के माध्यम से समझाते हुए मुनिश्री ने अपने प्रवचनों में बताया कि धर्म व नैतिकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए नितान्त आवश्यक है, उसके बिना हमारा पुरुषार्थ निरर्थक है, हमारा सामाजिक जीवन अत्यन्त दुरुह है।

मुनिश्री के जयपुर-प्रवास के प्रवचनों को पुस्तकाकार रूप में प्रेषित करने में, भाषा मुद्रण आदि में जो कमी या त्रुटि रह गई है, वह हमारी अपनी अल्पज्ञता है। विद्वान् पाठक-गण उसके लिए हमें क्षमा करें व उसे शुद्ध व सही रूप में समझ कर, ग्रहण कर, लाभ उठावे। जो त्रुटियाँ या कमियाँ हमारी अपनी दृष्टि में नहीं आ सकी हैं, उनकी ओर हमारा ध्याना-कर्षण करने हेतु आपके महत्त्वपूर्ण सुझाव, भावी प्रयासों में उनकी पुनरावृत्ति रोकने में हमारे लिए सहायक होंगे।

सहयोगियों के सहयोग व उत्साह-वर्धन के लिये समस्त गुरुवाणी परिवार उनका हृदय से आभारी है। गुरु-कृपा से जो भी, जितना व जिस प्रकार बन पड़ा है, यह अल्प प्रयास प्रस्तुत है आपके समक्ष।

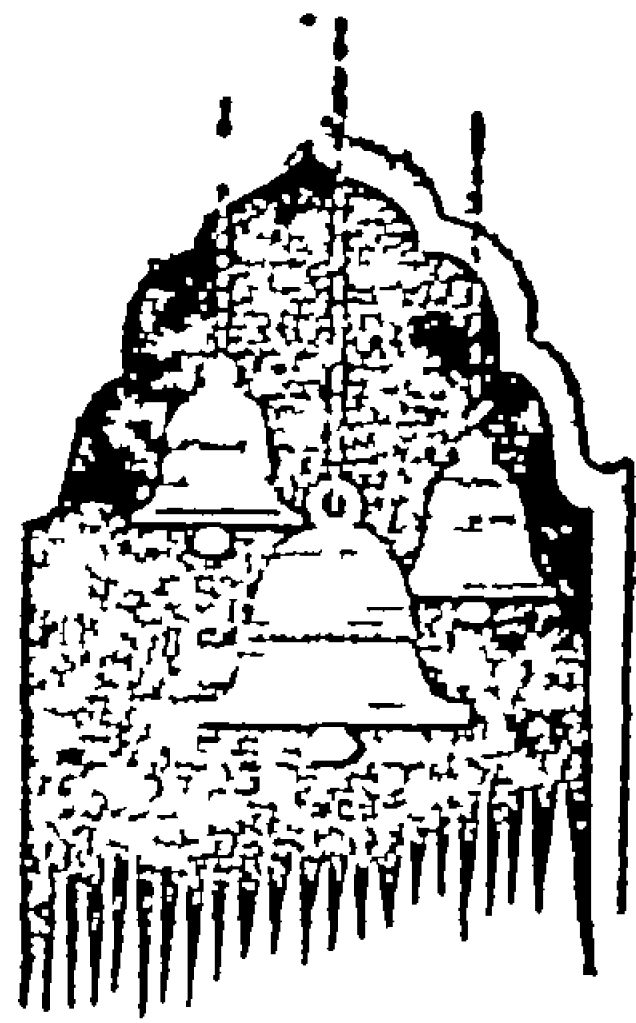
अन्त में, सत्गुरु के चरण वदनीय हैं, चरणारज धारणीय हैं, चरण-चिन्ह अनुसरणीय हैं, मार्गदर्शक हैं। उनके श्री चरणों में भक्तिपूर्वक बारम्बार नमन।

—प्रोति जैन

जयपुर—

दिनांक १० अप्रैल, १९७६

(महावीर जयन्ती)



## अनुक्रमिका



पृष्ठ

- १ ☐ अहिंसा एव अनेकान्त से ही आदर्शों का स्थितिकरण सम्भव
- ५ ☐ अहिंसा व अराजकता उन्मूलन हेतु अनुशासन की शिक्षा आवश्यक ,
- ६ ☐ पट् लेश्या जैन दर्शन मे भावनाओं का मनोवेज्ञानिक विश्लेषण
- १८ ☐ दर्शन-ज्ञान-चारित्र के योग मे ही आत्म-कल्याण सम्भव .
- २५ ☐ अतरंग त्याग चिनगारी समान है
- ३१ ☐ अहिंसा, नत्य, मयम और तप ही वर्म है
- ३८ ☐ भगवान् ऋषभदेव का सदेश ऋषि बनो या कृषि करो
- ४३ ☐ तीर्थंकर महावीर • सिद्धान्त एव जीवन चरित्र
- ५१ ☐ त्रियोग सहित आत्मावलोकन ही ध्यान है
- ६८ ☐ दुर्लभ है समार मे एक यथार्थ ज्ञान

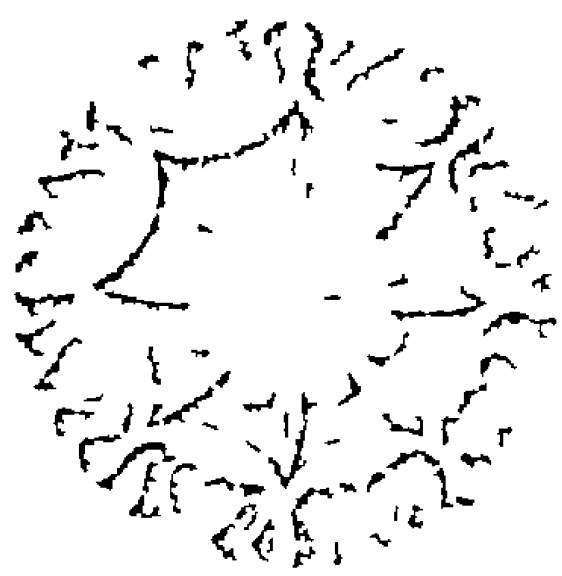
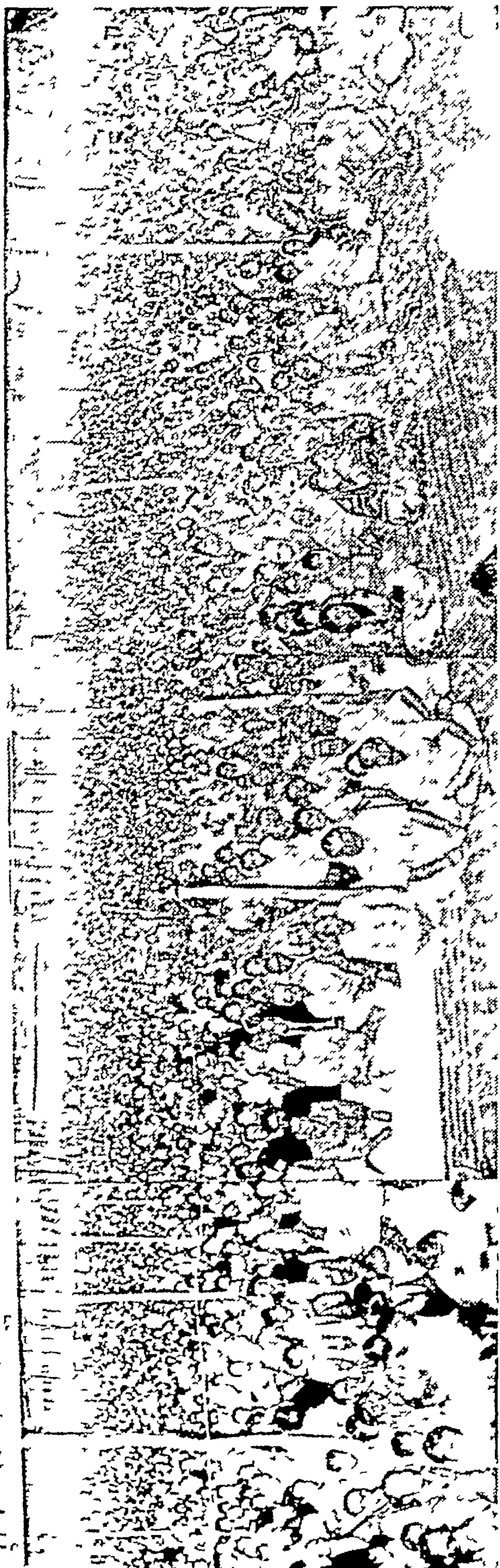
- ७० ☐ जीवन पुण्य-पाप का खेल
- ७६ ☐ वस्तु स्वभाव का ज्ञान ही सुख का स्रोत
- ८२ ☐ श्री कृष्ण और उनका जीवन दर्शन
- ९१ ☐ चैतन्य शाश्वत है, ध्रुव है ..
- ९५ ☐ परोपकार ही कल्पवृक्ष है
- १०० ☐ सामाजिक संगठन के लिये महती आवश्यकता— 'वात्सल्य-भाव'
- १०७ ☐ ज्ञान आत्मा में है, शास्त्रों में नहीं .
- ११४ ☐ पराधीन सपनेहु सुख नाही
- १२० ☐ सत न होते ससार में तो जल जाता ससार
- १२७ ☐ जगत का बन्धु—वीतराग भगवान्
- १३१ ☐ सत्गुरु सहज स्वभाव सुभायो
- १३८ ☐ 'वन्दे तद्गुण लब्धये ।
- १४६ ☐ विभाव का कारण है—'विकारी भाव'
- १५३ ☐ सब्बे शुद्धा शुद्धनया .....
- १५६ ☐ पुरुषार्थ ही मुक्ति की आधारशिला है
- १६६ ☐ देह विनाशी, मैं अविनाशी
- १७२ ☐ यह राग आग दहे सदा . . .
- १८० ☐ अहिंसा—आत्म सुरक्षा का अनुपम कवच
- १८८ ☐ भारत—अतीत में और वर्तमान में
- २०१ ☐ स्कूल आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माण शाला है
- २०४ ☐ सफलता का सूत्र-श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र्य साधन
- २१० ☐ सर्वोदय धर्म-तीर्थ ही तरण-तारण है
- २१६ ☐ दान धर्म का सलाहकार है
- २२२ ☐ जीवन के तीन सूत्र—सुसंस्कार, सादगी और सयमाचरण
- २३२ ☐ जिनालय आत्मा का बीमा भवन
- २३६ ☐ धर्म बिना कोई नहीं अपना

पृष्ठ

- २४६ ☐ हमारा कर्तव्य और पुरुषार्थ  
२५५ ☐ कर सेवा जन-जन की  
२६७ ☐ अशान्ति का कारण राग है ।  
२७३ ☐ ज्ञान विन कर्म भरै जे....  
२७७ ☐ स्वार्थ मे परार्थ निहित है  
२८४ ☐ सस्कार और जीवन  
२८६ ☐ विद्या ददाति विनय  
२९३ ☐ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः  
३०२ ☐ कर्तव्य पालन ही धर्म है  
३१० ☐ मत मरण को अन्त समझे  
३१८ ☐ चित्तानुष्ठान के लिए है, चैत्य और चैत्यालय  
३२२ ☐ स्व-विमुखता ही परिग्रह की जड़  
३३० ☐ स्व-सन्तुलन का नवनीत-समता  
३३६ ☐ राम का जीवन आदर्श  
३४५ ☐ अहकार के आठ रूप  
३५० ☐ स्वदोष शमन ही उन्नति का सोपान है  
३५६ ☐ कर्तव्य पालन करें, साधन स्वतः जुटेंगे

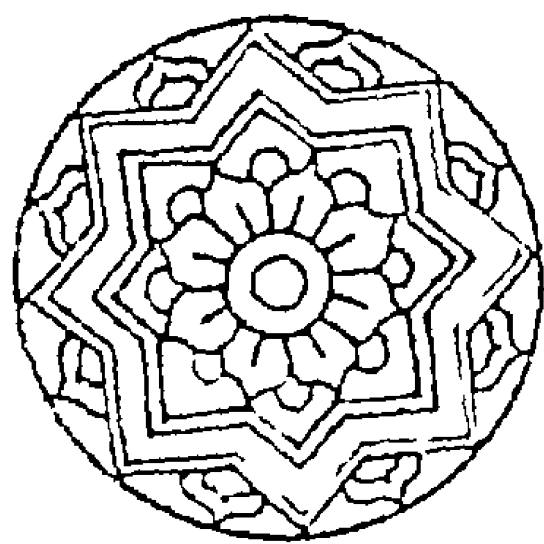






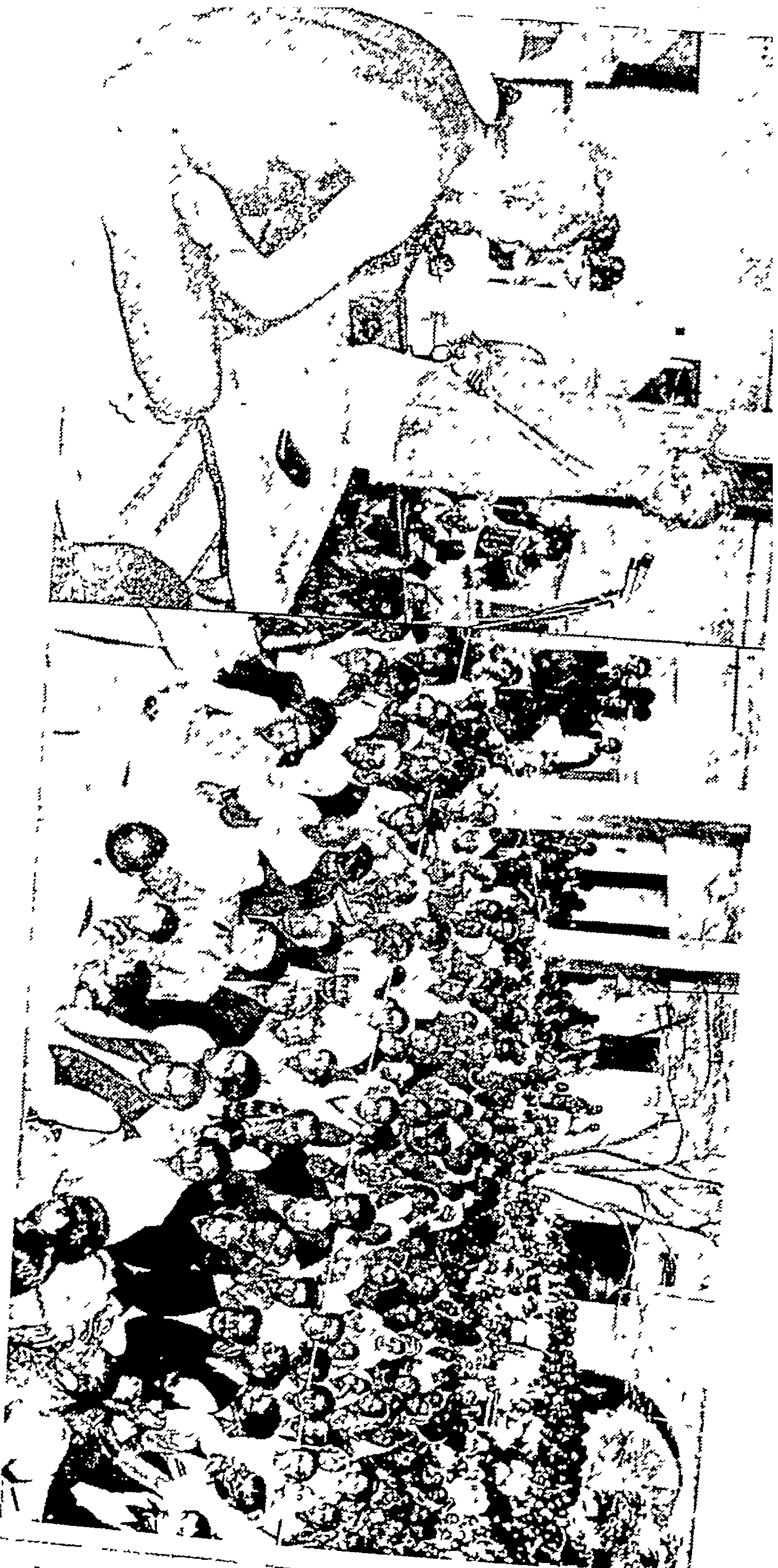
मुनिश्री के जयपुर आगमन पर रामलीला मैदान में विशाल जन-समूह भगल-प्रवचन का आकण्ठ-  
पान करते हुये । राज्य के स्वास्थ्य-मन्त्री श्री त्रिलोकचन्द जैन एवं राजस्व-मन्त्री श्री पुरुषोत्तम  
मन्त्री समारोह में उपस्थित थे ।





० मुनि श्री केन्द्रीय कागणार, जयपुर मे वदी जनो को सम्मन्वित करते हुय ।





। मुनि श्री क सानिध मे पार्श्वनाथ जूलगिरी पर राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री भगोसिंह शेखावत अपने विचार व्यक्त करते हुये ।

# अहिंसा एवं अनेकान्त-से ही अदिशों का स्थितिकरण संभव

राजस्थान की राजधानी जयपुर ही गुलाबी नहीं है। राजस्थान के प्रत्येक ककर को मैं गुलाबी समझता हूँ, मैं राजस्थान के अनेक शहरो व गावों में घूमा। वहाँ की भाषा, मृदु मिट्टी देखने के बाद मुझे राजस्थान का प्रत्येक ककर, प्रत्येक कण गुलाबी लगता है।

इस ससार में मनुष्य-जीवन ही बहुत मूल्यवान जीवन है। मनुष्य के जीवन के पीछे एक तत्त्वज्ञान होता है, और तत्त्वज्ञान के पीछे होती है विशाल सम्यग्दृष्टि। वह सम्यग्दृष्टि क्या है? किसी ने आपसे पूछा—आप कहाँ से पधारे? आपने उत्तर दिया—अमुक मोहल्ले से, अमुक उपनगर से। आगे किसी ग्राम में पहुँचने पर आपसे यह पूछने पर कि आप कहाँ से पधारे? आप बताते हैं—मैं जयपुर से आया हूँ? यहाँ मोहल्ला व उपनगर गौण हो गया। दिल्ली पहुँचने के बाद कोई पूछे कि कहाँ से पधारे? तो आप उत्तर देते हैं कि मैं राजस्थान से आया हूँ। उस समय आपकी दृष्टि में पूरा राजस्थान प्रमुख हो गया। यदि आप उड़कर अमेरिका पहुँच जायें तो वहाँ पूछने पर आप कहेंगे—मैं भारत से आया हूँ। उस समय अखण्ड भारत प्रमुख हो गया, गली मोहल्लादि सब गौण। और यदि आप चन्द्रलोक पर पहुँच जायें तो आप बतायेंगे कि—मैं पृथ्वी से आया हूँ, वहाँ सारी पृथ्वी आपकी होगई। विशाल पृथ्वी आपकी दृष्टि में समा गई। आपकी दृष्टि विशाल हो गई। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि इतनी ही विशाल हो जाती है कि वह प्राणी-मात्र के प्रति समता भाव रखता है, दया भाव रखता है। बीजरूप में प्रत्येक आत्मा में दयाभाव मौजूद है। दयाभाव अहिंसा का मूल है।

१९३२ में महात्मा गांधी ने कहा था कि—‘मैं केवल जैन कुल में जन्म लेने वाले को जैनी नहीं मानता, अपितु मेरी दृष्टि में अहिंसा मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति जैन है।’ तात्पर्य यह है कि धर्म, जाति, प्रान्त आदि में जन्म लेने से नहीं, उसे जीवन में उतार लेने से आता है। तत्त्वज्ञान को जीवन

में उतार लेने से सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शन को समझने के लिये घर का ही छोटा सा उदाहरण लें—घर में, व्याही हुई बेटी जब वापस आती है तो माँ कहती है—बेटी ! यहाँ मैंने तुम काम मत करो, ससुराल से थककर आई हो। बेटी कितना भी खाये, माँ यही कहेगी—मेरी बेटी कुछ खाती ही नहीं, बहुत ही कम खाती है। वही माँ बेटी के स्थान पर वह के लिये कहेगी—न जाने कहाँ से आई है राक्षसनी, खाती तो डेर सारा है पर काम कुछ नहीं करती है। बेटी को तो उदार दृष्टि से देखकर उसके अवगुणों को भी गुण ही समझे और वही पराई 'बेटी' के गुणों को अवगुण रूप ही देखे। पर सम्यग्दृष्टि (अर्थात् विशाल दृष्टि वाली समभाव वाली) सास वही है जिसकी दृष्टि में बेटी-वह दोनों समान हैं और सम्यग्दृष्टि वह वह है जो माँ व सास के प्रति समान व्यवहार करे।

वास्तव में शास्त्रों को मंदिर में पढ़ने या रटने से नहीं अपितु उसे घर से लेकर व्यवहार में, जीवन में उतारने पर ही वे उपयोगी व उपादेय हैं। केवल सम्यग्दर्शन शब्द रटने से, बड़े-बड़े श्लोक रटने से, उनकी सूक्ष्म बातों की चर्चा करने से कुछ लाभ नहीं होता। प० टोडरमल जी ने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक में बताया है कि शिवभूति सिद्धान्त-तत्त्व कुछ भी नहीं जानता था, केवल तुम-माँ का भेद जानता था अर्थात् दाल-छिलके से पृथक है, आत्मा-शरीर से पृथक है वह बात भली-भाँति जानता था। इस छोटे से ज्ञान से उसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। तात्पर्य यह है कि दृष्टि को उदार बनाना चाहिये तभी मानवता जीवित रह सकती है। सभी महापुरुषों ने उदार दृष्टिकोण से ही महानता पाई है। राम ने श्वरी, जिसे छूना भी मना था, उसकी कुटिया में घोंटकर फल खाये। वहाँ से जाते हुये उसे अमर होने का आशीर्वाद प्रदान किया और जटायु जैसे पक्षी को गोद में ले उसे सान्त्वना दी, उसका समाधि-मरण कराया। वास्तव में पशु-पक्षी व भोपड़ी में रहनेवालों के साथ भी उदारता हो, यही महानता का प्रतीक है।

भगवान् महावीर ने प्रत्येक आत्मा में अहिंसा को देखा। ब्रह्म कहाँ है ? ब्रह्म प्रत्येक आत्मा में है—परन्तु प्रकट रूप वही है जहाँ अहिंसा है। अहिंसा सर्वोपरि व श्रेष्ठ है। इसे लोग भली प्रकार समझ नहीं पाये, या यूँ कहें कि हम जैन इसे समझा नहीं पाये। हम समझाने में असफल रहे। केवल शब्दों से अहिंसा का जाप जपते रहे।

मैं जब ग्वालियर गया तो ग्वालियर महारानी इत्तफाक में मेरे पास आई। उनमें लगभग एक घण्टे तक चर्चा चली। उन्होंने कहा कि “मुझे

जैनों की और सब बातें समझ में आती हैं, पर यह अहिंसा समझ में नहीं आती, यह है क्या ?” तब मैंने कहा—दुनिया में सब काम अहिंसा के लिये ही हैं, हिंसा के लिये कुछ दिखता ही नहीं। चौराहे पर लालवत्ती है, वह अहिंसा के लिये। वह कहती है आपकी हिंसा हो जायेगी, आप रुक जाइये। यातायात नियंत्रक पुलिस भी अहिंसा के लिये ही तत्पर है कि दो गाड़िया आपस में टकरा न जाये। मजिस्ट्रेट, अहिंसा के लिये, पुलिस, अहिंसा के लिये, डाक्टर की चीरा फाड़ी-अहिंसा के लिये, सब बचाने के लिये हैं, रक्षा करने के लिये है। कोई हिंसा के लिये नहीं है। कानून, विधानसभाये, मंत्री आदि सभी अहिंसा के लिये हैं, पर मिलावट करने वाला व्यापारी हिंसक है, उसकी क्रिया हिंसा के लिये है। सिर्फ प्राणी को मारने में ही हिंसा नहीं है, मिलावट करना भी हिंसा का एक रूप है। अहिंसा से ही यह दुनिया बची हुई है, सुरक्षित है।

१९६६ में मैं जब दिल्ली में था, जापान से एक दल वहाँ आया हुआ था। अरविन्द आश्रम के कार्यकर्ता उन्हें मेरे पास ले आए। मैंने उन्हें धर्म की एक पुस्तक देनी चाही। उन्होंने पूछा “यह काहे की पुस्तक है ?” मैंने कहा-धर्म की है। उन्होंने कहा-“हम तो नौजवान हैं, हम तो धर्म को मानते ही नहीं हैं।” मैंने कहा कि दुनिया में कोई भी आदमी ऐसा नहीं जो धर्म को नहीं माने। उन्होंने कहा—“जब हम मना कर रहे हैं तब आप इस प्रकार कैसे कह रहे हैं ?” तब मैंने कहा—“कोई आपके सिर पर लाठी मारे तो आपको कैसा लगे ?” उन्होंने कहा—“यह तो हमें बहुत बुरा लगेगा।” मैंने पूछा और कोई उस पर पट्टी बांधे तो ? उन्होंने कहा—“यह तो अच्छा लगेगा।” मैं बोला—“बस यही तो धर्म-अधर्म है।” तब वे बोले—धर्म ऐसा है तब तो हम मानते हैं। मैंने कहा—(धर्म) ऐसा ही तो है। हम धर्म को विधि-विधान में, डिब्बे में बन्द करके नहीं रख सकते, धर्म तो बहुत विशाल है, आकाश से भी अनन्तगुणा विशाल ? उसमें से थोड़ा जीवन में उतार ले, उसमें स्नान कर आत्मा को पवित्र बनालें तभी लाभ है।

अहिंसा, विशाल है, समस्त चीजें, कार्य, अहिंसा के लिए है। सीमा पर सेना खड़ी है, हिंसा के लिए नहीं, हमारी कोई हिंसा करे उसे रोकने के लिए है। कहा तक बतायें—रगीन चश्मा लगाते हैं, आखों को बचाने के लिए, आखों की पलकों पर वालों की सेना-आखों में कोई धूल कण आदि न घुस जायें इसलिए है अर्थात् हर वस्तु रक्षा के लिए ही हैं।

अहिंसा के लिए जब तक हम उदार दृष्टिकोण से नहीं देखेंगे, अध्ययन-मनन नहीं करेंगे, तब तक अहिंसा को मूर्तरूप नहीं दे सकेंगे। इसके लिए महावीर ने अनेकान्त दृष्टि दी है। महावीर ने कहा कि कौआ केवल काला नहीं है, (धवला ग्रन्थ)। केवल काला मानना एकान्तिक दृष्टिकोण है। कौआ पख की दृष्टि से काला, हड्डी की दृष्टि से सफेद, रक्त की दृष्टि से लाल, पित्त की दृष्टि से पीला व नसों की दृष्टि से नीला है। ऐसे पचरंगी कौए को आप केवल काला कैसे कह सकते हैं? क्या आपके काला कहने से उसके शरीर व रंगों व चीजों का निषेध हो जायेगा? वे नष्ट हो जायेंगी? एकान्त से नहीं, हर चीज को अनेकान्त से देखो। विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद यही समाज के अन्दर सर्वोदयी तीर्थ है। यही मानव के अभ्युदय का कारण है।

भारत एक विशाल देश है। यहाँ नाना धर्म, सम्प्रदाय हैं। जैसे माली बाग में जाता है, गुलदस्ता बनाता है। उस गुलदस्ते में सफेद, लाल, गुलाबी, नीला-पीला सब रंग के फूल सजाता है और भेट करता है, उसी प्रकार सारे सम्प्रदाय, नयों का समन्वय कर समस्त विचारधाराओं को अनेकान्त से एकता सूत्र में बाध, एक गुलदस्ता बनायें, ऐसे गुलदस्ते को बनाने की कला सीखें, माली बनें। एकान्त को लेकर न चले। जैसे माली गुलदस्ते के लिए सब पेड़ों से लाभ लेता है, उसी तरह हम भी सब सम्प्रदायों से लाभ लें। भारत एक बगीचा है, हम सब माली हैं। माली का कर्तव्य है कि वह सुन्दर गुलदस्ते बनाये, जिसे पाने वाला खुश हो जाये। अतः हम अनेकान्त को धारण करें।

भारतवासी बुद्धिमान बनें। उदारविचार वाले बनें। हमें केवल स्वयं को ही नहीं जीना, अपितु विशाल विश्व के मानव मात्र के कल्याण के लिए कार्य करना है। इस लक्ष्य के साथ कार्य करेंगे तभी भारत अपने पुराने आदर्शों को पुनर्स्थापित कर सकेगा।

विश्व धर्म की जय



# अहिंसा व अराजकता उन्मूलन हेतु

## अनुशासन की शिक्षा आवश्यक

सच्चा ज्ञान वही है जो दुःखो को दूर करने में सक्षम हो। वह ज्ञान किस काम का जो दुःख दूर न कर सके ? स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। जब तक इस देश में अहिंसा-सिद्धान्त को सिखाने-पढ़ाने की व्यवस्था स्कूलो-कालेजों में नहीं की जावेगी तब तक इस देश में निरन्तर बढ़ती हिंसा को कोई नहीं रोक सकता। ससार में जितने जीव हैं, वे एक दूसरे का उपकार करके जी सकते हैं, अपकार करके कोई नहीं जी सकता, वह कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

दि० २४-१२-७८

### उपकारक दृष्टि अपनाइए—

भव्य महानुभावो ! मैं भारत के अनेक प्रदेशों में भ्रमण करता रहा हूँ। भ्रमण के दौरान मुझे कहीं कोई कठिनाई नहीं हुई। मैं जब हिमालय की यात्रा पर था, तो अनेक लोगों ने मुझे आगे जाने के लिये मना किया कि वहाँ सर्दी बहुत है, रास्ते में बर्फ ही बर्फ है, रहने के लिये स्थान नहीं मिलेगा। परन्तु मैं आगे बढ़ चला। पूरी यात्रा के दौरान वहाँ की जनता, पुलिस चौकी वाले, सभी रहने के स्थान आदि की व्यवस्था करते रहे। अपने मन में यदि दूसरों के प्रति सद्भावना है, दूसरे की कठिनाई में सुविधा प्रदान करने की भावना है, तो उसके मार्ग में किसी भी प्रकार की अड़चन या बाधा नहीं आ सकती, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। जब हम दूसरों को सहयोग देंगे, तभी हमें दूसरों का सहयोग मिल सकेगा। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—‘परस्परौपगृहो

जीवनाम्' । ससार में जितने जीव हैं, वे एक दूसरे का उपकार करके जी सकते हैं, अपकार करके कोई नहीं जी सकता । अपकार करने वाला कभी शांति प्राप्त नहीं कर सकता ।

भोपड़ियों की वस्ती में, यदि एक भोपड़ी में आग लग जाती है तो पाम की सब भोपड़ियों के निवासी आग बुझाने के लिये तत्पर हो जाते हैं, इसलिये नहीं कि अमुक की भोपड़ी में आग लगी है, अपितु इसलिये कि कहीं यह आग फैलकर मेरी भोपड़ी तक न पहुँच जाये । इस प्रकार हम जो भी कार्य करते हैं उसमें स्वहित की भावना तो होती ही है, साथ ही परहित की भावना भी होनी चाहिये ।

स्व-परहित से ओतप्रोत (भगवान महावीर के) अहिंसा सिद्धान्त में विश्व का तत्त्वज्ञान निहित है । सब्जी काटते समय महिलायें चाकू से अपनी अंगुली बचाकर कार्य करती हैं । यदि चाकू लग जाता है तो दुःख मनाती हैं, उसका उपचार करती हैं । जब इतने से चाकू की इतनी सी चोट से इतना कष्ट होता है, तब आप दूसरों को कष्ट देने की बात कैसे सोचते हैं ? दूसरों को किस अधिकार से कष्ट देते हैं ? जब छोटे से मच्छर के काटने पर खटमल के काटने पर, आप विचलित हो जाते हैं तो दूसरों की हिंसा की, हत्या की बात आपके मन में कैसे आती है ?

जब तक इस देश में अहिंसा के सिद्धान्त को सिखाने-पढ़ाने की व्यवस्था स्कूलों व कालेजों में नहीं की जावेगी तब तक इस देश में निरन्तर बढ़ती हुई हिंसा को कोई भी नहीं रोक सकता । आज देश में सर्वत्र आग लगाना, सरकारी भवनों की तोड़-फोड़ करना आम बात हो गई है । क्या यही हमारी आजादी का अर्थ है कि घर फूँक कर तमाशा देखें ? यह सब अपराध है, हिंसा है । जब तक हम कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा नहीं देंगे, कर्त्तव्य पालन नहीं करेंगे जब तक देश का दूषित वातावरण ठीक नहीं हो सकता । हमारे देशों में छोटे-छोटे बच्चों को अनुशासन की शिक्षा दी जाती है, पर भारत में इसका नितान्त अभाव है । यहाँ पर किसी प्रकार का अनुशासन नहीं है । यहाँ राह में चलते हुये डबेर-उधर कूड़ा फेंक देते हैं, जैसे हर व्यक्ति सड़क का मालिक है । सत्य यह है कि हम आजादी का अर्थ नहीं समझते । आप्त-मीमांसा में आचार्य ने लिखा है कि स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता से नहीं है । दूसरे को बाधा पहुँचाना स्वतंत्रता नहीं है । दूसरे को बाधा पहुँचाना, उसकी स्वतंत्रता में बाधक बनने का तात्पर्य है कि वह स्वतंत्रता की कीमत नहीं जानता है ।



हमारे देश को, हमको आजादी तो मिल गई, हमने काटो को तो उखाड़ दिया, पर अब केशर बोने के बजाय काटे बो रहे हैं, बबूल बो रहे हैं। गुलाब की पौध के स्थान पर विपवृक्ष बो रहे हैं, जो हमारे लिये अत्यन्त घातक है।

भारत भूमि में दयाभाव, आतिथ्यभाव सदैव से सबसे विद्यमान है। पर आज वह अभिव्यक्त नहीं है, लुप्त होता जा रहा है। उसे जगाने के लिये हमें वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देनी होगी। पहले अध्यापक बच्चों को पढाई के साथ-साथ सफाई से रहने की शिक्षा भी देते थे। पर आज केवल अक्षर ज्ञान कराना ही पर्याप्त मान लिया जाता है। केवल अक्षर ज्ञान होना, बड़ी-बड़ी डिग्रियां ले लेना ही पर्याप्त नहीं है। शिक्षा से विवेक की ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिये। ज्ञानवान व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होगा, गलत कार्य नहीं करेगा, क्योंकि ज्ञान सदैव दुःख को दूर करता है। वह ज्ञान किस काम का जो दुःख दूर नहीं कर सके? सच्चा ज्ञान वही है जो दुःखों को दूर करदे। विषम परिस्थितियों में सतप्त न हो, धैर्य न खोये, समता भाव रखे तो दुःख अनुभव ही न हो। आज बड़ी बड़ी डिग्रियां ले लेने पर भी विद्यार्थियों को ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उनका दुःख दूर नहीं होता तो वे बसों को आग लगा देते हैं, रेल की पटरियां उखाड़ते हैं और भी अनेक अनीतिपूर्ण कार्य करते हैं।

बड़ी-बड़ी डिग्रियों को प्राप्त कर मनुष्य को मनुष्य बन कर रहना चाहिये। मनुष्य ने उन्नति कर आकाश में पक्षी की भांति उड़ने के लिये हवाई जहाज बनाये, समुद्र में मगरमच्छ से भी तीव्रगति से चलने के लिये पनडुब्बियां बनाई, पर मनुष्य को मनुष्य बनकर सड़क पर चलना नहीं आया। बताइये, ऐसी वैज्ञानिक उन्नति का क्या लाभ है? विज्ञान, विशेष ज्ञान का नाम है, पर आज विज्ञान-अज्ञान रूप में परिवर्तित हो रहा है। विज्ञान वही है जो स्वयं के साथ पर का भी लाभ करे, विध्वंस नहीं। भगवान् आदिनाथ ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को सुधारले तो दुनिया सुधर जाये, और यदि दूसरों को सुधारने की कोशिश करें, स्वयं पहले न सुधरें तो सभी ठन-ठन रह जायेंगे, कोई भी नहीं सुधर पायेगा।

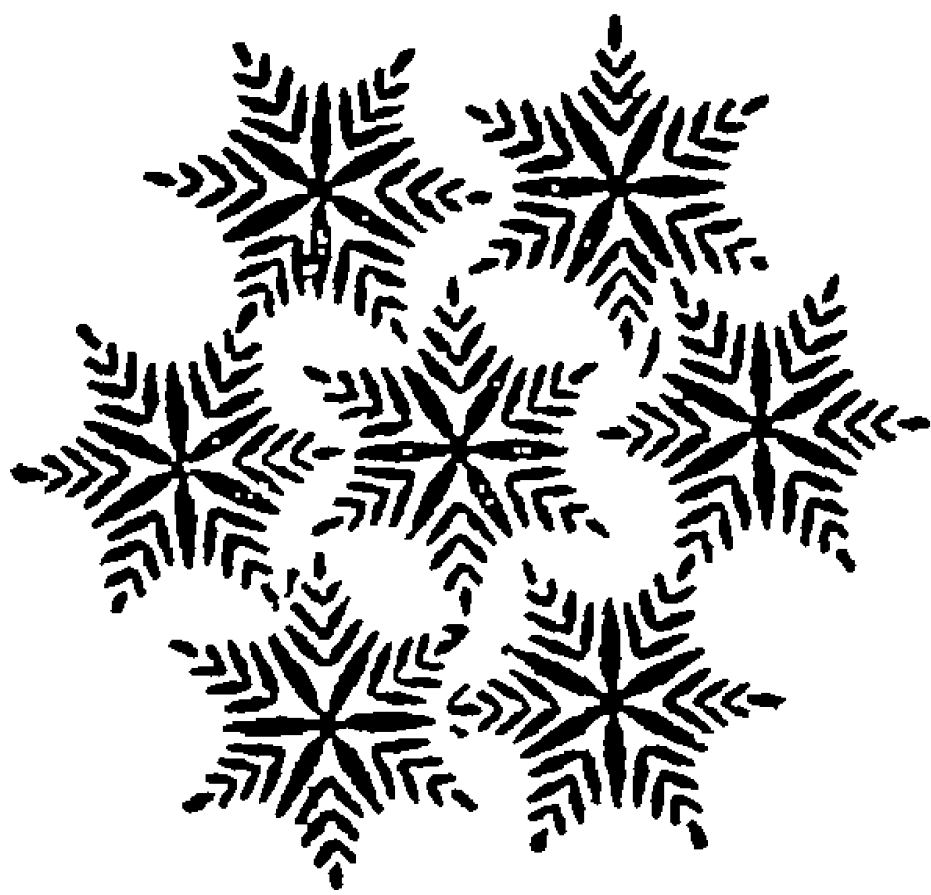
प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव, अहिंसक भाव के कारण—महावीर महावीर बने। महावीर की अहिंसा हमें निर्माण सिखाती है विध्वंस नहीं। इस सृष्टि में जितना उपकार पशु-पक्षियों ने मानव पर पर किया है उतना मानव—मानव पर नहीं कर सका है। मानव जाति ने इतनी मात्रा में किसी को जल पिला कर तृप्त नहीं किया होगा जितना गौवश ने मानव जाति को दूध पिला



कर पोषण दिया है । ऐसे परोपकारी मूक पशु-पक्षियों को मारने, आगजनी आदि से हिंसा फैलाना कहा तक शोभनीय है ।

सम्राट अशोक ने अहिंसा के प्रसार के लिये जगह-जगह शिलालेख लिखे हैं । दिल्ली-कोटला में अशोक का शिलालेख है कि मेरे राज्य में निर्ग्रन्थ मुनि व अन्य जो भी साधु इधर-उधर घूमें, विहार करें, मेरे मातृ, अमातृ और महामातृ सब ऐसी व्यवस्था करें कि उन्हें कोई बाधा अथवा कष्ट न हो । उसी महान् अहिंसक सम्राट का चक्र हमारे देश के ध्वज के बीच शोभायमान है ।

अतः हमें सबके प्रति दया, अहिंसा के भाव रखने चाहिये । उपकारक दृष्टि होनी चाहिये । पेड़ भी छाया, फल, फूल इत्यादि प्रदान करता है तो क्या मनुष्य पेड़ से भी गया बीता है ? नहीं, यदि प्रत्येक मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करे, स्व पर रक्षा के भाव रखे तो देश खुशहाल हो सकता है ।



# षट् लेश्या : जैन दर्शन में भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मन मे जैसे विचार होंगे, जैसे परिणाम होंगे, शरीर से वैसी ही आभा निकलती है । मन के भावों की श्रेणियाँ ही लेश्याये हैं । मन पर जब लेश्याये तैनात होती हैं, तब उस पर धर्म ही एक अकुश लगा सकता है । मन, कषाय और कर्म द्वारा आत्मा को विकृत कर लेता है । प्रत्येक आत्मा मे बीजरूप मे अहिंसक भाव विद्यमान है । बिना दया के धर्म का प्रारम्भ ही नहीं है । आन्दोलनों की तह मे देखिये—आप अपना कर्तव्य कितना निभाते हैं ?

तत्त्वार्थ—सूत्र मे जीव के पाच भाव बताये हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारणामिक । जैसे कार-चालक गियर बदलता है उसी प्रकार हमारा मन भी भाव रूप गियर बदलता है । कर्मों के उदय से आत्मा मे जो शुभ-अशुभ भाव उदय होते हैं वे औदयिक भाव हैं । जैसे हवा से जल मे तरंगे उठती हैं उसी प्रकार मन की चंचलता के कारण अनेक भाव उठते हैं, उदय होते हैं । ये औदयिक भाव ही सस्कार का कारण है । धवला, गोम्मट-सार ग्रंथो मे कहा गया है कि मन के तीव्र कषाय के द्वारा और कर्मों के द्वारा आत्मा अपने को विकृत कर लेता है, औदयिक भावों से लिप्त कर लेता है, वह ही लेश्या है । लेश्या के मुख्यतः द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या दो भेद हैं, तथा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भेद से लोक प्रमाण (अनन्त) भेद हैं । जैसे एक ही रंग मे हल्का, अधिक हल्का, गहरा, अधिक गहरा इस प्रकार अनेक भेद हैं उसी प्रकार मन के भावों के भी अनेक भेद हैं । समझाने की दृष्टि से आचार्यों ने लेश्याओं के ६ भेद बताये हैं—

(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या व (६) शुक्ल लेश्या ।

## कृष्ण लेश्या :

आर्त्तरीद्रः सदाक्रोधी मत्सरो धर्मवर्जित ।

निर्दयो बैर संयुक्तो कृष्ण लेश्यायुतो नरः ॥

कृष्ण अर्थात् काला । जिसके भाव काले हैं, जिसका मन काला है वह कृष्ण लेश्या वाली आत्मा है । यद्यपि किसी के मन को हम चर्म चक्षुओं के द्वारा नहीं देख सकते पर उसके भाव-भंगिमाओं, चेष्टाओं से उसके तीव्र-कषाययुक्त भावों का अनुमान कर जान लेते हैं, पहचान जाते हैं । जिस प्रकार यत्र से ब्लडप्रेसर की मात्रा का ज्ञान होता है, उसी प्रकार हमारे आचार्यों ने, जीव के आचार-व्यवहार से उसके मनोभावों का पता लगाया है । मन की परिस्थितियों को जानने के बाद हम अपने मन को टटोल सकते हैं कि हमारे भाव किस श्रेणी में, किस लेश्या में है । इससे आचार सुधारने में सहायता मिलती है ।

आचार्य बताते हैं कि कृष्ण लेश्या वाले का मन सदैव आर्त्तरीद्र ध्यान में रहता है, निःकृष्ट विचारों से युक्त होता है, सदा क्रोधी होता है ।

जहाँ भी जाये क्रोध ही करता रहता है । निर्दयी होता है, सदैव बदले की भावना के वशीभूत रहता है, धर्म विरोधी होता है । धर्म की बात समझ ही में नहीं आती है उसे । क्रोधी और निर्दयी होने के कारण कृष्ण लेश्या वाला जीव स्वयं का जीवन समाप्त कर लेता है और दूसरों का भी कर देता है ।

एक बार युद्ध के लिये तत्पर हिटलर के पास ब्रिटिश मंत्री चेम्बरलेन समझौते की बात करने पहुँचे और बोले कि अब और सहार करने पर क्यों उतारू हो रहे हो ? चलो समझौता कर लो । हिटलर समझौते के लिये तैयार नहीं हुआ । इससे निराश हुये चेम्बरलेन ने पूछा कि क्या तुम्हारे पास इतने भीषण नर सहार के वाद भी पर्याप्त तैयारी है ? इसके उत्तर में अपनी तैयारी, हुक्मत दिखाने के लिये हिटलर ने सकेत से अपने एक सेवक को बुलाया और कहा कि तुम्हें इसी क्षण तीन मजिल से कूदकर दिखाना है । सेवक ने तत्क्षण आज्ञा पालन की और प्राण दे दिये ।

अपने अह के कारण उसने एक सेवक को घास फूस की भाँति समझ

उसके प्राण हर लिये । अपनी मान कषाय की पूर्ति हेतु ऐसा अमगलाचरण किया । दो महायुद्धों में विश्व के १० करोड़ ३० लाख व्यक्ति मारे गये ।

दूसरी ओर भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा राजेन्द्रप्रसाद का उदाहरण है जिन्होंने जाड़े में ठिठुर कर सोते हुये अपने वृद्ध सेवक को, नींद में बाधा न हो तथा ठिठुर न जाये इस भावना से एक कीमती शाल ओढ़ा दिया । प्रातः जब सेवक उठा तो उसने अपने ऊपर कीमती शाल पड़ा देखा । इतना कीमती शाल देखकर उसे डर लगा कि इस बुढ़ापे में चोरी का दोष न लग जाय । इस भय से वह रोने लगा । उससे रोने का कारण पूछा गया । तब राजेन्द्रप्रसादजी ने रोते हुये उस वृद्ध सेवक को बताया कि शाल मैंने ओढ़ाया था, तुम डरो मत । तुम्हारी आत्मा और मेरी आत्मा समान है, मुझमें व तुझमें कोई अन्तर नहीं ।

कृष्ण लेश्या वाला इतना निर्दयी होता है कि अपने अहिंसक स्वभाव को भूलकर अपनी ही रक्षाकर दूसरों को घास-फूस की भाँति कुचल देता है । वह सदा वैर-भाव से युक्त रहता है, उपकार भी करता है तो वैर-भाव से ही, सदैव अपकार में ही तत्पर रहता है । यह लेश्या नरकादि का कारण है । वैर करने से पहले स्वयं के भाव बिगड़ते हैं । जैसे कोयले से किसी का मुँह काला करने से पूर्व स्वयं का हाथ काला होता है । वैर-भावी होने के कारण कृष्ण लेश्या वाला प्राणी दूसरे का बुरा कर सके या न कर सके पर स्वयं के भाव अवश्य बिगाड़ लेता है ।

## नील लेश्या :

आलस्यो मन्दबुद्धिश्च स्त्रीलुब्धश्च प्रवंचकः ।

कातरश्च सदा मानी नीललेश्यायुतो नरः ॥

नील लेश्या वाला प्राणी आलसी, मंद बुद्धिवाला होता है । मंद बुद्धि के कारण धर्म की बात तो दूर, कोई भी बात उसके समझ में नहीं आती । उसके सारे कार्य ससार-भ्रमण निमित्त ही होते हैं । मिथ्या दृष्टि होने के कारण वह अत्यन्त कायर होता है । सम्यग्दृष्टि जीव सप्तभयों से रहित होते हैं, पर यह मान कषायी होता है । अपने शैक्षणिक काल में हमने अपने सस्कृत अध्यापक से पूछा कि—अक्षर बड़ा होता है और बिंदी छोटी, तब भी यह बिंदी अक्षर के ऊपर चढ़कर बैठ जाती है क्यों ? उन्होंने बताया कि छोटा आदमी ऊपर बैठकर खूश होता है और बड़ा आदमी जहाँ भी बैठेगा

वहीं खुश रहेगा, उसे ऊँच-नीच का फरक नहीं पडता । नील लेश्या वाला प्राणी मान कषाय के कारण ही उपद्रव, फूट, बैर आदि उत्पन्न करता व कराता है । वर्तमान की सारी समस्याये मान कषाय के कारण हैं । मान कषाय के कारण ही हिंसादि होती है । इस लेश्या वाला यही सोचता रहता है कि—मैं ऐसा, मैं ऐसा, कहीं मेरे मान को ठेस न पहुँचे, इसकी सारी क्रियाये अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का पोषक होती हैं ।

तिब्बत में लामाओं के मठ में एक मठाधीश बैठे थे । एक घनाढ्य व्यक्ति एक परात में घन, हीरे-जवाहरात भेंट करने हेतु लाया । वही बैठे शिष्य ने मठाधीश को वह भेंट लेने से मना किया । मठाधीश ने लालच में आकर यह कहकर भेंट स्वीकार करली कि यह बहुत भक्तिपूर्वक लाया है, अतः इन्कार नहीं करना चाहिए । भेंटकर्ता के जाने के पश्चात् गुरु ने शिष्य से भेंट स्वीकार न करने का कारण पूछा । शिष्य ने कहा—गुरुवर ! जब यह व्यक्ति भेंट चढ़ा रहा था तब उसके शरीर के चारों ओर नीला रंग फैल रहा था, जिससे ज्ञात होता है कि यह व्यक्ति किसी स्वार्थ से, लोभ से वहाँ आया था । गुरु ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया । इस घटना के एक महिने पश्चात् वह व्यक्ति पुनः आया और मठाधीश से बोला—आप बहुत उदार हैं, आपके पास बहुत जमीन जायदाद है । मुझे यह सामने की जमीन चाहिये, कृपया दे दें । अनुनय-विनय करने पर मठाधीश ने जमीन दे दी । उसने वहाँ एक विशाल मंदिर बनवाकर खूब प्रभावना प्रारम्भ कर दी । धीरे-धीरे मंदिर की प्रसिद्धि बढ़ने लगी और मठ की प्रसिद्धि कम होने लगी । तब मठाधीश ने शिष्य से कहा कि—तुम ठीक कहते थे । वह व्यक्ति लोभ, स्वार्थ के वशीभूत वहाँ आया था और वह नीली आभा जो उसके शरीर के चारों ओर फैल रही थी वह लोभ-स्वार्थ का प्रतीक थी ।

मन में जैसे विचार होंगे, परिणाम होंगे, शरीर से वैसी ही आभा निकलती है । तभी तो तीर्थकर जिघर भी जाते हैं उनकी शुक्ल लेश्या के कारण बाह्य वातावरण भी अत्यन्त स्वच्छ व निर्मल हो जाता है ।

## कापोत लेश्या :

शोकाकुलः सदारुणः पर निन्दात्मशसकः ।

सग्रामे प्रार्थते मृत्युं कापोतोऽयमुदाहृतः ॥

इन लेश्या के प्रभाव से प्राणी सदैव शोकाकुल प्रकृति वाला, सदा नष्ट रहने वाला, परनिन्दक होता है । छोटी-छोटी बात पर रोना, शोक

निमग्न रहना, चाहे कितनी ही अनुकूलता क्यो न प्राप्त हो, फिर भी सदा रुष्ट रहना ही इसका स्वभाव होता है। इस लेश्या वाला प्राणी परनिन्दक, दूसरो के गुणो को अवगुण सिद्ध करता है, अपने अवगुणो को भी गुण बताता है, अपनी ही प्रशंसा करता है। लडाई-भगडे करना, औरो को भगडाने मे निमित्त बनना, इस लेश्या वाले प्राणी का स्वभाव होता है। जैसा कि असुर कुमारो का स्वभाव होता है।

उपर्युक्त तीनो लेश्याये अशुभ लेश्यायें हैं, चतुर्गति भ्रमण का कारण है। कुगति की ओर ले जाने वाली है। शेष तीन लेश्यायें शुभ लेश्याये हैं।

## पीत लेश्या :

**प्रबुद्ध. करुणायुक्त कार्याकार्यविचारकः ।**

**लाभालाभे सदाप्रीतः पीतलेश्यायुतो नर ॥**

इस लेश्या वाला मनुष्य सात्विक-वृत्ति वाला होता है, प्रबुद्ध, करुणायुक्त होता है। प्रत्येक बात तथ्य को सोच समझकर बुद्धि से ग्रहण करता है। यह करुणा से ओत-प्रोत होता है।

जीवन्धर राजकुमार—तद्भवमोक्षगामी, पूजा को जाते समय रास्ते मे घायल कुत्ते को देख कर ठहर जाते है, कुत्ते को गोद मे ले एमोकार मंत्र सुनाते है, कुत्ते को हेय प्राणी समझ दुत्कारते नही है।

पीत लेश्या वाला मनुष्य इतना करुणावान होता है कि प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने जलते हुये नाग-नागिनी को उनके जहरीले होने की परवाह न करते हुये भी एमोकार मंत्र सुनाया। कुत्ते व नाग-नागिनी मे महापुरुष अपने समान आत्मा जान उनके भव व भाव सुधारने मे निमित्त बने हैं।

इस लेश्या वाला प्राणी कार्य-अकार्य का विचार करके ही कार्य करता है। स्वयं के लाभ के साथ दूसरे के लाभ-अलाभ का भी वे ध्यान रखते हैं। तराजू की भांति स्व व पर दोनों के प्रति समान दृष्टिकोण रखते हैं। लाभ-अलाभ (हानि) मे मध्यस्थ भाव रखता है। इस लेश्या वाले प्राणी का समस्त प्राणियो मे वात्सल्य भाव रहता है। मिथ्या दृष्टि का तिरस्कार न कर उसे भी उपदेश देता है, क्योकि उपदेश की आवश्यकता तो उसे ही है।

जो कपड़ा मैला है उसे ही तो साबुन पानी से स्वच्छ करने की आवश्यकता है । स्वच्छ कपड़े को साबुन पानी की क्या आवश्यकता है ?

## पद्म लेश्या :

दयाशील सदा त्यागी देवतार्चनतत्परः ।

शुचिभूत सदानन्द. पद्मलेश्यायुतो नर ॥

पद्म लेश्या वाले मनुष्य का मन अत्यन्त कोमल, निर्मल, दयालु होता है । विना दया के धर्म का प्रारम्भ ही नहीं है । हमारी संस्कृति का आधार-स्तम्भ दया ही है । लौकिक साधारण व्यक्तियों में भी दया, आशिक रूप में ही मही, पर रहती अवश्य है । आध्यात्मिक प्राणियों में तो दया का उत्तरोत्तर रूप देखा जाता है, वे तो दया के सागर होते हैं ।

नाटक समयसार के रचयिता कविवर बनारसीदास रात्रि में सो रहे थे । घर में कुछ वोरिया, काली मिर्च से भरी रखी हुई थी । रात में कुछ चोर आये और वोरिया ले जाने लगे । कविवर जाग गये किन्तु बोले कुछ नहीं, चुपचाप देखते रहे । सारे चोर वोरिया लेकर चले गये, केवल एक चोर रह गया । उससे बोरी का बोझ उठाया नहीं जा रहा था । बनारसीदास उठे, महारा देकर बोरी चोर के कंधे पर रखवा दी और पुनः सो गये । अन्तिम चोर से उसकी माँ ने देर से आने का कारण पूछा तो चोर ने सब वृत्तान्त बता दिया । मवको आश्चर्य हुआ कि ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने स्वयं ही अपना माल चोर के हवाले कर दिया । पूछ-ताछ करने पर ज्ञात हुआ तो बहुत पश्चात्ताप हुआ कि इतने भज्जन पुरुष के घर क्यों चोरी की ? माँ ने आज्ञा दी कि बनारसीदास का सारा माल वापस करो ।

उसी प्रकार जो हाथी छाती पर पैर रखने जा रहा है—उस हाथी के प्रति भी दया कर कहना कि अरे गजराज ! तुम क्यों नहीं मुझ पर पैर रख देते हो ? क्यों मेरे लिये बार-बार अकुश खाकर भी इन्कार कर रहे हो । कितने दया युक्त विचार थे—पंडित टोडरमलजी के ।

टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है कि—मिथ्यादृष्टि जीवों पर उपकार करना ही उत्तम उपकार है । उनको सम्यक्ज्ञान का उपदेश देना चाहिये क्योंकि अशुद्ध को ही तो शुद्धत्व की ओर ले जाना है । जो स्वयं शुद्ध हो उन्हें शुद्धत्व की ओर ले जाने का क्या अर्थ है ।

जो आत्मा पद्म लेश्या वाला होगा वह दया का भंडार होगा, वह निर्दयी नहीं हो सकता है । दया सर्वोत्कृष्ट गुण है । यदि दया नहीं होती तो तीर्थंकर के समवशरण मे पशु-पक्षी, दीन-हीन सभी को समान स्थान कैसे प्राप्त हो सकता था ? दया नहीं होती तो उस शेर को जो भावी तीर्थंकर है, मुनिराज कैसे उपदेश देते ?

इस लेश्या वाला सदा त्यागी होता है । जैसे सस्कारी बालक दूसरे की वस्तु—अपनी नहीं है, अपने लिये त्याग्य है यह समझकर त्याग देता है । वैसे ही ज्ञानी पद्म लेश्या वाले प्राणी क्रोध, मान, माया व लोभ, इन औदयिक भावों को, अवगुणों को मेरे नहीं हैं ऐसा जानकर त्याग देता है । कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की गाथा ३५ मे त्याग को भली भाँति समझाया है ।

पद्मलेश्या वाला प्राणी भगवान की पूजन अर्चन-दर्शन मे पर्याप्त रुचि रखता है । देव-अर्चना मे तत्पर रहना आसन्न-भव्य का लक्षण है । यह सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया है । जो आत्मा-परमात्मा को, तत्त्वज्ञान को रुचि पूर्वक, श्रद्धापूर्वक मानता है सुनता है वह निश्चित रूप से आसन्न भव्य है ।

जो जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन-अर्चन विना अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करता है उसका जीवन सर्वथा व्यर्थ है कृष्ण, नील, कापोत व पीत लेश्या वाले जीव देव-अर्चना मे तत्पर नहीं होते हैं । पद्मलेश्या वाला जीव निश्चित रूप से देव-अर्चना मे तत्पर होगा ।

जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन हम स्वयं के चित्त की शुद्धि के लिये करते हैं । भगवान के दर्शन कर हम भगवान पर कोई उपकार नहीं करते, स्वयं का उपकार करते हैं ।

## शुक्ल लेश्या :

रागद्वेषविनिर्मुक्तो  
परात्मभावसम्पन्न

शोकनिद्राविवर्जितः ।  
शुक्ललेश्यायुतो नर ॥

शुक्ल लेश्या वाले प्राणी अन्तरंग मे स्वच्छता निर्मलता व सदानन्द-युक्त होते हैं अर्थात् सर्वत्र आनन्द का वातावरण फैलाने वाले होते हैं । तीर्थंकर बालक का जन्म होता है उस क्षण पशु पक्षी, नारकी जीवों को भी शान्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है । यह शुक्ल लेश्या के प्रभाव के कारण होता है । यह प्राणी (शुक्ल लेश्या वाला) रोग रहित होता है । राग सर्वाधिक खतरनाक है । इससे ही द्वेष उत्पन्न होता है ।



सीता ने स्वर्ण-मृग पर राग किया, जिसके कारण रावण से द्वेष उत्पन्न हुआ । सीता को स्वयं को वधन में बधना पड़ा, अत्यन्त कष्ट भोगने पड़े । आचार्य ने अष्टसहस्री में लिखा है कि राग और द्वेष मोह की सन्तान है जो ज्ञान मोह से रहित है वही मुक्ति का दाता है ।

शुक्ल लेश्या वाला प्राणी शोक रहित होता है । शुक्ल लेश्या के धनी तीर्थंकर जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे वह वृक्ष ही 'अशोक वृक्ष' कहलाने लगा अर्थात् 'शोक रहित वृक्ष' । इस लेश्या वाले प्राणी को निद्रा भी कम आती है । शुक्ल लेश्या में वीतराग भाव प्रधान रहता है ।

भारत के इतिहास में भरत व राम का त्याग अतुलनीय है । वनवासी राम के आग्रह पर भी भरत राज्य करने को तैयार न हुये, राम से खडाऊ मागकर उसको सिंहासन पर रखकर इस भावना से कि राज्य राम का है, इसलिये राम ही कर रहे हैं, खडाऊ सेवक की तरह कार्य किया । राम यह सोच रहे हैं कि राज्य भरत कर रहे हैं । इस प्रकार दोनों ही राज्य के राग में लिप्त हुये बिना ही अप्रत्यक्ष रूप से राज्य करते रहे ।

हमें भी प्रत्येक कार्य में आसक्ति को कम रखना चाहिये । अपने परिणामों को उज्ज्वल बनाना चाहिये । यदि हम किसी को जीवन दान न दे सकें तो किसी के प्राण हरने की चेष्टा तो नहीं करनी चाहिये । यदि किसी का उपकार न कर सकें तो कम से कम अपकार तो नहीं करना चाहिये ।

## कर्त्तव्य पालन ही धर्म है :

दया, प्यार व समताभाव रखना इसी का नाम सम्यग्दृष्टि है । सम्यग्दृष्टि धर्म से ओतप्रोत होता है । धर्म प्रत्येक आत्मा के साथ है । वह कहीं छोड़ा नहीं जाता । वह सदैव आत्मा में ही रहता है, हमें उसका पालन करना चाहिये । हम स्कूल-कालेज, आफिस जहाँ कहीं भी हों, वही हमें अपने धर्म का, कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये । आफिस में जाकर कार्य करने पर पूरे एक-एक मिनट का पैसा सरकार से वसूल किया जाता है । समय पर पैसा न मिलने पर आन्दोलन किये जाते हैं । पर क्या कभी यह सोचा भी है कि फिर ५-१० मिनट देर से पहुँचने पर उस समय का पैसा हम किस अधिकार से ले रहे हैं ? आन्दोलनों की तह में देखिये कि आप अपना कर्त्तव्य कितना निभाते हैं ?

कर्त्तव्य पालन से ही मानव महान् बनता है । राम ने कर्त्तव्य निभाया, सीता ने भी अपना कर्त्तव्य निभाया और महान् हो गये ।

धर्मपरायण महिला वही है जो विपत्ति के समय अपने परिवार पर आने वाले कष्टों में भी अपना कर्त्तव्य न छोड़े और दोनों घरानों को ऊँचा उठावे। बनवास में सीता ने राम से कहा कि विपत्तियों में मुझे आगे चलना चाहिये और सम्पन्नता में आपके पीछे। अभी मैं आगे रहकर मार्ग के काटों, ककरो को अपने पैरों से कुचलती चलूँगी। सीता ने अग्निपरीक्षादि सब कष्टों के लिये स्वयं को दोष दिया, राम को निर्दोष बता अपने कर्त्तव्य व धर्म में दृढ़ रही।

धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति विशेष की सम्पत्ति नहीं, प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। वादिवृषभ—आचार्य ने स्याद्वाद में लिखा है कि प्रत्येक आत्मा में अहिंसा विद्यमान है।

गांधीजी के गोली लगने व उससे मरने के समाचार को अमेरिका की आठ वर्षीया बालिका ने रेडियो पर सुना। उसने अपनी मा से पूछा—मा यह क्या हुआ? मा से पूर्ण तथ्य ज्ञात होने पर वह भोली बालिका बोल उठी—मा यदि मानव को गोली बनाना न आता, राइफल बनाना न आता तो कितना अच्छा होता? कहा से आये उसके मन में दया के भाव? आचार्य ने कहा है कि प्रत्येक आत्मा में बीजरूप में, मूल में, अहिंसक भाव विद्यमान है, वह आत्मा की सम्पत्ति है। उन्होंने कहा कि कोई प्राणी सर्वथा हिंसक नहीं है। कसाई भी आशिक अहिंसक है क्योंकि वह भी अपने पाले हुये कुत्ते को मारने नहीं देता। अपने बच्चों की सुरक्षा करता है, जहाँ वह भक्षक है—दूसरे रूप में वह रक्षक भी है, जहाँ रक्षक है वही दूसरे रूप में भक्षक भी है। आचार्य ने बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से इसका विवेचन किया है। शेर अपने बच्चे को दाँत से पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है, पर इससे उस बच्चे को जरा सा भी कष्ट नहीं होता, क्योंकि वहाँ उसके रक्षक के भाव हैं। अहिंसक होने के कारण शेर का नाम हिंस था पर बाद में व्याकरण-विपर्यय के कारण सिंह प्रचलित हो गया। जो दूसरे के प्रति हिंसक है वह भी अपने बच्चे—परिवार के प्रति अहिंसक है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा में अहिंसक भाव प्राकृतिक है। किसी ने उसे विकसित किया है—किसी ने नहीं। इसलिये हम सर्वथा किसी को हिंसक नहीं कह सकते, कथंचित् अहिंसक भाव उसमें सत्ता रूप में है, कथंचित् पूर्ण अहिंसा भी मौजूद है, पर उदय में थोड़े से भाव हैं।



# दर्शन-ज्ञान-चारित्र के योग से ही आत्म-कल्याण सम्भव....

ज्ञान और चारित्र दोनों एक दूसरे के बिना पगु है । ज्ञान के साथ जब तक क्रिया नहीं हो तब तक कोरा ज्ञान सार्थक नहीं है । आत्मा को जानने के लिये अनात्मा को जानना-समझना आवश्यक है । आत्मा के विचार, पर्याय नष्ट होते हैं विचारने वाली आत्मा कभी नष्ट नहीं होती ।

जैनाचार्यों ने एक महत्त्वपूर्ण बात सबके सामने रखी कि “मैं कौन हूँ ?” इसे पहचानना मुमुक्षुओं के लिये अत्यन्त आवश्यक है । भगवान् महावीर के समवशरण में गौतम गणधर ने जब प्रवेश किया तो उनके मन में अनेक शक्याँ थी, उनके समाधान हेतु उन्होंने भगवान् से पूछा—प्रभो ! कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा ज्ञानमय है, कुछ कहते हैं कि आत्मा नित्य है—शाश्वत है, कुछ कहते हैं कि यह नाशवान् है, कुछ कहते हैं कि इसका पुनर्जन्म होता है, मैं तो इनमें ही उलझ गया हूँ, सत्य क्या है ? मैं नहीं जानता । आत्मा के बारे में इस प्रकार गौतम ने भगवान् से ६० हजार प्रश्न पूछे (जिनका व्याख्या-प्रज्ञप्ति ग्रन्थ में वर्णन है, यह २ लाख २८ हजार श्लोक-प्रमाण ग्रन्थ है ।) भगवान् ने उत्तर दिया कि पर्याय नष्ट होती है, आत्मा नहीं । जैसे समुद्र की तरंगें नष्ट होती हैं, जल नहीं । उसी प्रकार आत्मा की पर्याय नष्ट होती है, आत्मा नहीं । आत्मा के विचार नष्ट होते हैं पर विचारने

वाली आत्मा नष्ट नहीं होती । नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार में इसका बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है । प० टोडरमलजी ने भी इसे बहुत ही सरल ढंग से समझाया है । उन्होंने बताया कि प्रकृति अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ती, इसके लिये उन्होंने तीन उदाहरण दिये हैं—(१) अग्नि स्वभाव को लें, अग्नि का स्वभाव उर्ध्वगामी है, दियासलाई की तीली को जला कर देखें, उसे कैसे ही जलाये उसका रुख किधर भी रखें, उसकी लौ ऊपर की ओर हो जायेगी । (२) जल का स्वभाव अधोगामी है, यह सदैव नीचे की ओर जाता है और (३) वायु का स्वभाव त्रिकगामी है, यह सदा टेढ़ा ही गमन करता है । यह इनका स्वभाव है यह स्वभाव से विमुख नहीं होते ।

जीव का अनादि से कर्म के साथ सम्बन्ध है, जैसे सोने व किट्टू-कालिमा का योग रहता है । जीव क्या है ? यह प्रश्न बार-बार उठता है, क्योंकि जीव दिखाई नहीं देता । इस सन्दर्भ में प० टोडरमलजी ने समझाया है कि आपको जीव दिखाई नहीं देता इसलिये आप उसे नहीं मानते । आपके शरीर को हवा स्पर्श कर रही है, क्या आप उस हवा को देख पा रहे हैं ? क्या वह हवा आपको दीखती है ? जब हवा आपको दिखाई नहीं देती तो फिर आप उसको कैसे मानते हैं ? आप उसका अनुभव करते हैं । यह ठण्डी हवा है, यह गरम है, तभी तो विश्वास करते हैं । जैनाचार्यों ने बताया है कि हवा का स्पर्श मतिज्ञान है, उस हवा से जो सुख-दुःख हो उसकी अनुभूति श्रुतज्ञान है । पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ही जान सकती हैं, दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं । मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के लिये मन का संयोग भी अत्यन्त आवश्यक है, इन्द्रिय व मन के बिना मतिज्ञान सम्भव नहीं है । कोई आपको आवाज देता है, आप दूसरे कार्य में लगे हुये हैं, अतः आपने आवाज तो सुनी पर आप उसे समझ न सके और इसलिये आप पुनः पूछते हैं कि—हाँ आप क्या कह रहे हैं ?

जिस प्रकार स्वर्ण खान से निकलता है तब कालिमा युक्त होता है । बिना निमित्त के वह कालिमा नहीं हट सकती । सोने को कालिमा से पृथक् करने के लिये उसमें उपादान शक्ति मौजूद है । हमें भी ज्ञान है, विश्वास है कि यह स्वर्ण है परन्तु फिर भी बिना निमित्त के वह शुद्ध नहीं हो सकता, उसके साथ निमित्त मिलाना होगा । इसी प्रकार आत्मा में अष्ट कर्मों के रूप में पुद्गल पिण्ड जुड़े हुये हैं, उनको व आत्मा को पृथक् करने के लिये शास्त्रों

मे लिखी हुई विधि के साथ उस क्रम के अनुसार ध्यान करना ही होगा । आत्मा के साथ अनादि से जो विभाव स्थिति आ रही है उसे हटाने के लिये आचार्यों ने अपने अनुभव से विधि बताई है ।

एक बीज है, उसे मिट्टी में डालने से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उस वृक्ष से फिर बीज की उत्पत्ति । किन्तु यदि उस बीज को भून दें तो बीज की उत्पादक शक्ति समाप्त हो जायेगी । इसी प्रकार जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिये क्रिया साधना करनी होगी, राग-द्वेष को भूलने होंगे । यदि कोई व्यक्ति पाक-शास्त्र की किताब लेकर बैठे और कहे कि अमुक खाद्य पदार्थ में इतना नमक, इतना मसाला, इतना घी आदि लगेगा, वस मैं जान गया और इतने पर ही बैठ जाये तो वह खाद्य पदार्थ तैयार नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के साथ जब तक क्रिया, प्रैक्टिकल नहीं होगा तब तक कोरा ज्ञान सार्थक नहीं है । इसलिये आचार्यों ने बताया है कि शास्त्रों में दी गई विधि के अनुसार क्रिया होने पर आत्म-कल्याण कर सकते हो । आत्म-कल्याण के लिये शुभ-अशुभ परिणामों को त्यागना होगा । शुभ परिणाम पुण्य बन्ध के कार्य हैं, अशुभ परिणाम पाप बन्ध के कार्य हैं और इन दोनों से परे शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण है । इन शुभ-अशुभ और शुद्ध में से जैनाचार्यों ने जैसे अशुभ को हेय माना है वैसे ही शुभ को भी हेय माना है । पर हेय कहने मात्र से कुछ नहीं होता, उसे समझने के साथ-साथ इन्हें पृथक् करने के लिये क्रिया भी करनी होगी । इसके लिये कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में बताया है कि जैसे रोशनी के ज्ञान के लिये अन्धेरे का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को जानने के लिये अनात्मा को जानना, समझना आवश्यक है ।

आत्मा चेतन है, अनात्मा अचेतन है, जड है । जड पदार्थ (अनात्मा) में पुद्गल प्रमुख कहते हैं यह एक पारिभाषिक शब्द है । इसके ६ भेद हैं— १ स्थूल-स्थूल, २ स्थूल, ३ स्थूल-सूक्ष्म, ४ सूक्ष्म-स्थूल, ५ सूक्ष्म, ६ सूक्ष्म-सूक्ष्म । द्रव्य सग्रह में कहा है —

सद्दो वधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतम छाया ।

उज्जोदादवसहिया पुगलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

### १. स्थूल-स्थूल .

इस श्रेणी में पत्थर, लकड़ी आदि पदार्थ आते हैं । इनको देख सकते हैं, इनको ले जा सकते हैं, तोड़ सकते हैं, जोड़ सकते हैं । परन्तु इनको जोड़ने

पर पुन प्राकृतिक रूप में नहीं आते, जोड़ने पर निशान अवश्य रहता है ।  
जिसको जोड़ने पर निशान बना रहे (जोड़ने का) वह स्थूल-स्थूल है ।

## २. स्थूल :

इस श्रेणी में पानी, तेल, घी आदि तरल पदार्थ व चादी, सोना, पीतल आदि धातुयें आती हैं । इन्हें देख सकते हैं, ले जा सकते हैं, तोड़ सकते हैं और जोड़ सकते हैं । पर इनके जुड़ने में जोड़ का निशान नहीं रहता । सोने को पिघलाकर पिण्ड बना लें, कहीं उसके जोड़ का निशान नहीं दीखेगा । जिसमें जोड़ने पर जोड़ का निशान नहीं रहे वह स्थूल है ।

## ३. स्थूल-सूक्ष्म :

जैसे छाया, धूप, अंधेरा आदि इन्हें हम देख सकते हैं, किन्तु न कहीं ले जा सकते, न जोड़ सकते, न तोड़ सकते, मुठ्ठी में पकड़ नहीं सकते । अतः दिखने पर भी जो पकड़ में न आ सके वह स्थूल-सूक्ष्म है ।

## ४. सूक्ष्म-स्थूल :

छाया आदि को हम देख सकते हैं पर शब्द को देख नहीं पाते कि कहाँ से आये किधर से आये । शब्द की गति, कम्पन देख नहीं सकते किन्तु कानों के द्वारा ग्रहण करने से, पकड़ने से शब्द सूक्ष्म-स्थूल है ।

## ५. सूक्ष्म :

आत्मा में जो कार्माण, वर्गणायें हैं, पाप पुण्य का पिण्ड हैं, उस पाप-पुण्य के फल को अनुभव तो कर सकते हैं पर उस पाप-पुण्य को देख नहीं सकते । अनुभव के आधार पर कहते हैं कि यह पापोदय का फल है, यह पुण्योदय का फल है । अतः पुण्य और पाप-पिण्ड सूक्ष्म हैं ।

मनुष्य में विवेक है, ज्ञान है, इसलिये मनुष्यभवं श्रेष्ठ है । पशु-पक्षियों में विवेक का अभाव है । आशाधर सूरि ने लिखा है कि मनुष्य मिथ्यात्व से असित है वह पशु के समान है और जिसमें विवेक है, सम्यग्दर्शन है वह पशु होते हुये भी मनुष्य से श्रेष्ठ है । पाप-पुण्य दिखाई नहीं देते ये आते कैसे हैं ? हम अपने मन के द्वारा उनका बध कर लेते हैं । जैसे फोटोग्राफर बटन दबा कर तस्वीर खींच लेता है, न वह आदमी इस कैमरे में घुसा है न कैमरा आदमी में घुसा है पर तस्वीर आ गई, उसी प्रकार हमारे शुभ-अशुभ विचारों

से पाप-पुण्य का आश्रव होता है—और तभी उसका वध होता है। पुण्य और पाप बैक-वैलेस जैसा है। बैटरी जैसा है, बैटरी जब तक चार्ज हुई है तब तक ही रोशनी है, डिस्चार्ज होने पर अंधेरा है। उसी प्रकार पुण्य प्राप्त कर लिया, उससे इन्द्रिय-जन्य मुख प्राप्त कर लिया और वह समाप्त हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप, जन्म और मरण चौरासी लाख योनियों में घूमने में काट दिये।

मनुष्य भव मिला है, उसके सदुपयोग के लिये इसकी कीमत को जाचना, जानना बहुत आवश्यक है, और यह धर्म के द्वारा ही सम्भव है।

पंचतन्त्र में कथा है कि एक महात्माजी जंगल में रहते थे, उनके पास एक चूहा रहता था, महात्माजी के चढ़ावे में आये चावल आदि सामग्री खा-खा कर मोटा हो गया। एक दिन एक विल्ली उस आश्रम में आ गई, चूहा उससे डर गया और महात्माजी के पास भागा और कहा—महात्मन्, मुझे विल्ली से डर लगता है, यदि आप मुझे भी विल्ली बनादे तो अत्यन्त कृपा हो। महात्मा ने दया कर अपने कमण्डलु का पानी छिड़का वह तत्काल विल्ली में परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार फिर एक दिन कुत्ते को देखकर उमने कुत्ता बनने की प्रार्थना की और कुत्ते में परिवर्तित हो गया। कुछ दिन पश्चात् फिर शेर को देखकर उमसे डर कर शेर बनना चाहा, महात्माजी ने उमसे शेर बना दिया। शेर बनते ही उमने महात्माजी पर ही आक्रमण करना चाहा, महात्माजी ने तुरन्त पानी छिड़क उसे पुन मूषक (चूहा) बना दिया। तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार चौरासी लाख योनियों में घूमते हुये बड़ी पुण्य प्रकृति में मनुष्य भव प्राप्त हुआ है, शराव आदि व्यसनो से इसका दुरुपयोग करेंगे, तो पुन चौरासी लाख योनियों में भटकना होगा।

मनुष्य भव श्रेष्ठ है क्योंकि यह विवेक सहित है। यदि विवेक को खो दिया तो जन्म-मरण के चक्र में पिसते रहना होगा। इसलिये परम विवेकी होना आवश्यक है, जो ज्ञान से ही सम्भव है। विवेक से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य की प्राप्ति होती है। ये तीनों भिन्न नहीं हैं, युगपत् हैं। यदि ज्ञान है और चारित्र्य नहीं है अथवा चारित्र्य है और ज्ञान नहीं है तो दोनों एक दूसरे के बिना पगु हैं। राजवार्तिक में कहा है कि क्रिया शून्य ज्ञान लकड़ी की तलवार की भाँति है जो डरा तो सकती है पर कर कुछ नहीं सकती। इसी प्रकार सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ क्रिया



आवश्यक है। ज्ञान रहित क्रिया और क्रिया रहित ज्ञान दोनों ही पगु हैं। दोनों को संयुक्त करने के बाद ही इष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं अन्यथा नहीं। जिस प्रकार पगु व अघा दोनों अपने आप को जंगल की आग से बचाने में असमर्थ हैं, परन्तु दोनों के सहयोग से वे बच सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान व चारित्र्य से ही मुक्तिपुरी में पहुँच सकते हैं। यदि कोई एकान्त लेकर बैठेगा तो लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता।

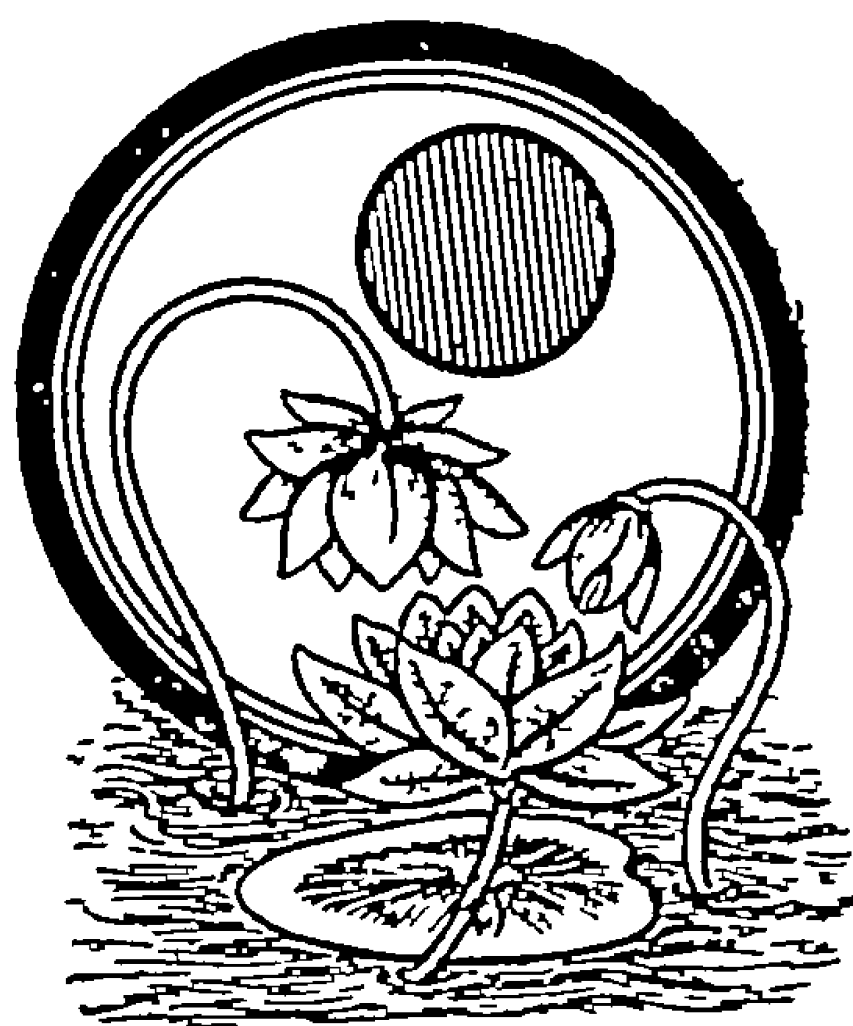
जीव तत्त्व चेतना लक्षण-युक्त है। जिसमें चेतना, ज्ञान, दर्शन है वह जीव है। दर्शन निराकार है ज्ञान साकार है। छद्मस्थ जीव में पहले दर्शन होता है और उसके पीछे ज्ञान। चेतना जीव का प्रमुख लक्षण है और देखना जानना उपलक्षण। सर्वज्ञ के देखने व जानने में कोई क्रम नहीं है, वह युगपत् जानता है। कोई वस्तु निर्मल-स्वच्छ है तो उसके सामने रखी हुई वस्तुएँ स्पष्ट झलकेंगी, जैसे एक दर्पण में झलकती है। इसी प्रकार एक धीतराग, सर्वज्ञ प्रभु के निर्मल ज्ञान में ससार की समस्त वस्तुएँ झलकती हैं। दर्पण पर लगे लाल रंग को घिस देने से उसके आर-पार दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार हमारी आत्मा में राग-द्वेष के रंग लगे हुये हैं, उन्हें तपस्या आदि से हटा देने पर आर-पार दिखाई देने लगता है, यह सर्वज्ञता है। सर्वज्ञ भगवान् द्वारा वस्तुओं का देखना-जानना प्रवृत्ति-युक्त नहीं है, वह सहज स्वाभाविक है। जबकि हम छद्मस्थों का प्रत्येक ज्ञान प्रवृत्ति-युक्त है, राग-युक्त है। इसलिये महानुभावों से इतना ही कहना है कि अपनी आत्मा के बारे में सोचें-समझें, क्योंकि यह अत्यन्त कीमती है। जब इस शरीर में से आत्मा निकल जाती है तब शरीर की कोई कीमत नहीं रहती। इस शरीर की, हड्डी के ढाँचे की कीमत तभी तक है जब तक इसमें आत्मा विराजमान है। उस आत्मा को तो हम भूल गये हैं और शरीर का श्रृंगार करने लगे, उसकी सेवा में अपना जीवन बिताने लगे। जिस आत्मा के कारण शरीर की इज्जत है उसके तो गीत नहीं गाते उस शरीर का ही गीत गाते हैं। अतः हमें श्रुतज्ञान के द्वारा, शास्त्र के द्वारा आत्मा के बारे में जानना चाहिये। प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। आत्मा ही शाश्वत है, ध्रुव है, अचल है। सिद्ध आत्मा के प्रदेश अचल हैं और सासारिक आत्मा के चलचल हैं, क्योंकि सासारिक आत्मा के आश्रय-बध निरन्तर चलते रहते हैं। सिद्ध अनुपम है, उनके लिये कोई उपमा नहीं दे सकते, वे वचनातीत हैं अर्थात् वचन की सीमा में बधने वाला नहीं है। वचन की शक्ति सीमित है। आत्मा तो अनुभवगम्य है। सत्य को हम



पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते । अभिव्यक्त सत्य अपूर्ण रहेगा, क्योंकि वचन अधूरे हैं ।

अतः मेरा यही कहना है कि मनुष्य भव मिला है, उसका सदुपयोग कर आत्मा को पहचानो । आत्म-ज्ञान के बाद मुक्ति अपने हाथ में है—

पर को अपना मान बैठा,  
निज को पहचाना नहीं ।  
भूल हैं यह आपकी जो,  
आपको जाना नहीं ॥  
आपको जाने बिना,  
परमात्म पद पाना नहीं ।  
परमात्म पद पाकर के फिर,  
ससार में आना नहीं ॥



## अंतरंग त्याग चिनगारी समान है ।

शान्ति, त्याग मे मिलती है । महावीर ने देना सिखाया है, मागना नहीं । जो त्यागते गये वे पूज्य होते गये, जो जोड़ते गये वे डूबते गये । इष्ट को ग्रहण कर अनिष्ट को त्यागना ही विवेक है । ..पढा हुआ ज्ञान जब आत्मसात किया हुआ हो तभी अपना है, अन्यथा ग्रन्थ का है ।

सभी आचार्यों, शास्त्रकारों के अनुसार मनुष्य-भव ही अत्यन्त मूल्यवान है । अतीत की ओर, कल्पवृक्ष युग मे, पापाण युग मे, कृषि युग मे भाके तो सदैव से ही मनुष्य व पशु पक्षी के जीवन मे अन्तर पाते हैं और वह अन्तर केवल विवेक के कारण है । मनुष्य कल्पवृक्षों के आधार पर जीवन-यापन करता था, अपने मे क्रमश परिवर्तन करते हुये आज वह वैज्ञानिक युग मे पहुच गया । मनुष्य ने अपने लिये अनेक भौतिक साधनों, सुविधाओं को एकत्रित किया और आज भी करता जा रहा है । परन्तु पशु-पक्षियों ने अपने लिये कोई प्रसाधनों का, भौतिक साधनों का निर्माण नहीं किया । मनुष्य विकसित प्राणी है, बुद्धिजीवी है । इस बुद्धि का वह सदुपयोग भी करता है और दुरुपयोग भी ।

जैन शास्त्रों के अनुसार सृष्टि मे कोई वस्तु सर्वथा हेय या उपादेय नहीं है । उसके उपयोग पर हेय-उपादेय भाव आधारित है । जैसे अग्नि है— वह अच्छी है या बुरी है, दीपक अच्छा है अथवा बुरा है ? जब दीपक, अध्ययन मे सहायक हो तो उपादेय है और यदि उससे आग लग जाये तो वह हेय है, हानिकारक है । इसी प्रकार शब्द है, शब्द स्वयं मे न अच्छा है न बुरा है । जिनेन्द्र के, देवता के गुण गान करते हैं, किसी का सम्मान करते हैं, किसी को सन्मार्ग दिखाने हेतु कुछ कहते हैं तब शब्द उपादेय है—

और यदि किसी को गाली दे तो हेय है। यद्यपि शब्द पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, पर उनके पीछे एक चेतना कार्य कर रही है, चेतना के पीछे भाव निहित है, उनका ही मूल्य है। जिस प्रकार 'शब्द' भावों को पहचानने, उन्हें एक दूसरे तक पहुँचाने का साधन है। किसी को 'रावण' कह देने पर वह भगडा करता है और, 'राम' कहने पर खुश हो जाता है, दोनों ही शब्द हैं पर इनमें निहित भाव भिन्न थे इसलिये वह कभी खुश होता है, या कभी भगडा करने पर उतारू हो जाता है। शब्द का अच्छा बुरा होना उपयोग करने वाले पर निर्भर करता है। यह स्वयं में निर्दोष है। यह उपकारक भी है तो अपकारक भी है। पत्थर को लें, खान से पत्थर निकाल कर चक्की बना लेते हैं। तो उससे आटा पीसकर खाते हैं, उसी पत्थर की आराध्यदेव की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करते हैं, आराधना करते हैं, उसी पत्थर से किसी का सिर फोड़ देते हैं। इस प्रकार एक ही पत्थर के अनेक प्रकार से उपयोग किये जा सकते हैं। इसलिये जैनाचार्यों ने बताया कि 'वस्तु स्वयं में न बुरी है न भली है।' इसलिये उन्होंने 'वस्तु स्वभावो धम्मो' कहा है।

मनुष्य विवेकी है। यदि कोई छोटा बच्चा किसी जानवर को सताता है, पत्थर मारता है तो उस अल्पज्ञानी बच्चे को उसके शिक्षित माता पिता समझाते हैं, ऐसा करने के लिये मना करते हैं। पर यदि एक शिक्षित व्यक्ति ही गालियाँ देने लगे, मारपीट करने लगे तो एक अज्ञानी व शिक्षित में क्या अन्तर रह जायेगा। आज अग्नि का प्रयोग सार्वजनिक-सरकारी सम्पत्तियों को जलाने में किया जा रहा है। सर्वत्र तोड़-फोड़ आग लगाने में तत्पर छात्र यदि अपने अज्ञान को आग लगा दें तो वे ज्ञानी बन जायें। पर वह अपने अज्ञान को आग नहीं लगाता, ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले विद्यालयों को आग लगाता है।

ससार में ज्ञान का मूल्य है। ज्ञान मानव के लिये ग्रहणीय है। जैसे खाना खाने पर उसको पचाकर जो रक्त बना वह ही अपना है, इसका कोई मूल्य नहीं कि कितना किलो खाया, मूल्य इसका है कि उस खाये हुए को कितना पचा पाये, कितना रक्त बना पाये। इसी प्रकार कितने शास्त्र पढ़े इसका कोई मूल्य नहीं है, मूल्य इसका है कि इसमें निहित तत्त्वज्ञान को कितना हृदयगम किया। पढ़ा हुआ ज्ञान आत्मसात् किया हुआ है, तभी अपना है—अन्यथा ग्रन्थ का है।

**तप-त्याग :**

प० टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के अष्टम अध्याय

मे कहा है कि “बाह्य सयम साधन विना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते हैं ।” बहिरंग मे सयम किये विना, बाह्य त्याग के विना, परिणाम शुद्ध नहीं हो सकते । हम, भोजन मे ककर निकलने पर उस ककर को तत्काल त्याग देते हैं, उसे खाते नहीं हैं क्योंकि वह हमारे लिए इष्ट नहीं है । इष्ट को ग्रहण कर अनिष्ट को त्यागना ही विवेक है । बाह्य विषय-भोग सामग्री शुद्धता के लिये अनिष्ट है, जब तक इनका त्याग नहीं होगा शुद्धि कैसे होगी ?

श्रेष्ठी-पुत्र ‘सुकुमाल’ अत्यन्त कोमल थे । कमल पुष्पो मे सारी रात भीगे हुए चावल प्रात भली प्रकार पकाये जाने पर ही वे खा सकते थे । चन्द्रमा की शीतल मन्द रोशनी से भी उनकी आखो मे पानी आने लगता था, अतः केवल रत्न-दीप (रत्नों के प्रकाश) मे ही रहते थे । यदि उनके स्वयं के सिर का एक बाल भी विस्तर पर गिर जाये तो उस विस्तर पर सो नहीं सकते थे । ऐसे ‘सुकुमाल’ ने भी बाह्य सासारिक वैभव त्याग, सन्यास धारण किया, कोई उन्हें रोक नहीं सका ।

जो त्याग भावना से त्याग करे उसके त्याग को रोकने वाला या बुरा बताने वाला कौन हो सकता है ? त्याग को बुरा बताने वाला जीव अज्ञानी है, अभव्य जीव है । दुनिया मे त्याग ही सबसे बड़ी चीज है । यदि वृक्ष फलो का त्याग करना बन्द करदे तो दुनिया की स्थिति क्या होगी ? यदि नदी अपने प्रवाह मे से जल देना छोड दे, यदि बादल पानी त्यागना (वर्षा) बन्द कर दे तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि हो जाये । जैनाचार्यों ने त्याग का अत्यन्त महत्व बताया है । भगवान आदिनाथ से अब तक जैन धर्म ‘त्याग’ के आधार से ही टिका हुआ है । ‘त्याग’ ही धर्म की आधारशिला है । इसी से प्रभावित होकर एक राजपूत ससद सदस्य ने कहा कि ‘त्याग’ जैनो का है, महावीर ने देना सिखाया है मागना नहीं ।

विना ‘त्याग’ के जीवन व्यर्थ है, निरर्थक है, शून्य है । भारत मे सदैव ‘त्याग’ की ही पूजा हुई है । राम ने ‘त्याग’ किया इसलिये उनको पूजा गया । सम्मान किया गया । जो त्यागते गये वे पूज्य होते गये, जो जोडते गये वे डूबते गये ।

अन्तरंग-बहिरंग तप ‘त्याग’ पर ही आधारित है । बालगंगाधर तिलक ने गीता की प्रस्तावना मे लिखा है कि—भारत मे जैन धर्म चिरस्थायी है तो त्याग के कारण, उनका त्याग चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है । त्याग

मनुष्य जीवन को उन्नतिशील बनाता है। छोटा सा त्याग भी महत्वपूर्ण है। जिस गाय को हम घास-फूस खिलाते हैं, वह हमें दूध देती है, अमृत देती है।

ससार में त्याग से ही धर्म चल रहा है। बिना त्याग के धर्म चल नहीं सकता। जिन धर्मों में त्याग को महत्व नहीं दिया, वे धर्म काल-कवलित हो गये। देश में, ससार में, राजनीति में सब में त्याग की आवश्यकता है। बिना त्याग के जगत् व्यवहार चल ही नहीं सकता। उपामना के लिए मन्दिर बनाये गये। श्रेष्ठियों ने अपने धन का त्याग किया तभी मन्दिर बन सके।

फिरोजाबाद के स्व० सेठ छिदामीलालजी से एक आयकर अधिकारी ने पूछा—सेठजी! इतना पैसा इस मन्दिर में लगाया इसके बदले एक और नई फैक्ट्री क्यों नहीं लगाई? सेठ सा० ने उत्तर दिया—एक फैक्ट्री लगाता तो मुर्दावाद के नारे लगते, मन्दिर बनाया तो सब धन्य-धन्य कहते हैं। और फिर मैं कौन मन्दिर बनाने वाला। मैंने तो इस फैक्ट्री के मजदूरों से प्राप्त पैसा मन्दिर बनाने वाले शिल्पियों, मजदूरों में वितरित कर दिया। मैं तो केवल इधर से पैसा लेकर उधर वितरित करने वाला ही रहा।

त्याग के कारण ही अनेक बुद्धिजीवियों, इतिहासकारों ने जैन धर्म की प्रशंसा की है। इतिहासकार श्री पी सी राय चौधरी ने अपनी पुस्तक “जैनिज्म इन बिहार” में जैनो को त्याग के कारण महान् बताया है। श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने जैनो के त्याग की महिमा बतायी है। विश्व ख्याति प्राप्त साहित्यकार राहुल सास्त्रकृत्यायन ने अपने एक निबन्ध में बताया है कि—महावीर ने सब कुछ त्याग दिया, वे निर्वाचरूप से घूमते रहे, घुमक्कड़ों, के राजा थे। उन्होंने सब कुछ त्याग केवल ‘करतल भिक्षा, तरुतलवास और दिक-अम्बर’ अपनाया।

हमने, स्वयं, ने अपने त्याग की महिमा नहीं जानी। सज्जनों! त्याग धर्म को कभी न भूलिये। मन की भावना से त्याग कीजिये। मजदूरी से त्याग करना, त्याग नहीं है। डाक्टर ने मधुमेह के रोग के कारण शक्कर का त्याग करा दिया, यह त्याग नहीं है।

धर्म में बताये गये व्रत-उपवास-त्याग के पीछे मनोविज्ञान है। मेरठ विश्वविद्यालय के उपकुलपति आर० के० सिंह देहरादून में थे। वहाँ अध्यापक सम्मेलन हो रहा था। सम्मेलन में तीन जैन अध्यापक भी थे। वे रात्रि-भोजन के त्यागी थे। उन्होंने रात में खाना नहीं खाया। ऐसा देख एक अध्यापक

ने कहा—क्या तुम भी इतने पढ़े लिखे होने पर भी इन बातों को मानते हो ? इत्यादि बातें कहकर उन तीनों का उपहास करने लगा । तब सिंह साहब ने कहा—तुम त्याग करने वालों का उपहास कर रहे हो, तुम स्वयं एक समय के लिए ही त्याग करके दिखाओ । स्वयं त्याग कर नहीं सकते हो और त्याग करने वालों का उपहास करते हो ।

दृढता से कठोरता से किया गया त्याग महान् है । महात्मा गांधी ब्रिटेन में वहाँ के अधिकारियों से मिलने गये, वहाँ का नियम था कि बिना सूट पहने हुये कोई भी व्यक्ति चैम्बर में प्रवेश नहीं पा सकता । गांधीजी थे धोती-लंगोटीधारी । उनको यह नियम बताया गया, उन्होंने सूट पहनने से इनकार कर दिया, और कहा वार्ता करनी है तो कीजिये अन्यथा मैं चला । गांधीजी की दृढता देख उन लोगों ने अपने नियम बदल दिये और वार्ता की ।

सत्य यह है कि हमें स्वयं के त्याग पर विश्वास नहीं है । त्याग कही, किसी भी स्थान पर बाधक नहीं बनता । हम डाक्टर, दाढ़ीवाला है या साड़ी वाली है यह नहीं देखते, केवल यह देखते हैं कि वह रोग ठीक कर सकता है । आज सारी दुनिया शांति की तलाश में है । शान्ति कहा मिलती है यह देखना चाहिये । शान्ति 'त्याग' में मिलती है ।

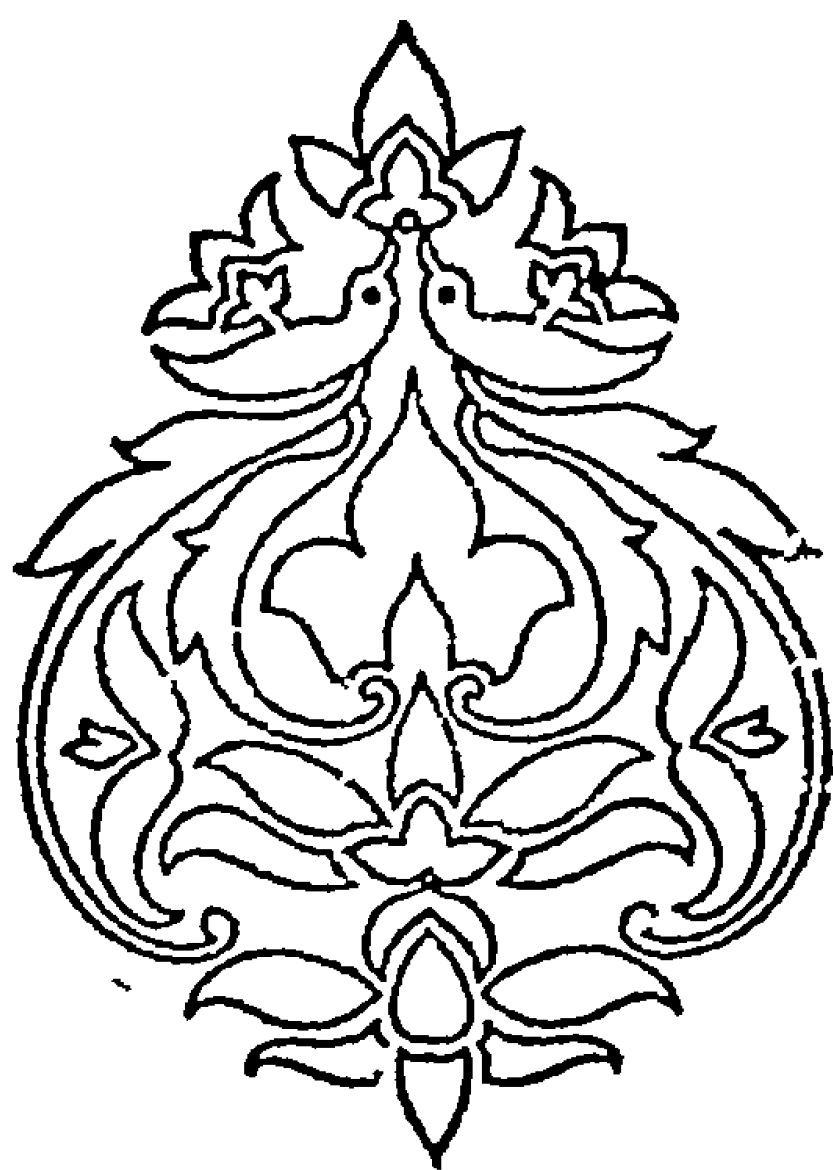
गांधीजी ने जैनो के रात्रि-भोजन त्याग से प्रभावित होकर स्वयं ने भी रात्रि-भोजन का त्याग किया । इस विषय पर उन्होंने १०० पृष्ठ की एक पुस्तक भी लिखी, जिसमें रात्रि भोजन त्याग की महिमा व परिणाम भी बताये हैं ।

आज विश्व में अनछाने पानी पीने से प्रति वर्ष ५० लाख प्राणी मरते हैं—यूनेस्को की एक रिपोर्ट से ज्ञात हुआ है । इस पानी में अनेक रोगों के कीटाणु रहते हैं जिनके कारण पानी विषाक्त हो जाता है । आज जैन कुलों में जन्मे हुये लोग रात्रि-भोजन त्याग, छाना पानी पीने आदि को धार्मिक रीति समझ, हेय समझ, हँसी उड़ाते हैं ।

नन्दीमित्र नामक एक व्यक्ति ने मुफ्त में भरपेट भोजन पाने के लोभ में (मुनिराज को देख) मुनिवेश ग्रहण कर, केवल ४७ मिनट के लिये सल्लेखना धारण कर मृत्यु प्राप्त की तो अगले जन्म में सम्राट चन्द्रगुप्त बन कर भारत पर एकच्छत्र राज्य किया । गोम्मटसार कर्मकांड में लिखा है कि जघन्य से जघन्य ४७ मिनट की सल्लेखना धारण करने पर सद्गति प्राप्त होती है और १२ वर्ष पूर्व सल्लेखना का नियम ले क्रम से चलता है

उसे निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त होता है । मरते समय नन्दीमित्र के भाव शुद्ध थे तो उसको सद्गति प्राप्त हुई । इसलिये महानुभावो सत्सग, धर्म का श्रवण, अन्तरंग से त्याग, चाहे छोटा सा ही त्याग हो, वही महान् है । अग्नि की छोटी सी चिनगारी भी रूई के ढेर में आग लगाने में समर्थ है । अन्तरंग से किया गया छोटा सा त्याग भी कर्मों के ढेर में आग लगा उसे समाप्त करने में समर्थ है ।

प० टोडरमलजी ने तो अपने प्राणों को उत्सर्ग भी कर दिया था । पंडितजी ने आगे छठे अध्याय में लिखा है कि तातें बाह्य त्याग किये ही अन्तरंग त्याग संभव है । अतः हे सज्जनो ! मिथ्या बातें न कर विवेक के साथ अपने जीवन में थोड़ा सा त्याग अवश्य करें, उद्धार निश्चित है ।



# अहिंसा, सत्य, संयम और तप ही धर्म है ।

दृष्टान्त बदल सकते हैं, समझाने की शैली बदल सकती है पर मूल-सिद्धान्त नहीं बदलते हैं, तत्त्व वही रहता है । अहिंसा निश्चय से आत्मा में है । संयम जीवन का ब्रेक है । संयमी आत्मा की इन्द्रियाँ उसके नियन्त्रण में रहती हैं, असंयमी आत्मा अपनी इन्द्रियों का गुलाम रहता है । असंयम हमें पतन की ओर ढकेलता है । ज्ञान के लिये तप आवश्यक है, तप-त्याग का प्रारम्भ ज्ञान से है । बिना ज्ञान के तप-त्याग करना त्याग नहीं है । आपसे त्याग नहीं बनता तो त्यागी की निन्दा तो मत कीजिये ।

गौतम गणधर ने भगवान् की वाणी सुनकर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक व आत्म साक्षात्कार के आधार पर 'प्रतिक्रमण ग्रन्थ' की रचना की । भगवान् की वाणी को लिपिवद्ध किया । सदैव से इस देश की एक अद्भुत परम्परा रही है कि धर्म के अन्वेषक क्षत्रिय रहे, व उसके प्रसारक ब्राह्मण रहे । अधिक आगे न जाकर, भगवान् महावीर के काल को लें, उस काल में महावीर के ग्यारह शिष्य थे । सभी ब्राह्मण थे, गौतम उनमें प्रधान थे । गौतम बुद्ध भी क्षत्रिय थे और उनका शिष्य धर्म प्रचारक आनन्द ब्राह्मण था । छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि आध्यात्म विद्या क्षत्रियों की देन है और उसके प्रसारक ब्राह्मण हैं ।



गौतम गणधर ने महावीर से पूछा—भगवान् मैं धर्म का लक्षण जानना चाहता हूँ इसके उत्तर में महावीर ने जो कुछ बताया उसको गौतम ने 'प्रतिक्रमण' ग्रन्थ में लिपिवद्ध किया। 'प्रतिक्रमण' प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसके पश्चात् ही अन्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। शब्द वही है, भाषा वही है, परिभाषा वही है, केवल समझाने की शैली बदलती रही है और आज भी बदलती होगी। दृष्टान्त बदल सकते हैं पर मूल सिद्धान्त नहीं बदल सकते हैं। समझाने की शैली बदल जाती है, पर तत्त्व वही रहता है। जैसे अग्नि अपना स्वभाव नहीं छोड़ती है। काल, परिस्थितियों के अनुसार भाषा, वेशभूषा कानून, रहन-सहन बदल सकते हैं, पर धर्म नहीं बदल सकता, वह शाश्वत है। बहिरंग वस्तु बदल सकती है पर धर्म नहीं बदल सकता। यशस्तिलक चपू में स्वयंभू सूरि ने लिखा है—पुरुष अपनी वेशभूषा छोड़ दे, रहन-सहन परिवर्तन कर लें तब भी धर्म नहीं बदल सकता। पर यदि अरिहत्तदेव के प्रति मन से श्रद्धा खत्म हो जायेगी, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक समाप्त हो जायेगा, तब धर्म परिवर्तित हो जायेगा।

धर्म परम मंगल है। कौनसा धर्म? अहिंसा धर्म, सयम धर्म व तप धर्म। जिसका मन धर्म में तल्लीन है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

## अहिंसा .

अहिंसा अनुसन्धान का विषय है। जैनाचार्यों ने अपने अनुभव के साथ इसका बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। स्वयंभू स्तोत्र में कहा है कि किसी साधु की परमाणु प्रमाण भी हिंसा के लिये अनुमोदना है तो वह साधु नहीं है। सर्वोत्कृष्ट साधु वही है जो परमाणु मात्र हिंसा को भी अपने जीवन में न प्रश्रय दे और न अनुमोदन करे।

## भाव अहिंसा :

इसका अर्थ है बहिरंग क्रिया तो दूर मन में भी हिंसा के भाव ही उत्पन्न नहीं हो। भगवती आराधना में कहा है कि अहिंसा कहाँ है? उत्तर में कहा है कि—निश्चय से आत्मा में है। एक शस्त्रागार है, जहाँ नाना प्रकार के शस्त्र रखे हैं, किन्तु वे शस्त्र निकम्मे हैं, निर्जीव हैं जब तक कि किसी मानव मन में उनके उपयोग की भावना नहीं आती है। जैसे बटन दवाने पर ही रोशनी होती है उस प्रकार मानव-मन में हिंसा के भाव उत्पन्न

होने पर ही वह क्रिया रूप होती है । जब मन मजूर करता है तभी हिंसा की क्रिया चालू होती है ।

अहिंसा से ही गांधीजी ने इस देश को स्वतन्त्रता दिलाई । यद्यपि आधुनिक लोग अहिंसा को नहीं समझ पाते और आलोचना करते हैं । गृहस्थी व शासक के लिये गृह शासन व देश के शासन करते समय अहिंसा बाधक नहीं होती । गृह स्वामी व शासक का अपने सदस्य व प्रजा का पालन करना, उनकी रक्षा करना धर्म है । परन्तु वे साथ में दया सागर भी होते हैं । व्यर्थ में हिंसात्मक कार्य, हत्याये, युद्ध नहीं करते ।

आज हमारे देश की सरकार ने साइबेरिया से आये 'गोडावण' पक्षी के शिकार के लिये अरब शहजादा वदर को अनुमति दी है, यह अत्यन्त शोचनीय विषय है । भारत-सरकार का यह कायरता पूर्वक निर्णय है । हमें निरपराध पशु-पक्षियों को मारने का क्या अधिकार है । जैनाचार्य वादिवृषभ ने लिखा है कि जिस देश में पशु-पक्षी सुखी होंगे वही देश खुशहाल होगा । सम्राट् अशोक ने गिरनार शिलालेख में स्पष्ट लिखा है—कि अभिहिंसा नहीं होनी चाहिये । अभिहिंसा अर्थात् विशेष रूप से की गई हिंसा शिकार । बताइये अपने क्षणिक मनोरंजन के लिये हिंसा करना, निरपराध प्राणियों का शिकार करना कहा तक उचित है ?

हमारे देश की परम्परा सदैव अहिंसक व धार्मिक रही है । हमारे यहाँ के क्षत्रिय राजा शाकाहारी थे । आज यह मान्यता है कि क्षत्रिय मासाहारी थे यह नितान्त भ्रामक है । महाराजा जनक के जीवन चरित्र में लिखा है कि वे मास परित्यागी थे । निवृत्तमासस्तु तत्र भवान् जनक—उत्तर रामचरित ४/१ । राम का सदेश लेकर हनुमान जब सीता के पास पहुँचे तब सीता ने हनुमान पर राम का अनुचर होने का विश्वास नहीं किया, और पूछा कि—तुम राम के स्वभाव रहन-सहन, खान-पान के बारे में बताओ, तभी मैं विश्वास कर पाऊँगी । तब हनुमान ने बताया कि—

न मास राघवो भुक्ते न चैव मधु-सेवते ।

वन्य सुविहित नित्य भक्तमश्नाति केवलम् ॥

—वाल्मीकी रामायण, सुन्दर काण्ड—३६/४१

इक्ष्वाकुवशी राम मासाहार नहीं करते वे शाकाहारी हैं, वे मधु का

मेवन नहीं करते वे चावल का ही सेवन करते हैं । इत्यादि-इत्यादि, तभी सीता को विश्वास हुआ ।

दिव्यावादन (संस्कृत के) ग्रंथ में लिखा है कि—अशोक के समक्ष प्याज परोसने पर अशोक ने कहा कि—हे देवी ! मैं उच्चकुलीन क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज ग्रहण नहीं करता हूँ, तुम प्याज को हटा दो ।

विश्व में, पशु-पक्षियों को दुःख देकर शांति नहीं मिल सकती, वे भी तो जीवात्मा हैं, उनकी हत्या क्यों ? सारी उम्र गाय का दूध पी ले और बाद में कुछ घन के लोभ में आकर उसे कसाई को दे दे यह कैसा धर्म है ?

विश्व में १५० राष्ट्र हैं । वे सब अपना धर्म, संस्कृति परम्पराओं व आदर्शों को नहीं छोड़ते । पर हमने अपना सब कुछ छोड़ दूसरों का ग्रहण कर लिया । हम हर चीज दूसरों की अपनाते जा रहे हैं, हम अपनी गरिमा को भूलते जा रहे हैं ।

मैं जब दिल्ली में था एक अरब-राजकुमार ने फ्रांसिसी भाषा में समयसार का अनुवाद किया । दूसरे देशवासी तो हमारी संस्कृति को, आदर्शों को, तत्त्व ज्ञान को पूजते हैं, उत्तम मान कर सीखते हैं और हम अपना ही आदर करना नहीं जानते । भौतिक लालच में आकर अपने आदर्शों को तत्त्व आदि को भूल रहे हैं । महात्मा गांधी अपनी अहिंसा से, शक्ति को अपनी और झुकाते थे, शायद इसीलिये उनको खत्म किया गया कि देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ये (गांधी) हमारे हिंसात्मक कार्य में, हमारी गतिविधियों में बाधा पहुँचायेंगे ।

सत्यता यह है कि मनुष्य ही हमारे देश का अतिथि नहीं होता, पशु-पक्षी भी हमारे अतिथि हैं । साइबेरिया से छह महीने के लिये आये पक्षी हमारे अतिथि हैं, इनकी हत्या, शिकार के लिये अनुमति देना, धर्म भूमि भारत की सरकार का सर्वथा अनुचित निर्णय है ।

जापान में विश्व धर्म सम्मेलन हुआ, जिसमें सदस्य श्री रामचन्द्र विकल भी सम्मिलित हुये । वहाँ इस समस्या पर विचार किया जा रहा था कि मनुष्य की रक्षा कैसे हो ? तब विकलजी ने कहा कि—आप मनुष्य की रक्षा की बात करते हैं । भगवान् महावीर ने २५०० वर्ष पहले पशु-पक्षी की रक्षा करने की बात कही है, उनकी रक्षा का मार्ग बताया है, आप उनके सिद्धान्त पढ़िये ।

भारत के बादशाहों को भी जैनाचार्यों ने अहिंसा का पाठ पढ़ाया है ।  
आज के शासकों को भी अहिंसा पर विश्वास रखना चाहिये ।

कुछ लोग मानते हैं कि हम सब ब्रह्म के अंश हैं । ठीक है, कुछ देर के लिये मैं इसको मान लेता हूँ । यदि हम ब्रह्म के अंश हैं तो पशु-पक्षियों को देख, आनन्द मनाने के लिये बनाया है या उनको मारने-काटने के लिये बनाया है ? क्या उनको मारना ब्रह्म के विरुद्ध नहीं है ।

आज समस्त जनता का कर्तव्य है कि सरकार के हिंसात्मक कार्य का विरोध कर, उसे अहिंसा की ओर प्रेरित करें ।

### सयम

इन्द्रिय सयम के ज्ञान के अभाव में मनुष्य को भक्ष्य-अभक्ष्य का ख्याल नहीं रहता है, व्यसनो में पड़ जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । नशा हेय है । यदि कोई व्यक्ति नशा करके कोर्ट में गवाही देने जाता है तो मजिस्ट्रेट भी उसकी गवाही को स्वीकार नहीं करता ।

एक गाड़ी बड़ी अच्छी है, सुन्दर है, कीमती है पर यदि उसके ब्रेक ठीक नहीं हैं तो वह गाड़ी बेकार है । जीवन में सयम नहीं तो वह निकम्मा है, खतरे से खाली नहीं है । सयम जीवन का ब्रेक है । मन को दुर्घटना से बचाने के लिए, मन की मलिनता को रोकने के लिए, पवित्र बनाने के लिये सयम की आवश्यकता है । शारीरिक दुर्घटना को डॉक्टर अपने इलाज से ठीक कर देते हैं पर मन को ठीक करने के लिए सयम ही इलाज है । पाँच इन्द्रियों को नियन्त्रण करने के लिये यह (सयम) आवश्यक है । एक डाकू को पाँच पुलिसमैन रस्सी से बाँध कर लेकर जा रहे हैं और एक राजा भी पाँच पुलिसमैन के संरक्षण में जा रहा है, अन्तर केवल इतना है कि राजा के साथ जो पुलिस है वह राजा की इच्छानुसार चलती है और उधर डाकू पुलिस की इच्छानुसार चलता है । इसी प्रकार हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं । सयमी आत्मा की इन्द्रियाँ तो उसके नियन्त्रण में रहती हैं, और दूसरी ओर असयमी आत्मा अपनी इन्द्रियों का गुलाम रहता है ।

आत्मानुशासन में लिखा है कि—मीठा समझकर हम खाना खाते जाते हैं, पर वह खाना हमें खा जाता है । रोग ग्रस्त कर देता है । अर्थात् असयम हमें पतन की ओर ढकेलता है । अतः पचेन्द्रिय पर मन राजा का अकुश लगा रहना चाहिये ।

तप :

तप अन्तरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है। महिलायें तब पर रोटी सेंकती हैं। यदि वे एक तरफ से सेंक दे, दूसरी ओर से नहीं सेंके तो कहेंगे कच्ची रह गई। इसी प्रकार केवल अन्तरंग तप को महत्त्व दें, बहिरंग तप को नहीं दें तो वह परिपक्व तप नहीं होगा। दोनों तप से ही भेद-विज्ञान हो सकता है, एक से नहीं। मिक्के के दो पहलू होते हैं—एक पहलू के बिना दूसरे का अस्तित्व सदिग्ध है। बहिरंग तप साधन है व अन्तरंग तप साध्य है। साधन और साध्य दोनों इष्ट की सिद्धि होने तक साथ चलते हैं। बिना बहिरंग तप के इष्ट सिद्धि नहीं। तप में उपवास भी सम्मिलित है।

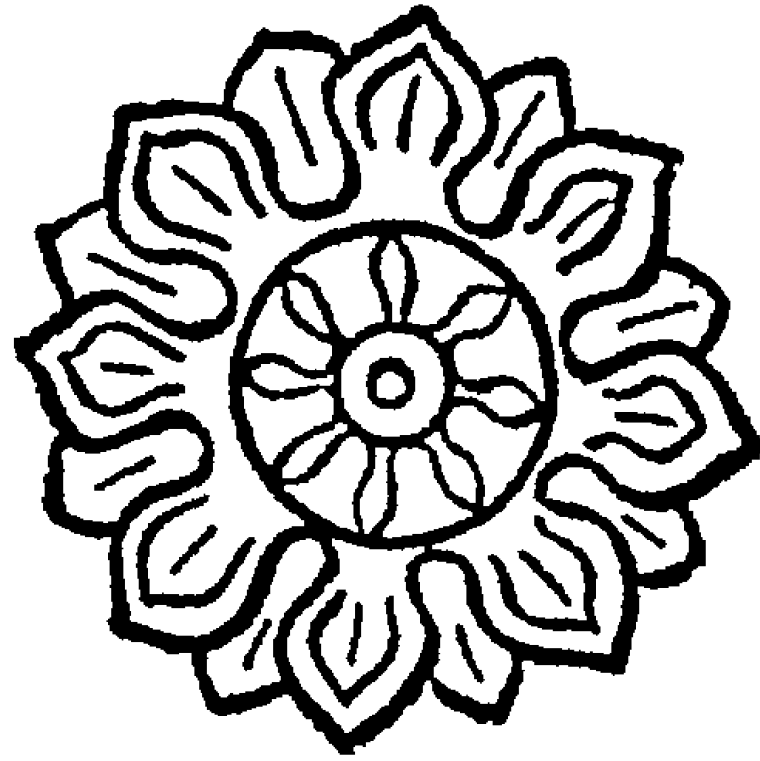
एक अमेरिकी युवक हेनरी फोर्ड एक बार हीरे जवाहरात लेकर दूसरे शहर गया। राह में गाड़ी खराब हो गई, सब यात्री वहाँ रुक गये। टी टी ने सबसे टिकट मागे। हेनरी फोर्ड से भी उसका टिकट मागा, हेनरी ने कोई जवाब नहीं दिया। टी टी ने उसे पुलिस के हवाले कर दिया। रात भर वह भूखा, प्यासा ही बन्दूकधारी पुलिस के पहरे में रहा। प्रातः उसे मजिस्ट्रेट के पास ले जाया गया, मजिस्ट्रेट ने पूछा तो हेनरी ने तत्काल टिकट दे दिया। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि तुमने टी टी को टिकट क्यों नहीं दिखाया। तब हेनरी ने उत्तर दिया कि—मेरे पास कीमती माल है, इसकी सुरक्षा आवश्यक थी, इसके साथ-साथ मेरी जान का भी खतरा था, इसके लिए सबसे सुरक्षित स्थान पुलिस चौकी ही थी। मैंने एक दिन कैद रह, भूख-प्यास आदि का कष्ट भोगा किन्तु जान व माल की सुरक्षा कर ली। अतः जिस प्रकार कष्ट सहने से हीरे जवाहरात की रक्षा हुई उसी प्रकार आत्म-रत्न की रक्षा के लिये तप-उपवास की आवश्यकता है। हम सोचें कि खाते पीते रहे, और मोक्ष भी प्राप्त हो जाये, ऐसा सम्भव नहीं है। यदि नारकियों जैसे भक्ष्या-भक्ष्य का विचार न रख शराब आदि व्यसनो में रत रहे तो नरक भव ही मिलेगा।

केवलज्ञान के लिये तप आवश्यक है। तप-त्याग का प्रारम्भ ज्ञान से है। बिना ज्ञान के तप-त्याग करना त्याग नहीं है। पर त्याग शक्तिश्च ही होना चाहिये। कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड में लिखा है कि—यदि आप से त्याग नहीं बनता तो त्यागी की निन्दा तो मत कीजिये। सिद्धान्तों पर, आदर्शों पर विश्वास होना चाहिये। जो सिद्धान्त पर अटल नहीं वह वेपेंदी का लोटा है। जिसका मन पवित्र होगा, उज्ज्वल होगा, उसी का जीवन श्रेष्ठ

होगा । अपने आदर्श सस्कृति, सिद्धान्तों को नहीं छोड़े, चाहे दुनिया बदल जाये ।

जब हम स्वयं की हिंसा नहीं चाहते तो दूसरों की कैसे करना चाहते हैं ? जब स्वयं सुरक्षित रहना चाहते हैं तो दूसरों को भी सुरक्षित रहने दो, दूसरों की भी सुरक्षा करो । हम सब अपनी सुरक्षा चाहते हैं इसका तात्पर्य है कि हम हिंसा चाहने वाले नहीं हैं, अहिंसा चाहने वाले हैं । आज प्रचलित धारणा है कि हिंसा के बिना जीवन ही सम्भव नहीं, यह उपयुक्त नहीं है । जो हिंसा पर विश्वास करते हैं उनकी दुर्गति होती है । यदि हिंसा अच्छी होती तो हिटलर को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता, जिसने घोर हिंसक कार्य-वाहियाँ की थी, पर ऐसा नहीं है ।

हमारी सस्कृति आत्मा से जुड़ी हुई है, इसको बनाये रखने के लिये सचेष्ट रहना चाहिये ।



## भगवान् ऋषभदेव का संदेश : ऋषि बनो या कृषि करो

ऋषि बनो या कृषि करो । सर्वस्व त्याग कर मुक्त होओ अथवा अहिंसक, शाकाहारी होकर गृहस्थ जीवन व्यतीत करो । एक त्याग मार्ग है दूसरा गृहस्थ मार्ग है ।

मृत्यु से पूर्व जो पाँचो इन्द्रियो के विषयो को छोडकर आत्मस्थ हो जाता है वह प्रत्यक् आत्मा है । प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता है । निमित्त कभी अकस्मात् मिल जाते हैं तो कभी उन्हें मिलाना भी पडता है ।

इस भारत भूमि मे अनेक महापुरुष हुये हैं । यहाँ की मूल सस्कृति मनुओ की, कुलकरो की सस्कृति है । मनुस्मृति मे लिखा है कि शासको को, राजा को, प्रजा को, साधुओ को, सभी को आत्मा के परिणामो को निर्मल रखना है । प्रारम्भ से ही अघ्यात्म विद्या यहाँ की विशेषता एव मूल देन रही है । प्रारम्भ मे जब कल्पवृक्ष के सहारे मानव-जीवन व्यतीत होता था उस समय राजा नाभिराय और रानी मरुदेवी भी अत्यन्त मुख के साथ रह रहे थे । एक दिन रानी मरुदेवी ने सौलह स्वप्न देखे और प्रातः राजा नाभिराय के पास गई । चिन्तामग्न रानी को देख राजा ने वृत्तान्त पूछा । रानी ने

स्वप्नो की घटना सुनाई । राजा नाभिराय स्वप्न ज्ञाता थे । उन्होंने रानी से कहा कि तुम एक भाग्यवान् बालक को जन्म देने जा रही हो जो कि तीर्थङ्कर होगा । कुछ समय पश्चात् रानी ने एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया । माता-पिता ने उस बालक का नाम 'ऋषभ' रखा । जन्म के पश्चात् इन्द्र बालक को पाण्डुशिला पर स्नान कराने ले गये । वहाँ उन्होंने उस बालक का नाम 'पुरु' रखा । इसी कारण ऋग्वेद में लिखा है कि इन्द्र मुनियो का सेवक व सखा रहा है । जिनसेनाचार्य ने इन्द्र की भक्ति का बहुत सुन्दर वर्णन किया है । इन्द्र का एक नाम 'पुरुभूत' भी है । इन्द्र के द्वारा अभिषेक किये जाने के बाद शचि (इन्द्राणी) उस बालक को वस्त्राभूषण पहनाने के लिये एक अत्यन्त कोमल कपड़े से बालक का शरीर पोछने लगी । पोछते-पोछते थक गई किन्तु बालक के कपोल की एक जलविन्दु सूख नहीं पाई । इन्द्र यह सब देख मुस्कुरा रहे थे । शचि से बोले—यह क्या कर रही हो ? शचि ने उत्तर दिया कि बालक के कपोल की यह जलविन्दु सूखने ही नहीं पा रही, क्या करूँ ? तब इन्द्र ने उत्तर दिया कि अरे ! जिसे तुम जल विन्दु समझ रही हो, यह जल विन्दु नहीं, यह तो तुम्हारे आभूषण के रत्न का प्रतिबिम्ब है अर्थात् उनका शरीर दर्पण जैसा स्वच्छ-निर्मल था ।

नाभिराय व मरुदेवी अत्यन्त स्नेह के साथ ऋषभ का पालन करते हैं । युवा होने पर नन्दा-सुनन्दा से उनका व्याह कर रहे हैं । योग्य होने पर ऋषभ का राज्याभिषेक कर सत्ता सौंप कर स्वयं सन्यास धारण कर लेते हैं ।

अकस्मात् एक दिन जीवन-आधार कल्पवृक्ष समाप्त हो गये । प्रजा परेशान हो गई तब राजा ऋषभ ने कहा, सामने इक्षु हैं, इनको चूसो, इनका रस पीओ । इक्षु रस पीने की विधि बताई, इसलिये यह वंश इक्ष्वाकुवंश कहलाया, ऐसा जिनसेन आचार्य के महापुराण में उल्लेख है । प्रजा को असि, मसि, कृषि आदि की शिक्षा देने से 'विधाता' कहलाये । ऋषभ ने कहा 'या तो ऋषि बनो या कृषि करो' कृषि का आधार अहिंसा है और यह शाकाहार को पुष्ट करता है । ऋषि अर्थात् सर्वस्व त्यागकर मुक्त होओ । एक गृहस्थ मार्ग है, दूसरा त्याग मार्ग है । प्रजापति ऋषभ ने ये दो मार्ग प्रशस्त किये ।

कुछ समय पश्चात् इन्द्र ने देखा कि ऋषभ अपने राज में, वैभव में, राग में मस्त हैं । इनको तो मोक्ष मार्ग प्रशस्त करना है, इनको विरक्त हो जाना चाहिये । यह सोचकर इन्द्र ने ऋषभ में क्षण-भगुर जगत् के प्रति वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये निमित्त प्रस्तुत किया । निमित्त किसी काम को



करने में प्रेरक भी हैं। कभी वे अकस्मात् भी मिल जाते हैं तो कभी उन्हें मिलाना भी पड़ता है। समन्तभद्र ने लिखा है—कार्य द्रव्य के अनुसार ही होगा पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। जैसे सोये हुये शेर को जगाने हेतु जरासा स्पर्श ही पर्याप्त होता है, वैसे ही राजा ऋषभ के लिये इन्द्र का जरासा सकेत देना ही पर्याप्त था। अतः एक दिन इन्द्र ने राजा ऋषभ के दरबार में नीलाजना नामक अप्सरा, जिसकी आयु समाप्त होने वाली थी, कुछ घड़ियों की ही शेष थी उसको नृत्य के लिये प्रस्तुत किया। नृत्य के बीच अप्सरा की मृत्यु हो गई। यद्यपि इन्द्र ने उसके स्थान पर तुरन्त वैसी ही अप्सरा को नृत्य के लिये प्रस्तुत कर दिया, किन्तु अवधिजानी राजा ऋषभ इस भेद को समझ गये। ससार की क्षणभंगुरता समझ तत्काल पुत्रों को राज्य सौंप, सन्यास धारण कर लिया। इक्ष्वाकुवंश की यह परम्परा रही है कि वृद्धावस्था में गृहस्थी का भार छोड़ सन्यास धारण कर धर्म-ध्यान में अपना शेष जीवन विताते थे। कवि कालिदास ने इक्ष्वाकुवंश के लिये लिखा है कि इस वंश की परम्परा है कि बाल्य शिक्षा-विद्याध्ययन में व्यतीत करते हैं, युवावस्था में गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं और वृद्धावस्था आने के पूर्व से ही विरक्त, त्यागमय, साधुमय जीवन विताते हैं। आज यदि इक्ष्वाकुवंश की परम्पराओं का कुछ अंश भी हम अपने जीवन में उतार लें तो इस देश की अनेक समस्याएँ हल हो जायें।

ऋषभदेव ने सन्यास धारण करने के लिये कोई मुहूर्त नहीं देखा। राज्य सौंप अयोध्या में वट-वृक्ष के नीचे पाषाण-शिला पर बैठ आत्मस्थ हो गये। उपनिषद् व समयसार-कलश में लिखा है कि ऋषभदेव 'प्रत्यक् आत्मा' हो गये अर्थात् इन्द्रियो व शरीर से पृथक् आत्मा में निमग्न हो गये। अथर्ववेद में लिखा है कि—मौत आने से पूर्व ही जो आत्मस्थ हो जाता है, आत्मा में लीन हो जाता है—वह 'प्रत्यक् आत्मा' है। पाँच इन्द्रियो के विषय छोड़ जो आत्मा में लीन है वही 'प्रत्यक् आत्मा' है। भागवत् में लिखा है—सर्वज्ञ ही 'प्रत्यक् आत्मा' है। महत्सनाम स्तोत्र में लिखा है कि जो बुद्धि को प्रज्वलित कर आत्मा को चिन्तन-मनन से स्वच्छ-निर्मल कर लेता है वही 'प्रत्यक् आत्मा' है। ऋग्वेद में लिखा है कि जैसे जल छान कर पीते हैं वैसे ही मन-वचन और कार्य से कषायों को छानकर वाक्य बोलें और ऐसे वाक्यों को ही जीवन में उतार कर जो आत्मस्थ हो, वही 'प्रत्यक् आत्मा' है।

ऋषभदेव के साथ अनेक राजाओं ने भी देखा-देखी सन्यास ग्रहण कर लिया था। ऋषभदेव आत्मस्थ हो गये, किन्तु अन्य राजा लोग साधना

नहीं कर पाये, विचलित हो गये और स्वयं तप भग्न कर बैठे । अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार मतमतान्तर का प्रचार करने लगे । प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है ।

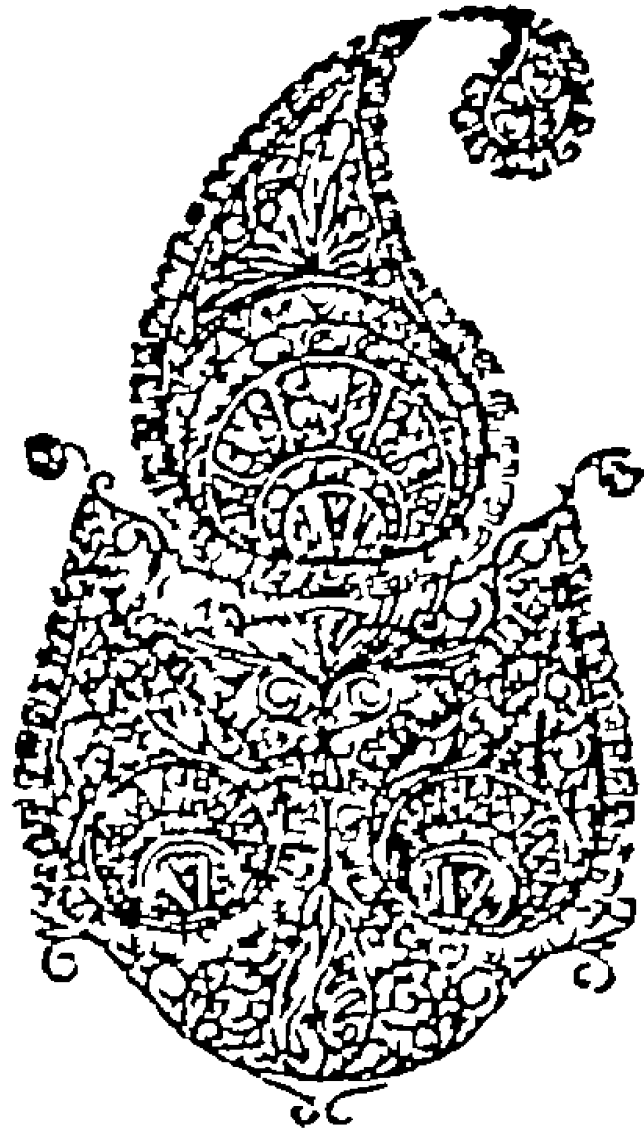
कठिन तपस्या कर एक दिन ऋषभदेव आहार ग्रहण करने के लिये निकले । किन्तु प्रजा में नवधाभक्ति, प्रति ग्रहण (पडगाहना), पाद प्रक्षालन, उच्चासन व अर्चन की क्रिया का ज्ञान न होने के कारण ऋषभदेव को छह महीने तक आहार न प्राप्त हो सका । जिन्होंने विधाता के रूप पृथ्वी-मंडल के लोगो की जीवन जीने के उपाय बताये, जिनके तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय था, उन्हें भी छह महीने तक अन्तराय कर्म के कारण आहार प्राप्त न हो सका । इससे यह सिद्ध होता है कि जब तीव्र पाप का उदय होता है तब पुण्य काम नहीं करता । छह माह पश्चात् पूर्व जन्म की स्मृति को लेकर ऋषभदेव के पौत्र, बाहुवलि के पुत्र श्रेयास व सौम ने हस्तिनापुर में उन्हें इक्षु रस का आहार कराया ।

इधर भरत व बाहुवलि में राज्य को लेकर युद्ध हुआ । बाहुवलि जलयुद्ध, मल्लयुद्ध व दृष्टियुद्ध तीनों में ही भरत से जीत गये । अन्त में भरत ने बाहुवलि पर अपना चक्र चला दिया । यह देख बाहुवलि के मन में विचार आया कि इस धन-सम्पत्ति के कारण मेरा भाई ही मुझे मारना चाह रहा है, धिक्कार है इस सम्पत्ति को, और इतना सोच, वे विरक्त हो गये, सन्यास धारण कर लिया । कठोर तपस्या करने पर भी उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई । क्योंकि उनके मन में यह कषाय थी, शल्य थी कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ । काफी समय व्यतीत हो जाने पर भी ज्ञान प्राप्त क्यों न हुआ, इसका भगवान् ऋषभदेव से कारण जान भरत बाहुवलि के चरणों में नतमस्तक हुये और कहने लगे—‘प्रभो ! यह पृथ्वी किसी की नहीं है, आपने कैसे ध्यान कर रखा है कि यह भरत की है ।’ शल्य खतम हो गई, केवल्य प्राप्त हो गया ।

जब छोटी सी कषाय भी ज्ञान प्राप्ति में बाधक रही तो बड़े-बड़े कर्मों का तो कहना ही क्या ? ऐसे बाहुवलि गोमटेश्वर की स्तुति में नेमिचन्द्राचार्य ने लिखा है—मनुष्य के प्रतिविम्ब देखने हेतु दर्पण बना है, पर पेड़ पौधे, पशु-पक्षी, पहाड़ आदि अपना प्रतिविम्ब किसमें देखें ? उनके लिये तालाब बनाये गये हैं । पर तालाब (गोमटेश्वर में जो तालाब है वह) किसमें अपना प्रतिविम्ब देखे ? इसके लिये आचार्य ने लिखा है वह अपना

प्रतिविम्ब उस गोमटेश्वर के कपोल में देखे, अर्थात् जल से भी स्वच्छ निर्मल जिनका शरीर है ऐसे गोमटेश्वर को नमस्कार है ।

भगवान् ऋषभदेव ने देश को सर्वप्रथम अहिंसा का पाठ पढ़ाया । उनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा, ऐसे इक्ष्वाकुवंश की परम्परा को अपनाये । वृद्धावस्था में धर्म ध्यान कर मनुष्य भव का सदुपयोग कर । एक बार दिल्ली में आर्यिका चन्द्रमति माताजी से एक जमादारनी ने आशीर्वाद मागा—ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं मरण समय शान्ति से भगवान् का नाम स्मरण करती रहूँ । अतः भला सो भला । आप सब भी मृत्यु से पहले कुछ समय धर्म-ध्यान में अवश्य विताये ।



## तीर्थंकर महावीर : सिद्धान्त एवं जीवन चरित्र

महावीर का धर्म पुरुषार्थवादी है दैववादी नहीं । धर्म को सही रूप में प्रसारित व प्रचारित किया जावे तो वह अमृत है, अन्यथा अन्धविश्वासों के कारण वह हलाहल है । विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह यही सर्वोदय है ।

इस विशाल भारत देश में अनादिकाल से अनेक महापुरुष होते रहे हैं । वे महापुरुष आगे आने वाली सन्तति के लिये अपने सिद्धान्त रूप संपत्ति छोड़कर गये हैं । हमें उनसे सम्पत्ति रूप में अहिंसा, सत्य, सर्वोदय, अनेकांत आदि सिद्धान्त प्राप्त हुये हैं । आचार्य समन्तभद्र ने १८०० वर्ष पूर्व सर्व प्रथम सर्वोदय का सिद्धान्त दिया । सबका कल्याण हो, सबका अभ्युदय हो, इसी भावना से उन्होंने सर्वोदय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।

भगवान् महावीर ने 'पुरुषार्थ' को महत्वपूर्ण बताया । सब प्राणी पुरुषार्थ करके ही अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं ।

एक छोटे से गांव के बाहर एक बैलगाड़ी भागी जा रही थी । ८-१० बच्चे उसके पीछे दौड़ रहे थे । वे भाग कर उस गाड़ी पर चढ़ जाना चाहते थे । प्रयत्न करने पर उनमें से चार बच्चे गाड़ी पर चढ़ गये शेष नहीं चढ़ पाये । न चढ़ने वालों के मन में पुरुषार्थ न कर पाने का दुःख नहीं था, पर

ये चार वच्चे चढ गये और हम पीछे रह गये इस बात का दुख था। उन्होंने गाडीवान से शिकायत की कि देखो। पीछे तुम्हारी गाडी मे कुछ वच्चे बैठ गये। गाडीवान ने उन वच्चो को डाट-फटकार कर अपनी गाडी से नीचे उतार दिया। इसी प्रकार व्यसनो मे वचकर जो समृद्ध होते हैं, उनकी समृद्धि सभी को अखरती है, पर जो व्यसनो के कारण दरिद्र रहते हैं उनके उद्धार की सारी दुनिया को चिन्ता रहती है। जब तक व्यमनादि रहेगे, समृद्धि कैसे सभव है। जब तक इस देश मे जनता को व्यसनादि से बचाया नहीं जायेगा तब तक देश सुखी नहीं हो सकता है।

संसद सदस्य एन सी आर्यगर ने लिखा है कि जैनधर्म मे अवश्रद्धा को कतई महत्व नहीं दिया गया है। अन्य सभी धर्मो मे अवश्रद्धा को पर्याप्त महत्व दिया गया है। भगवान् महावीर का सिद्धान्त है कि पुरुषार्थ से धन-समृद्धि व सफलता प्राप्त हो सकती है। दीपावली पर कागज की लक्ष्मी की पूजा करने से धन की प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक कि पुरुषार्थ न किया जाये। पुरुषार्थ से धन कमाकर दान करो। हमारे श्रेष्ठियो ने दान देकर इतने विशाल मन्दिरों का निर्माण किया है जिनके दर्शनो से शांति प्राप्त होती है। विश्वधर्म सम्मेलन के सचिव कर्नल ऊवान जब दक्षिण मे गोम्मटेश्वर की मूर्ति देखकर आये उनका कहना था कि—“मैंने इस विशाल प्रतिमा के दर्शन किये, अब मेरा जीवन सफल हुआ यदि मैं इसके दर्शन नहीं करता तो मेरा जीवन ही व्यर्थ रह जाता।”

भगवान् महावीर का जन्म वैशाली नगर मे हुआ। ललित-विस्तर (संस्कृत) नामक बौद्ध ग्रन्थ मे वैशाली का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। उसके अनुसार वैशाली मे तत्समय ७७०७ मंसद सदस्य थे। चेतक वहा के अध्यक्ष थे। वैशाली मे ७००० मकानो मे स्वर्ण कलश लगे हुये थे, १४,००० मकान रजत कलश युक्त थे और २१,००० मकान ताम्र कलश युक्त। इस प्रकार ४२,००० मकानो मे एक लाख अठसठ हजार नागरिक रहते थे। नगर-सौंदर्य अद्भुत था। एक बार गौतम-बुद्ध जब वैशाली से विहार कर रहे थे तो बार-बार वैशाली की ओर मुड़कर देखते जाते थे। एक शिष्य द्वारा पूछने पर कि ‘तथागत आप बार-बार पीछे मुड़कर क्या देख रहे हैं’, गौतम बुद्ध ने कहा कि—“मैं इस वैशाली को देखकर तृप्त नहीं हो पा रहा हूँ। मुझे इन्द्र-परिपद के सौन्दर्य व वैशाली के सौन्दर्य मे कोई भेद नहीं नजर आ रहा है। इसलिये, उसके अप्रतिम सौन्दर्य को निहारने के लिये मैं बार-बार मुड़-मुड़ कर देख रहा हूँ।”

वैशाली-विशाल, समृद्ध, सुभिक्ष, रमणीय, योगक्षेम पूर्ण थी। सब में परस्पर अत्यन्त स्नेह व वात्सल्य था। महानगर के बीच कुण्डग्राम में नन्दावर्त महल में सिद्धार्थ रहते थे। चेतक की बड़ी पुत्री त्रिशला का विवाह इन्हीं सिद्धार्थ से हुआ था। दोनों अत्यन्त सुख-सौहार्द पूर्वक जीवन यापन कर रहे थे। अचानक एक दिन रात्रि को रानी त्रिशला को १६ स्वप्न दिखाई दिये। प्रातः काल रानी त्रिशला ने महाराजा सिद्धार्थ से स्वप्नों का फल पूछा। सिद्धार्थ ने बताया कि स्वप्न मागलिक हैं। ये शुभ घटना के संकेत हैं, तुम्हारी कुक्षि से एक तेजस्वी बालक का जन्म होगा। नौ महीने आठ दिन के पश्चात् त्रिशला ने अत्यन्त तेजस्वी बालक को जन्म दिया। बालक के जन्म के साथ ही समस्त ससार में आनन्द व शांति की अनुभूति हुई। इतिहास साक्षी है कि महापुरुषों के जन्म व जीवनकाल में उनके पुण्योदय के कारण सभी को शांति की अनुभूति होती है। वाल्मीकि रामायण में उल्लेख है कि—जब राम का जन्म हुआ तो पेड़-पौधों ने खूब फल दिये। महाभारत में उल्लेख है कि जब युधिष्ठिर का जन्म हुआ तो गायों ने खूब दूध दिया। हमारे स्वतन्त्र भारत में भी जब तक डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति रहे, भारत का किसी देश से युद्ध अथवा वैमनस्य नहीं हुआ। महापुरुषों का आगमन सदैव फलदायक रहा है।

माता-पिता ने बालक का नाम वर्धमान रखा, क्योंकि बालक के जन्मते ही राज्य में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक सभी दृष्टिकोण से उन्नति हो रही थी। वर्धमान बढ़ते गये।

एक दिन वर्धमान, चलधर, काकधर, पक्षधर आदि राजकुमारों के साथ ग्रामली क्रीड़ा खेल (कर) रहे थे। स्वर्ग में चर्चा हो रही थी कि वर्धमान अत्यन्त वीर हैं। सगम नामक देव के मन में वर्धमान की परीक्षा लेने का विचार उत्पन्न हुआ। यह विचार कुछ इसी प्रकार का था, मानो एक छोटासा ढेला समुद्र को मापने का विचार करे, या एक छोटा-सा तिनका हिमालय को मापने की सोचे। सगम देव ने सर्प बनकर उनकी क्रीड़ा में विघ्न उपस्थित किया। चलधर, काकधर, व पक्षधर तीनों राजकुमार व राजकुमार वर्धमान के अलावा सब डर कर भाग गये। राजकुमार वर्धमान ने निर्भयता से सर्प को उठाकर फेंक दिया, इस निर्भयता के कारण उन्हें 'महावीर' कहा जाने लगा। मथुरा के पुरातत्व विभाग में महावीर की ग्रामली क्रीड़ा करते हुये काकधर, चलधर व पक्षधर के साथ में २००० वर्ष पुरानी प्रस्तर उत्कीर्ण मूर्ति है।

महावीर बड़े हुये, अपने पिता के राज्यकार्यादि में सहायक बने । वैशाली में खुदाई से एक मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमें लक्ष्मी पर गज द्वारा अभिषेक किया जा रहा है—वह ब्राह्मीलिपि में उत्कीर्ण है, जिसका भावार्थ है कि—महावीर २६ साल की अवस्था में राजकाज भी सभालते थे, पिता के साथ कार्यालय-न्यायालय में बैठते थे । वैशाली में उस समय जनतन्त्र प्रणाली थी । जनतन्त्र का शुभारम्भ महाराजा चेतक (महावीर के नाना) ने किया । राष्ट्र-कवि रामधारीमिह 'दिनकर' ने अपने ग्रंथ 'वैशाली का अभिनन्दन' में लिखा है कि —

“वैशाली जन का प्रतिपालक, गणका आदि विधाता,  
जिसे ढूँढ़ता आज देश, उस प्रजातन्त्र की माता ।  
रुको, एक क्षण पथिक यहाँ, मिट्टी को शीश नवाओ  
राज्य सिद्धियों की समाधि पर, फूल चढ़ाते जाओ ।”

वैशाली का प्राक् इतिहास (Early history of Vaishali) में यूरोपीय विद्वानों ने भी इसका वर्णन किया है । महापुराण के सोलहवें अध्याय में उल्लिखित है कि जनतन्त्र का शुभारम्भ व विकसित रूप का आधार जैन-शास्त्र है ।

जिस समय भारत का संविधान बना, विश्व के सारे संविधान व महत्वपूर्ण धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया गया । एकत्रित अनेक ग्रंथों में केवल जैन शास्त्र में ऐसा उल्लेख था कि पुत्री का भी पिता की सम्पत्ति में समान अधिकार है (वैरिस्टर चम्पतरायजी के जैन लॉ में इसका उल्लेख है), इसी को आधार बनाकर आज इसे कानून रूप दिया गया है ।

वैशाली जनतन्त्र की यह विशेषता थी कि सब समान सम्पत्ति व साधन युक्त थे । सबको विचार व्यक्त करने का अधिकार था । सर्वत्र अहिंसक वातावरण था ।

पुरातत्व विभाग के डाइरेक्टर टी एन रामचन्द्रन ने लिखा है कि—गाँधीजी ने नवभारत का निर्माण भगवान् महावीर की अहिंसा के आधार पर ही किया ।

३० वर्ष की अवस्था में महावीर ने गृहत्याग कर संन्यास ग्रहण किया । महावीर के विवाह के सन्दर्भ में कुछ मतभेद हैं । दिगम्बर मान्यता है कि विवाह नहीं हुआ केवल प्रसंग चला था । श्वेताम्बर मान्यता है कि विवाह हुआ । यह विवाद ही अप्रासंगिक है, जो मुक्त हो चुका उस पर विवाह

होने न होने का कोई फर्क नहीं पड़ता । हमें तो उनके सिद्धान्तों को ही ग्रहण करना चाहिये, विवाह जैसी उपरी बातों पर उलझकर व्यर्थ का विवाद नहीं खड़ा करना चाहिये । सत्य है कि रस ग्रहण करने के लिये छिलका और गुठली हटाने ही पड़ते हैं ।

महावीर वस्त्राभूषण त्याग, पचमुष्टि केशलोच कर शालिवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुये । ४८ घण्टे के ध्यान के पश्चात् कूलग्राम के नृप के घर आहार किया और भ्रमण करते-करते उज्जैन नगरी पहुँचे, वहाँ पहुँचकर एक श्मशान में ध्यानलीन हो गये । श्मशान के मालिक स्थाण ने देखा—यह कौन साधु आ बैठा है ? उसने अनेक उपसर्ग किये किन्तु महावीर ध्यान से विचलित नहीं हुये । प्रातः उपसर्ग निवारण होने पर महावीर ने आगे विहार किया । राह में वधन में बधी चन्दना ने सूप में सत्तू, छाछ व जल से महावीर को प्रतिग्रहण (पडगाह) कर आहार कराया । आहार-दान करने वाली चन्दना भी अकिंचन थी तो आहार ग्रहण करने वाले महावीर भी अकिंचन । चन्दना के पास केवल भक्ति थी ।

सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, तत्त्वार्थ वृत्ति में व्रत-परिसंख्यान की परिभाषा दी गई है । व्रतपरिसंख्यान का अर्थ—सन्तरा, नारियल द्वारा विधि बैठाना नहीं है, अपितु चौके में बनी वस्तुओं में से पाँच ही वस्तुयें ग्रहण करूँगा अथवा आहार के लिये केवल एक मोहल्ला ही रखूँगा यदि उसमें आहार न हो सका तो आगे नहीं जाऊँगा, आदि है । पर आज व्रतपरिसंख्यान का अर्थ व स्वरूप बदल गया, मूल विधि भूल गये हैं ।

महावीर ने आगे विहार किया । चन्दना भी साध्वी बन गई । राज-गृही के पास मगध में ऋजुकूला नदी के तट पर दम्भिका ग्राम (आजकल 'दमोह') में भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ । इन्द्र द्वारा तब समव-शरण की रचना की गई । जयधवला में उल्लेख है कि गणधर के अभाव में ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी । गौतम-ब्राह्मण आये, उन्होंने कहा कि यदि महावीर मेरी शकाओं का समाधान करेंगे तो मैं उनका शिष्य बन उनके सिद्धान्तों का द्वादशांग में वर्णन करूँगा । उन्होंने महावीर से अनेक प्रश्न पूछे । महावीर ने उनका समाधान किया और बताया कि एक पुद्गल परमाणु में अनन्त शक्ति है, अनेक रंग मौजूद हैं । मेहदी हरी है पर पीस कर लगाने पर वह लाल रंग में अपनी छाप छोड़ती है । कोयला काला है पर जलकर सफेद राख में बदल जाता है । वनस्पति में भी जीव है आदि । इसी सिद्धान्त को भारत के श्री जगदीशचन्द्र वसु ने १९०६ में वैज्ञानिक आधार से सिद्ध कर दिखाया ।



महावीर ३० वर्ष तक देश के कौने-कोने में घूमकर धर्म का प्रचार करते रहे। उस समय धर्म के नाम पर हिंसा का बोलवाला था। धर्म को सही रूप में प्रसारित व प्रचारित किया जावे तो वह अमृत है अन्यथा अंधविश्वासों, गलत तरीकों के कारण वह हलाहल हो जायेगा। जैसे गाय के मादयम से प्राप्त होने वाला दूध अमृत है और आकड़े के पेड़ से प्राप्त होने वाला दूध विष है। महावीर ने धर्म के नाम पर होने वाली बलियों का विरोध किया, इस प्रकार के फैल रहे अज्ञान का विरोध किया। अहिंसा का प्रसार किया। आज भी विश्व में अहिंसा की आवश्यकता है, अनेकान्त की आवश्यकता है। विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह यही सर्वोदय है। हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रकार के विचार उठते हैं, उन विचारों के प्रतिपक्षी-विरोधी विचार भी उठते हैं, इन विरोधों का नाश करने के लिये वाणी में स्याद्वाद-सप्तभगी नय बताया है। अनेक लोगों ने अज्ञानतावश स्याद्वाद की आलोचना की है। शंकर ने ब्रह्मसूत्र में इसकी आलोचना की है। बादरायण ने भी कहा है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म कैसे एक साथ रह सकते हैं? उन्हें बताया जाये कि जैसे एक ही व्यक्ति में (अपेक्षा से) एक साथ पिता-पुत्र के विरोधी भाव रहते हैं। शंकर ने सप्तभग में से 'अवक्तव्य' वाले नय पर आपत्ति की है कि यदि अवक्तव्य है तो कहा कैसे जायेगा, यदि कहा जाता है तो अवक्तव्य कैसे है? अवक्तव्य का अर्थ है जिसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त न किया जा सके। क्योंकि सत्य कभी भी पूर्ण रूप में वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। जो अभिव्यक्त है वह अपूर्ण ही है। शंकर ने स्वयं ने विवेक चूडामणि में बताया है कि ब्रह्म महान् है—अद्वितीय है... 'अनिर्वचनीय' है। यह 'अनिर्वचनीय' इसीलिये कि वाणी के द्वारा ब्रह्म के सब गुण व्यक्त नहीं किये जा सकते, क्योंकि एक ही पदार्थ में अनन्त गुण हैं। 'डामर' जो 'अखद्य' है उसी से जर्मन वैज्ञानिक रसायनों की सहायता से 'खद्यरग' बनाते हैं। यह तभी संभव हो सका है जब एक ही वस्तु में अनन्त गुण हों। जर्मन विद्वानों ने ही १७५ वर्ष पूर्व सप्तभगी नय का महत्व समझकर इस पर अनेक पुस्तकें लिखी तब हमने, भारत-वासियों ने इसका महत्व समझा। हमारे ही सिद्धान्त दूसरे देशवासियों के द्वारा प्रस्तुत करने पर हमें भले लगे। सत्य है, आज की सम्यक्ता ही ऐसी है कि आयातित वस्तु को ही महत्व प्रदान किया जाता है।

भगवान् महावीर ने, आत्मा में कर्मों के आवरण से जो शक्ति छिपी है उसे प्रगट करने का मार्ग बताया। वस्तु का मूल स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। शीतलता, जल का स्वभाव है गुण है, अग्नि के साहचर्य से गर्म होने

पर भी उसका स्वभाव, गुण नष्ट नहीं होता, उस गर्म जल को यदि अग्नि पर डाले तो अग्नि तत्काल बुझ जाती है—क्योंकि जल गर्म होने पर भी अपने स्वभाव शीतलता से युक्त है। इसी प्रकार आत्मा में भी उसके गुण-स्वभाव मूलतः अवस्थित है। केवल उन्हें अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है। नारियल का पानी जब सूख जाता है तो उसके अन्दर का गोला बजने लगता है, कहने लगता है—‘मैं पृथक हूँ’—यह ऊपर का आवरण पृथक है। इसी प्रकार आत्मा से कर्म के सूख जाने पर शरीर व आत्मा पृथक है, यह भेद-विज्ञान स्पष्ट हो जाता है। कर्मों को धर्मध्यान, तप आदि के द्वारा दूर करना होगा। जब तक कर्मों का नाश नहीं होगा आत्मा का स्वाद आनन्द नहीं प्राप्त होगा। आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना होगा।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि—‘मैं विश्व में किसी का भला या बुरा नहीं कर सकता। मैं पत्ते में भी परिवर्तन नहीं कर सकता, उसकी अपनी शक्ति है, प्रकृति है। भगवान् महावीर ने भी कहा है कि—‘मैं किसी का कर्ता नहीं हूँ, मैं किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता। स्व-पुरुषार्थ में ही उत्थान संभव है अन्यथा नहीं। कर्जा लेकर अथवा किसी के द्वारा दिये गये धन से कब तक घर चल सकता है। घर चलाने के लिये स्व-पुरुषार्थ करके ही धन कमाना होगा। महावीर का धर्म पुरुषार्थवादी है, दैववादी नहीं। यदि श्रीकृष्ण किसी का भला-बुरा कर सकते तो क्यों नहीं कौरवों का हृदय-परिवर्तन करते जिससे महान्-विनाश-लीला न होती। पाप कर्म हम करे और सोचें कि भगवान् उन्हें धो दें, यह संभव नहीं है। क्या भगवान् धोवी हैं? स्वयं का भला-बुरा, उत्थान स्वयं करना होगा। केवल भगवान् का नाम लेने से नहीं अपितु उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने से कल्याण होगा। ईश्वर किसी का कर्ता-धर्ता नहीं है। आज दैव-वाद ने मानव को निष्क्रिय बना दिया है। अतः हमें पर कर्तृत्ववाद को भूल स्वयं को पुरुषार्थ के द्वारा, धर्म-ध्यान के द्वारा अपना मन पवित्र बनाना चाहिये। जैसे जल ही कीचड़ का कारण है और जल ही उससे शुद्धि करने का साधन है, उसी प्रकार मन ही पाप करता है और स्वच्छ मन, पवित्र मन द्वारा ही उन पापों की निर्जरा अथवा उनसे मुक्ति संभव है।

प्रत्येक आत्मा परमात्मा की शक्ति लिये हुये है, पुरुषार्थ द्वारा उसे अभिव्यक्त करना है।

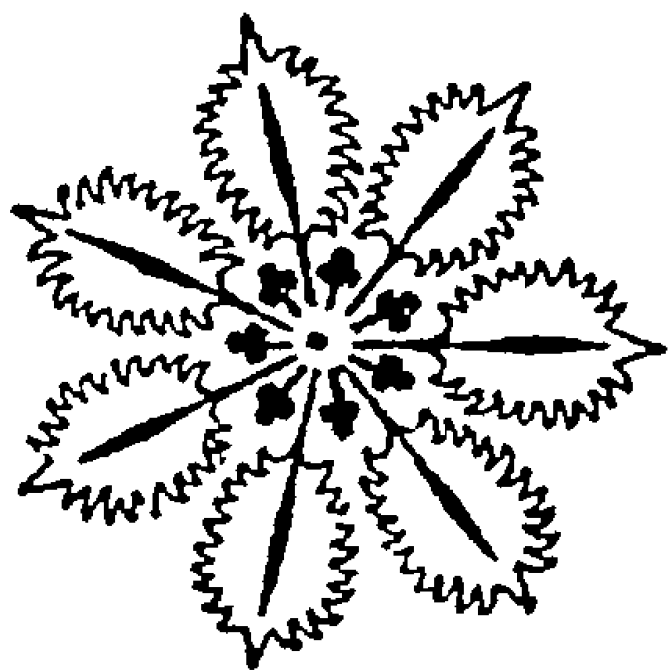
मन के विकल्प ही दुःख के कारण हैं। जब कोई श्रावक पूजा कर

मन्दिर से आता है तब उसके भाव कितने निर्मल स्वच्छ, पर उपकार की भावना से ओतप्रोत होते हैं, वह कहता है कि—

“सजपूको को, प्रतिपालको को, यतीन को यतिनायको को ।  
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले, कीजे सुखी हे जिन शाति दे ।”

यद्यपि दूसरे का भला-बुरा नहीं कर सकते, पर हमें प्रत्येक जीवमात्र के प्रति उपकार की भावना रखनी चाहिये, कथंचित् सहयोगी बनिये ।

श्रीर अन्त मे मै इतना ही कहता हू कि—देश के प्रत्येक व्यक्ति को कर्तव्य-पालन की शिक्षा देनी चाहिए । कर्तव्य-पालन से ही अधिकार प्राप्त हो सकते हैं । जब तक प्रजा में कर्तव्य-पालन की बात नहीं आयेगी तब तक प्रजातन्त्र सफल व पूर्ण नहीं होगा ।



# त्रियोग सहित आत्मावलोकन ही ध्यान है

योग का अर्थ है मन-वचन-काय की एकाग्रता । आत्मा में एकाग्रता ही ध्यान है । आत्म-तत्त्व की प्राप्ति न हो तो अध्ययन चाहे कितना ही हो सब व्यर्थ है । जब तक विकल्पो से मुक्त होकर ध्यान में मग्न नहीं हो, तब तक बंध ही होता है ।

माला जपना, स्वाध्याय करना, पूजा करना, इन सभी क्रियाओं का ध्येय आत्मा को पवित्र कर मुक्ति प्राप्त करना है । इन क्रियाओं के पीछे यदि सासारिक लालसाये हैं, तो धर्म सकीर्ण व सकुचित हो जाता है ।

भारत में योग की विविध प्रक्रियायें व तरीके प्रचलित हैं, लेकिन उन सब पद्धतियों का लक्ष्य इस ससार से मुक्ति प्राप्त करना है । दुकान चाहे काहे की हो पर ध्येय सबका धन कमाना ही है । माला जपना, स्वाध्याय करना, पूजा करना इन सभी क्रियाओं का ध्येय भी आत्मा को पवित्र कर मुक्ति प्राप्त करना ही है । इन क्रियाओं के पीछे यदि सासारिक लालसाये हो तो धर्म सकीर्ण या सकुचित हो जाता है किन्तु फिर भी ये क्रियायें सर्वथा मिथ्यात्वी नहीं कहला सकती अर्थात्—क्योंकि गृहस्थ सर्वथा इच्छामुक्त नहीं हो सकता । इसलिये इन धार्मिक क्रियाओं के पीछे कोई लालसा है तो उसे इसका अतिचार अवश्य लगेगा किन्तु सर्वथा मिथ्यात्व नहीं होगा । गृहस्थ द्वारा तीर्थंकर देव के दर्शन, स्वाध्याय, पूजा आदि सब दुखों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु ही किये जाते हैं ।

भगवान् महावीर ने सहज-साध्य योग पर बल दिया है, हठयोग पर नहीं। जितनी देर सहजता से मन स्थिर हो उतनी ही देर ध्यान करो। यह उपयुक्त नहीं है कि बाह्य रूप में तो आँख बंद कर बैठ जाये पर अन्तर में कोलाहल-विचार-मन्थन चलता रहे, यह ध्यान नहीं है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में निम्न गाथा लिखी है—

“जीवो चरित्तदसणाणाण्ठिदो त हि ससमय जाणे ।  
पोग्गल कम्मपदेसठ्ठिद च त जाण परसमय ॥”

जर्मन के पिशल नामक विद्वान् ने बताया, इसका अर्थ किया है कि प्रथम पक्ति में ‘जाणे’ शब्द प्रयोग किया गया है, यह जाणे शब्द स्वेच्छा-वाचक शब्द है जैसे हम व्यवहार में भी कहते हैं कि इस सन्दर्भ में तू जाने और तेरा काम। अर्थात् प्रथम पक्ति में ‘जाणे’ शब्द मुमुक्षु पर ही निर्भरता प्रकट करता है और द्वितीय पक्ति में प्रयुक्त ‘जाण’ शब्द आज्ञार्थक है। इस गाथा का अर्थ है कि मनवचन काय को एकाग्र कर सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चरित्र की एकता से स्व-समय में, आत्मा में रमण करना आपका कार्य है। मैं आपको आपकी आत्मा में स्थिर नहीं कर सकता, केवल संकेत दे सकता हूँ। यह आप जानें, कि किस प्रकार स्थिर होना है। पर यह निश्चित रूप से जानो कि पर से संबन्ध होना, पुद्गलकर्मों के साथ सम्बन्ध होना पर-समय है।

केवल आत्मा में एकाग्रता ही ध्यान है, योग है। मन, वचन काय का जोड़, जैसे  $2 + 2 = 4$  भी योग अर्थ है। ध्यान व योग पर्यायवाची शब्द है। ध्यान व योग मार्ग पर बढ़ने से पूर्व आत्मा का ज्ञान होना चाहिये, उसका स्वरूप ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा ध्यान का आलम्बन क्या होगा? वह द्रव्य-गुण-पर्याय-मयी आत्मा चैतन्य है, कूटस्थ नहीं है। प टोडरमलजी ने बताया है कि आत्मा की चैतन्यता को न जानने की स्थिति दो प्रकार की है—(१) एक अधा व्यक्ति जो मिश्री का रूप-रंग आकारित नहीं जानता, जब वह उसे चखता है तो कहता है मिश्री मीठी है, स्वाद को तो अभिव्यक्त कर सकता है, पर रंग-रूपादि बताने में असमर्थ है। इसी प्रकार (२) एक गूगा व्यक्ति है, उसके पास गुड है, वह गुड को देख सकता है किन्तु वह उसके बारे में कुछ भी अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार जब तक आत्मा का अनुभव न कर लें तब तक आत्मा के बारे में हमारा ज्ञान अवे की मिश्री व गूगे के गुड के समान है क्योंकि हम छद्मस्थ हैं। ग्रन्थ पढ़ने से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती। ग्रंथादि का पाठन करने से उस मार्ग पर अग्रसर तो है परं पूर्ण उपलब्धि नहीं हुई है। केवल ग्रन्थादि के पढ़ने से ही यह सोचे कि मैंने आत्मतत्त्व तो

जान लिया इसी प्रकार होगा जैसे एक गधे को शेर की खाल मिल जावे और वह यह विचारने लगे कि 'मैं शेर हूँ।' योग-ध्यान केवल पुस्तकें पढ़ने से नहीं आता, योग के पीछे साधना है, तपस्या है। किसी भी वस्तु की उपलब्धि साधना से ही संभव है। एक किसान अन्न प्राप्ति के लिये सर्व प्रथम जमीन साफ करता है, फिर उम पर हल चलाता है, बीज-वपन करता है, सिंचाई करता है, शीत-आतप सहन करता है, उसकी साज सभाल करता है तब फसल उत्पन्न होती है। अतः सर्व प्रथम आत्मस्वरूप पहचान कर योग मार्ग पर क्रम से बढ़ना होगा क्योंकि अनुभव, मनन व साधना क्रम से ही बढ़ती हैं।

योग का अर्थ है मन-वचन काय की एकाग्रता। योग के दो लाभ हैं (१) मानसिक तनाव से मुक्ति प्राप्त हो सकती है तथा (२) कर्मक्षय कर सकते हैं। योग क्रिया में योग-योगी व योगविधि का महत्व है। योगी जो अन्तरंग व बहिरंग त्याग कर योग में स्थिर हो वह योगी है। इसमें अन्तरंग व बहिरंग दोनों ओर से मन वचन व काय को निवृत्त करना होगा। ऐसा संभव नहीं है कि केवल अन्तरंग रूप से ही निवृत्त हो जाये या केवल बहिरंग रूप से ही निवृत्त हो जायें। बगुला बहिरंग रूप से ध्यान मग्न होता है किन्तु अन्तर में शिकार पर निगाह रहती है अर्थात् केवल बाह्यरूप में एकाग्रता के साथ बैठने मात्र से योगी नहीं बन सकता। पद्मपुराण में लिखा है कि केवल आखे बन्द कर, वचन बन्द कर बैठें और अन्तर में सकल्प-विकल्पो का जाल बिछ रहा हो तो वह ध्यान नहीं है, योग नहीं है। एक बहुत स्थूल उदाहरण लें—एक छोटी सुई है, धागा कुछ मोटा है, उस धागे को सुई में पिरोना है। यदि हाथ जरासा हिल जाये तो धागा नहीं पिरोया जा सकता, अतः शरीर को स्थिर करना होगा। यदि किसी से बात-चीत करते रहेगे तो धागा नहीं पिरोया जा सकेगा, अतः वचन व्यापार कुछ देर के लिये स्थगित करना होगा। और यदि मन किसी अन्य विचार में उलझ गया तो धागा नहीं पिरोया जा सकेगा, अतः मन को भी स्थिर करना होगा। जब मन, वचन और काय तीनों स्थिर हो कर सुई की ओर एकाग्र हो जायेंगे, तभी धागा पिरोया जायेगा, लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। इस समय अनेको विकल्प छूट गये और केवल एक विकल्प धागा पिरोना ही रह गया और लक्ष्य प्राप्ति हो गई। इसी प्रकार ध्यान करते समय 'मेरी आत्मा चैतन्य स्वरूप है' यह एक ही विकल्प रहे शेष रहे सब और छूट जायें तभी लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में लिखा है कि केवल शरीर हिलाने से, बोलने से कर्म बन्ध नहीं होता। बन्ध का निमित्त जब मन, वचन

और काय तीनों का ऐक्य होकर शुभ-अशुभ विचार वृत्ति हो तभी होता है ।

प० टोडरमलजी ने लिखा है कि एक व्यक्ति कुछ रुपये लेकर एक आभूषण खरीदने जाता है । उस समय उसके मन में आभूषण, रुपये आदि के सम्बन्ध में अनेक विकल्प उठते हैं, किन्तु जब वह आभूषण खरीद कर धारण कर लेता है तब उसके मन में कोई विकल्प नहीं रहता, अपितु उसकी प्राप्ति का आनन्द होता है । इसी प्रकार जब तक विकल्पों से मुक्त हो योग में, ध्यान में मग्न नहीं होते तब तक बन्ध रहता है, जब सब विकल्प छूट जायें तब केवल आत्मानन्द ही रहेगा ।

कन्नड भाषी कवि रत्नाकर की एक कविता का भावार्थ है कि केवल शास्त्रों को पढ़ना या उनको रटना पर्याप्त नहीं है, यदि आत्मतत्त्व की प्राप्ति न हो तो अध्ययन कितना ही हो सब व्यर्थ है, क्योंकि यदि पढ़ना ही पर्याप्त होता तो फिर तो ग्रन्थ के छपते समय कम्पोजिंग करने वाला व्यक्ति व उसमें सशोधन करने वाला व्यक्ति भी उन ग्रन्थों को पढ़ता है ।

पहाड़ो-नगरों की यात्रा करने से क्या लाभ प्राप्त होगा जब तक कि जिन योगियों के चरण-वन्दना के लिये पहाड़ों पर चढ़े हैं उनके बताये योग पर या मार्ग पर नहीं चले । बिना योग का प्रयोग (प्रैक्टिकल) किये शुद्धि कैसे संभव है ? इसी प्रकार केवल बहिरंग उपाधि के प्राप्त होने से लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा, इसके लिये अन्तरंग की शुद्धि चाहिये । जब तक एकाग्रता से, अन्तर में विराजमान परमात्मतत्त्व का दर्शन नहीं करते तब तक सब बाह्य प्रक्रियाएँ हेय हैं । गधे के द्वारा स्वयं को शेर समझने से तो वह शेर नहीं हो जाता । केवल रटने से नहीं अनुभूति में, स्वभाव में सिद्धान्तों को उतारने से ही कल्याण है ।

एक व्यक्ति था, बहुत क्रोधी । सब घर वाले उससे परेशान थे । एक दिन उसकी पत्नी एक महात्माजी के पास गई और पति का हाल बताया । महात्माजी ने उसे बुलाया और नित्य स्वाध्याय करने के लिये कहा, वह मान गया । नित्य स्वाध्याय करने लगा । एक दिन घर की सफाई करते समय उसका पट्टा-आसन व शास्त्र अव्यवस्थित हो गये, वस उसके क्रोध का पारावार नहीं । यदि ऐसे नित्य स्वाध्याय करके भी जीवन में परिवर्तन न आया, विचारों में मलीनता रही तो वह स्वाध्याय कोई काम का नहीं । स्वाध्याय, यात्रायें तभी सफल हैं जब उनके बाद आचरण में निर्मलता आने लगे । स्वाध्याय करते समय वैसी मान्यताएँ व दुकान में जाते ही उससे



विपरीत मान्यताये व आचरण हो ऐसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकती । घर में पाठ करें कि सदा सत्य बोलना चाहिये और घर से बाहर निकल कर झूठ ही झूठ बोलें, यह ठीक नहीं है । केवल बाह्य क्रियाकांड करने से कुछ नहीं होता । ज्ञान तभी पूर्ण है जब उसका व्यवहार में उपयोग हो । धर्म सब जगह समान है, दुकान का धर्म पृथक्, आफिस का धर्म अलग ऐसा नहीं है । श्रीमद् रायचन्द्रजी के बारे में गांधीजी ने लिखा है कि—उनकी विशेषता थी कि आध्यात्मिक धर्म व दुकान का धर्म उनके लिये एकसा था । एक बार एक व्यापारी ने कुछ कीमती मोती गलती से कम कीमत के भाव से श्रीमद् रायचन्द्रजी के पास उनकी दुकान पर भेज दिये । रायचन्द्रजी ने माल देखकर उन्हें वापस रख दिया और उसके मालिक के पास समाचार भिजवाये कि तुमने कीमती माल कमती भाव पर हमें भेज दिये हैं, उनका असली दाम बताओ । मालिक बोला कि मैंने उसके दाम सही बताये हैं । रायचन्द्रजी ने माल स्वीकारने के लिये इन्कार कर दिया । कहा पहले एक बार तुम इसे फिर देखो । मालिक आया, माल देखा तो उसे अपनी भूल ज्ञात हुई । पर रायचन्द्रजी ने थोड़े से घन के लोभ में आकर अपना धर्म, ईमान नहीं बदला । इस प्रकार मन्दिर व दुकान में जिसके समान भावनायें व आचरण हो वही सुमुमुक्षु है और तभी उसका शास्त्र पढ़ना सार्थक है । स्वाध्याय-तत्त्वचर्चा आदि तभी सही है जब वह आचार व व्यवहार में भी उतरे अन्यथा वह मात्र दिखावा है ।

सभी को शास्त्रादि पढ़ने का भी समान फल प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि पढ़ते समय के भावों का अन्तर फल के अन्तर का कारण है । स्फटिक मणि की भाँति आत्मा निर्मल है, पर मणि के संयोग से स्फटिक रंगीन हो जाती है । इसी भाँति आत्मा भी विकल्पो आदि से मलीन हो रहा है । जैसे चम्मच कढ़ाही में पड़ा भी मिठाई का स्वाद नहीं जानता इसी प्रकार हम भी स्वयं का आनन्द नहीं जानते । अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह से मुक्त हुये बिना आत्मानन्द नहीं प्राप्त कर सकते । एक अनपढ़ व्यक्ति भी यदि एकाग्रता से माला फेरता है, चित्त शुद्ध करता है तो वह मोक्षमार्ग प्रशस्त करता है ।

योग में मन-वचन-काय की एकाग्रता के साथ ध्येय भी पवित्र होना चाहिये, ध्येय पवित्र होगा तो साधन पवित्र होंगे, साधन पवित्र होंगे तो ध्येय पवित्र होगा । एक पवित्रता के लिये दूसरी पवित्रता अपेक्षणीय है ।

एक बार बालगंगाधर तिलक ने गांधीजी से कहा कि हम अंग्रेजों को इस प्रकार अहिंसादि से नहीं भगा सकते । उनके साथ सीधेपन से नहीं,

शठता से व्यवहार करना होगा। गांधीजी ने जवाब में कहा कि—वो ठग है इसलिये मैं भी ठग बनू ऐसा संभव नहीं है। मेरा उद्देश्य पवित्र है—तो साधन भी पवित्र ही होंगे।

व्यावहारिक जीवन पवित्र बनाये बिना अन्तरंग पवित्र नहीं हो सकता और अन्तरंग पवित्रता के बिना कर्मक्षय नहीं हो सकता। बिना पवित्रता के आध्यात्मिकता कोरी किताबी होगी, निरर्थक होगी।

योग के लिये आत्मा का स्वरूपज्ञान आवश्यक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहो द्रव्यों में आत्मा व पुद्गल ही क्रियावान् व शक्ति युक्त है। आत्मा पारिणामिक भाववाला है। उसको परम-पारिणामिक भाव की प्राप्ति करनी है, निष्क्रिय, पारमाणिक बनाना है। पाप-पुण्य की क्रिया के ग्रहण का रुक जाना ही निष्क्रियता है, इससे ही शुद्धता प्राप्त होगी।

सभी स्वाध्यायकर्त्ताओं को आत्मत्व की प्राप्ति हो यह आवश्यक नहीं है। यह स्वाध्यायकर्त्ता की एकाग्रता व मनकी पवित्रता पर निर्भर करता है। मानव अपने आचरण में अशुद्धता, झूठ बोलना आदि कार्य दो कारणों से करता है। (१) राग से (२) द्वेष से। मा बच्चे को अपने राग के कारण झूठ बोलकर भी बचाती है। पड़ोसियों, दुश्मनों पर द्वेष के कारण झूठा आरोप लगा दिया जाता है। ये मन को अपवित्र बनाते हैं। एकाग्रता में बाधक बनते हैं और एकाग्रता व पवित्रता के बिना लक्ष्य प्राप्ति संभव नहीं है।

बिना साधना के सिद्धि नहीं होती। पूजा-पाठ, स्वाध्याय, ध्यान, सभी में प्रमुख होता है—‘भावस्थैर्य’ (भावों की स्थिरता)। सामायिक में जब तक आत्मा के साथ वीतराग-भाव, परिणामों की निर्मलता न हो तब तक वह द्रव्य-सामायिक है, भाव सामायिक नहीं।

लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने से ही सफलता प्राप्त होती है। आत्मा का आत्मा में रत होना ही परमध्यान है।

ध्यान की छोटी-सी चिनगारी, असंख्यात कर्मों को जलाने में सक्षम है। ध्यान के साथ-साथ ज्ञान आवश्यक है। समता से ही योग में स्थिर हो सकते हैं। मन-वचन-काय की एकाग्रता से ही सिद्धि संभव है।

हमारे जितने भी तीर्थंकर हुये हैं सभी ने योग के द्वारा आत्मशुद्धि कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। भगवान् महावीर वारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक ध्यान करते रहे। भगवान् पार्श्वनाथ चार महीने तक ध्यान में अचल रहे। बाहुबलि एक वर्ष तक मन-वचन-काय स्थिर कर खड़े रहे। हमारे शास्त्रों में केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये शुक्ल ध्यान का उत्कृष्ट काल सैंतालीस मिनट बताया गया है। जब केवल इतने से समय के ध्यान से ज्ञान प्राप्त हो सकता है तब महावीर पार्श्वनाथ आदि को इतना समय कैसे लगा ? ध्यान के लिये अभ्यास की आवश्यकता है, प्रारम्भ में तो मन स्थिर ही नहीं हो पायेगा। द्रव्य पर मन स्थिर किया तो पर्याय पर आ जायेगा, पर्याय पर करना चाहेंगे तो द्रव्य पर आ जायेगा, पर अभ्यास से स्थिर होने लगता है। पूजा-पाठ, स्वाध्याय, ध्यान सभी में लक्ष्य शुक्लध्यान होता है, पर सभी में प्रमुख होता है भावस्थैर्य-भावों की स्थिरता। इसीलिये तो पूजा के भी दो भेद हैं—द्रव्यपूजा व भावपूजा। सामग्री आदि के चढ़ावे के साथ पूजा की जावे वह द्रव्य-पूजा है और द्रव्य-गुण में एकाकार-लवलीन होना भावपूजा है। इसी प्रकार नियमसार में लिखा है कि सामायिक के भी द्रव्य व भाव रूप से भेद हैं। शरीर को स्थिर कर, दृष्टि को नासिकाग्र कर मौन बैठना द्रव्य-सामायिक है। उसमें भाव स्थिर रहने पर ही वह भावसामायिक कहलायेगा। आसन जमाकर बैठ जाये और ध्यान कही और अटक जाये तो वह आर्तरीद्र ध्यान प्रारम्भ हो जायेगा। उसके बहिरंग रूप को देखकर देखने वाला भले तारीफ करे पर अन्तर में कोलाहल मचा हो, भाव शुद्ध नहीं हो तो वह द्रव्य सामायिक है। जब तक आत्मा के साथ वीतराग भाव, परिणामों की निर्मलता न हो तब तक वह द्रव्य सामायिक है।

योग के लिये पद्मासन, भद्रासन, सिद्धासन आदि में जिसमें भी सहजता अनुभव हो उसी आसन में बैठ कर भाव स्थिर करने की चेष्टा करे। बिना साधना के सिद्धि नहीं होती, योग भी साधन से ही सिद्ध होता है। भावनासार के अनुसार—हीरे को जब पानी में डाल देते हैं तो पानी की तरंगों के कारण वह हीरा भी दिखाई देना बंद हो जाता है, उसी प्रकार मन की चंचलता के कारण आत्मारूपी हीरे के दर्शन नहीं हो सकते। जब तक भावमन स्थिर नहीं होगा तब तक आत्म-अनुभव नहीं हो सकता। अक्षर पढ़ते चले जाना, शास्त्र पढ़ना आदि द्रव्य सामायिक है, बिना भाव स्थिरता के यात्रा करना द्रव्य-यात्रा है।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका में लिखा है कि वस्तु को समझने के लिये तीन साधन हैं, शब्द, अर्थ व ज्ञान। शब्द समयसार, अर्थ-

समयसार व ज्ञान समयसार । समयसार के तीन प्रकार हैं । समयसार का पद्यात्मक रूप, ग्रंथरूप, शब्द समयसार है । उसका भाव क्या है वह अर्थ समयसार है और उसका अर्थ हृदयङ्गम होने पर वह ज्ञान समयसार है, भाव समयसार है । जब तक भावसमयसार की प्राप्ति नहीं हो स्वाध्याय निरर्थक है, व्यर्थ है । जैसे 'घट' में शब्दघट, अर्थघट व ज्ञानघट । एक संस्कृत पढ़ने वाला बालक 'घट' को शब्द रूप ही जानता है । कुम्हार उस घट को अर्थ रूप ही जानता है कि घट क्या होता है और ज्ञानघट है—जिसमें उसका आकार प्रतिविवित होता है । घट टूटने पर भी यह भावरूप आकार खत्म नहीं होता । जब तक भाव समयसार की प्राप्ति नहीं होगी, आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा तब तक द्रव्य-समयसार, शब्द-समयसार का पठन-पाठन सफल नहीं होगा ।

योगाभ्यास प्रारम्भ करते ही आत्मसाक्षात्कार हो जाये, ऐसा नहीं है । श्रावक तभी है जब वह नित्य योग व भाव के साथ सामायिक करें । इसके अभाव में केवल जैनकुल में जन्म लेने से वह द्रव्य श्रावक है । श्रमण-साधु भी वही है जो भावों में एकाग्र है । धार्मिक मंत्र या स्तुति का सदैव मनन-चिन्तन करना चाहिये । किसी भी स्थिति में ही उसका मनन करना चाहिये । रामोकार मन्त्र जैसा पवित्र मन्त्र सदैव ताजा रहता है । यह कभी वासी नहीं होता, प्रत्येक स्थिति में (पवित्र-अपवित्र) इसका मनन हो सकता है ।

एक बार एक व्यक्ति को एक मुनि ने एक सरल-सा नियम दिया कि दुकान में ही जब भी समय मिले पाँच-दस मिनट एकाग्र हो सामायिक करना । उस व्यक्ति ने सोचा कि चलो अच्छा व सरल सा नियम है, न कही जाना होगा, न दुकान का हर्जा होगा । दुकान में बैठकर ही वह आख खोल सामायिक करने लगा । इतने में ही एक कुत्ता दुकान में घुसकर गुड की भेली खाने लगा । यह देख उस व्यक्ति के मन में अनेक विकल्प उठने लगे । यदि उठकर कुत्ते को भगाता हूँ तो नियम भंग होता है और यदि नियम पालन करता हूँ तो गुड की भेली जाती है । इसीसे एक कवि ने कहा है—

“सामायिक में समता भाव, तो गुड की भेली कुत्ता खाए ।  
बोले तो सामायिक जाये, नहीं तो गुड चले जाय ।”

मन में एकाग्रता न हो, विकल्प उठ रहे हों तो केवल ऐसे ही मुद्रा में बैठे रहने से कोई लाभ नहीं है । काय व वचन के साथ मन की एकाग्रता आवश्यक है । विकल्प वद होने पर एकाग्रता होने से ही किसी विशेष वस्तु का ध्यानयोग हो सकता है । प्रारम्भ में मेरा आत्मा शुद्ध, सिद्धों के गुणों के

समान, ज्ञानमय, निराकार है । ऐसे सोचकर ध्यान किया जाये किन्तु बाद में यह भी विकल्प त्याग कर विल्कुल एकाग्र होना चाहिये । क्षण भर के लिये एकाग्र होना भी सवर का कारण है । जैसे किसी भूली हुई वस्तु को स्मरण करने के लिये एकाग्र होते हैं, अनेक विकल्पो से मुक्त होते हैं उसी प्रकार गृहस्थी के प्रपचों से, विकल्पो से मुक्त हो । एक ही विकल्प रखकर ध्यान एकाग्र कर आत्म दर्शन की ओर अभिमुख हो सकते हैं । प्रतिदिन नाना विकल्पो से मुक्त हो थोड़ी देर एकाग्र होकर बैठिये । जैसे घर में एक बार अवश्य झाड़ू लगाते हैं वैसे ही मनमें धर्म-ध्यान से झाड़ू मार कर शुद्ध करें । ध्यान में चाहे आखें खुली रखें या बंद रखें पर मन स्थिर होना आवश्यक है । धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास के साथ रामोकार मंत्र का ध्यान करे, यद्यपि यह स्थूल ध्यान है किन्तु प्रारम्भिक स्थिति में उपयोगी है । स्थूल ध्यान के अवलम्बन से ही सूक्ष्म ध्यान की ओर बढ़ सकेंगे ।

एक बार एक व्यक्ति ने अमृतचन्द्राचार्य से कहा कि—मुझे दो पत्तियों में जैन धर्म समझा दीजिये । अमृतचन्द्राचार्य ने बताया कि—आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा प्रज्ज्वलित कीजिये व (गृहस्थ लोग) बहिरंग में दान-पूजादि सतत बनाये रखें ।

क्रिया कुछ भी हो पर लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने से ही सफलता प्राप्त होती है । गाव की एक महिला, सिर पर पानी का घड़ा, गोद में बच्चा लिये सहेली से बात करती हुई बढ़ती जाती है पर ध्यान उस घड़े पर केन्द्रित रहता है, अन्यथा घड़ा गिर जायेगा और पाव में चोट लग जायेगी । इसी प्रकार यदि लक्ष्य 'मुक्ति' है तो ध्यान की एकाग्रता बढ़ती चली जायेगी । कुछ देर भी प्रपच-विकल्पो को भूल पायेंगे तो अभ्यास से प्रयत्न बढ़ता चला जायेगा ।

लौकिक व्यवहार में देखते हैं कि लगभग प्रत्येक दुकानदार अपनी वस्तु की कुछ दिनों की गारंटी देता है, पखे, मोटर आदि की । इसी प्रकार अमृतचन्द्राचार्य ने योगाभ्यासियों को छ महीने में लक्ष्य की प्राप्ति होने की गारंटी दी है । दूसरों के गुण-गान करने मात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती । छह महीने तक ससार के जजाल से मुक्त हो, सर्व विकल्पो को त्याग मन वचन काय की एकाग्रता से ध्यान करने पर अवश्य ही लक्ष्य प्राप्ति होगी, आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान हो जायेगा । उपलब्धि स्वयं मार्ग पर चलने से प्राप्त होगी । आप सबसे भी यह कहता हूँ कि प्रतिदिन कम से कम

सैतालीस मिनिट एकाग्र होने का अभ्यास कीजिये, दृष्टि को नासिकाग्र रख, श्वास की गति को धीमी रख 'सोऽहम्' का ध्यान करे ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रमुख चार ग्रन्थ लिखे । समयसार द्रव्य दृष्टि को लेकर लिखा, पचास्ति-काय-प्रमाण दृष्टि को लेकर लिखा, प्रवचनसार-पर्याय दृष्टि को लेकर लिखा और नियमसार-साधना पद्धति के लिए लिखा । उन्होंने तीन गाथाओं (६६-६७-६८) में ध्यान का स्पष्ट विवेचन किया है तथा बताया है कि हे ज्ञानी ! 'सोऽहम्' का चिन्तन करो । चिन्तन करो—मेरा आत्मा परमात्मा के समान सम्पूर्ण शक्तिशाली है । 'सोऽहम्' में स्थिर होने पर आत्मा परमात्मा का भेद जान होना निश्चित है । 'नियमसार' साधना का मार्ग प्रशस्त करना है । आचार्य ने अपने स्वानुभव को इसमें रखा है । पर-पदार्थ में रुचि मिथ्यात्व का कारण है और स्व में रुचि, आत्मा में रुचि, सम्यक्त्व का आधार है और 'सोऽहम्' इसका सक्षिप्त साधन है । अभ्यास करते-करते अन्य विकल्पों को छोड़ 'सोऽहम्' का अवलंबन भी क्षण भर के लिए छोड़ एकाग्र हो जाइये । मन-वचन-काय की क्षण भर की एकाग्रता भी अत्यन्त उपयोगी है । पाँच मिनट के ध्यान में से एक क्षण भर भी एकाग्रता हो गई तो वह निर्विकल्प ध्यान हो जायेगा । द्रव्य सग्रह में परम ध्यान के लिये द्रव्य सग्रह की गाथा अडतालीस में कहा गया है कि काय से कुछ भी चेष्टा मत करो, मन से कुछ भी चिन्तन मत करो, वचन भी बन्द रखो, (कुछ देर के लिये 'सोऽहम्' को भी छोड़ दो) जिससे तुम्हारी आत्मा स्थिरता को प्राप्त हो । आत्मा का आत्मा में रत होना ही परम ध्यान है । जैसे चलती हुई गाड़ी ब्रेक के बाद एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती उसी प्रकार 'सोऽहम्' का ध्यान करते हुए तत्काल इसको भी कुछ देर के लिये रोके ।

विकल्पों को जबरदस्ती न रोके, अपितु सहज रोकने का अभ्यास करे । जबरदस्ती रोकने में भी दर्शनमोहनीय सतायेगा और निर्जरा नहीं होगी । दर्शनमोह—जहर के समान है और चारित्रमोह नशे के समान है । राम सीता हरण के बाद जंगल में पशु पक्षियों, पेड़-पौधों से भी पूछ रहे थे—तुमने सीता को देखा है, पर जब घायल जटायु मिल गया तो कुछ देर सीता को भूल कर उसकी सेवा सुश्रूपा में लग गये । इतनी देर सीता याद नहीं आई, पर जब जटायु का क्रिया-कर्म कर चुके तो पुनः सीता याद आ गई, मोह फिर जाग उठा । दर्शनमोह को निरस्त करना कठिन है, इसको केवल योग में स्थिर हो कर आत्मा का चिन्तन करके ही निरस्त किया जा सकता है ।

पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है कि जब तक दर्शनमोह को निरस्त

नहीं कर देते तब तक ध्यान में, योग में स्थिरता नहीं आ सकती। स्थिरता के बाद ही आत्मा के सूक्ष्मतम भावों का भी अवलोकन कर सकते हैं। नाना वैभव, धन-सम्पत्ति के बीच ध्यान एकाग्र करना कुछ कठिन है। एक भी विकल्प-शल्य, ध्यान नहीं होने देगा। इसलिये अन्तरंग में माया, मोह, मिथ्यात्व व शल्य का निदान कर त्यागना होगा। यदि लक्ष्य, उद्देश्य पवित्र है तो एक क्षण की एकाग्रता भी असंख्यात कर्मों की निर्जरा कर देगी। परमात्म-प्रकाश में लिखा है कि—जैसे अग्नि की एक चिनगारी भी रूई के ढेर को जलाने में समर्थ है, वैसे ही ध्यान की एक छोटी सी चिनगारी भी संख्यात कर्मों को जलाने में सक्षम है “ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्”।

ध्यान में द्रव्य व भाव दोनों की एकाग्रता आवश्यक हैं। समयसार के सर्वविशुद्ध अधिकार की टीका में लिखा है कि अन्तरंग योग व बहिरंग योग से ही एकाग्रता संभव है। जैसे—मकान को यदि केवल बाहर से ही सुघरावें, अन्दर कमरों में सफेदी नहीं करें तो यह भला नहीं लगेगा और यदि केवल अन्दर ही सफेदी करावे बाहर से मरम्मत नहीं करावें तो मकान टूटने लगेगा, गिरने लगेगा। अतः अन्त व बाह्य दोनों योग महत्वपूर्ण हैं।

एकाग्रता से विशुद्धि होगी, पर आवश्यक नहीं कि वह दिखाई ही देवे। प्रत्येक वस्तु दिखाई दे यह आवश्यक नहीं है। एकाग्रता से जो आत्मा की शुद्धि होगी वह अनुभव होगी, दिखाई नहीं देगी। ध्यान भी अभ्यास है इसके लिये उद्देश्य बनाये रखना होगा। ध्यान के साथ-साथ ज्ञान आवश्यक है। गलत विधि के साथ करेंगे तो उससे कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा।

समता भाव ही सामायिक है। समता से ही योग में स्थिर हो सकते हैं। सम + भाव = समता भाव है, यह कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं है। राग भाव के कारण असमता उत्पन्न होती है। एक स्थान पर कुश्ती दगल हो रहा है। एक ओर पजाब के पहलवान हैं दूसरी ओर उत्तर प्रदेश के पहलवान हैं। दर्शकों में पजाब के लोग, उत्तर प्रदेश के लोग व जयपुरवासी उपस्थित हैं। दोनों दल अपनी जीत पर खुश, व हार पर दुःखी हो रहे हैं। पर जयपुर वाले तटस्थ समभाव हो बैठे हैं, उनके लिये पजाब की जीत या उत्तर प्रदेश की जीत में कोई भेद नहीं है। कृष्ण ने भी कहा है कि जय-अपजय, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ में समता भाव ही सामायिक है, यह प्रारम्भिक सामायिक है। जब तक राग है तब तक समता नहीं है। जब तक एकाग्रता से भावसामायिक, भाव योग में तन्मय नहीं होंगे तब तक स्वाध्याय-प्रक्षाल



कुछ भी उपादेय नहीं होंगे । एक क्षण के लिये प्रक्षाल के समय भी एकाग्र हो जायें, वह भी भाव सामायिक हो जायेगा । एक बार एकाग्रता का जरा भी अभ्यास हो जायेगा तो फिर कहीं भी जरासा समय मिलते ही सामायिक कर सकते हैं ।

एक महाराष्ट्रीय कविता के भाव हैं—यह शरीर मन्दिर है, मन वेदी है, उस वेदी पर मेरी शुद्ध चैतन्य चमत्कार पूर्ण आत्मा विराजमान है । अपने ज्ञान-गगाजल से उस आत्मा का प्रक्षाल करें तो सचित्त कर्म नष्ट हो जायेंगे ।

आत्मा का आत्मा में रत होना ही ध्यान है, यही भाव प्रक्षाल है, भाव पूजा है, भाव सामायिक है । अभ्यास से ही ज्ञान सम्भव है । एक दिन विद्यालय में जाने पर ज्ञान प्राप्त नहीं होता । उपलब्धि के पीछे साधना होती है, परिश्रम होता है । क्षणिक 'योग' भी आगे का मार्ग प्रशस्त करता है । विश्वास के साथ अभ्यास फलदायक है । यह विचारना कि मेरे पास कुछ नहीं है, ठीक नहीं है । प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है ।

भगवान् महावीर के युग की बात है, चीन का एक सन्यासी भारत आने लगा । उस समय चीन के राजा ने यह नियम बना दिया था कि जो कोई भी देश की सीमा से बाहर जाये, चुगी चुका कर जाये । सीमावर्ती अधिकारियों ने उस सन्यासी को रोककर राजा का नियम बताया । सन्यासी सोच में पड़ गया—वोला—मेरे पास तो कुछ नहीं है, मैं क्या दे सकता हूँ ? विवाद बढ़ने पर वे राजा के पास गये । सन्यासी ने वहाँ भी कहा कि मेरे पास कुछ नहीं है । राजा ने कहा—कैसे नहीं है तुम्हारे पास तुमने इस घरती पर ज्ञान प्राप्त किया, अध्ययन किया-मनन किया है, वह तो तुम्हारे पास है । सन्यासी ने कहा— हा । राजा ने कहा— वस एक पुस्तक लिखो, उसे चुगी रूप में देदो और फिर चले जाओ । अर्थात् कुछ नहीं पर ज्ञान तो सब के पास है ।

मन-वचन-काय की एकाग्रता से ही सिद्धि सम्भव है । तीनों का उद्देश्य एक होना चाहिये । जैसे घड़ी में घटा, मिनट व सैकेण्ड दशानि हेतु तीन सुइयाँ होती हैं । तीनों का उद्देश्य समय बताना है । तीनों उद्देश्य की पूर्ति में निरन्तर रत हैं । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का व्यर्थ आत्मोपलब्धि है । रेडियो सुनने के लिए रेडियो, रेडियो स्टेशन व विद्युत् तीनों का ठीक होना आवश्यक है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य इन तीनों के 'सम' होने पर ही मुक्ति सम्भव है । केवल एक के माध्यम से मुक्ति नहीं है । यह तीनों भेद रूप भी हैं और अभेदरूप भी हैं । जैसे अग्नि भेद रूप भी है व अभेदरूप

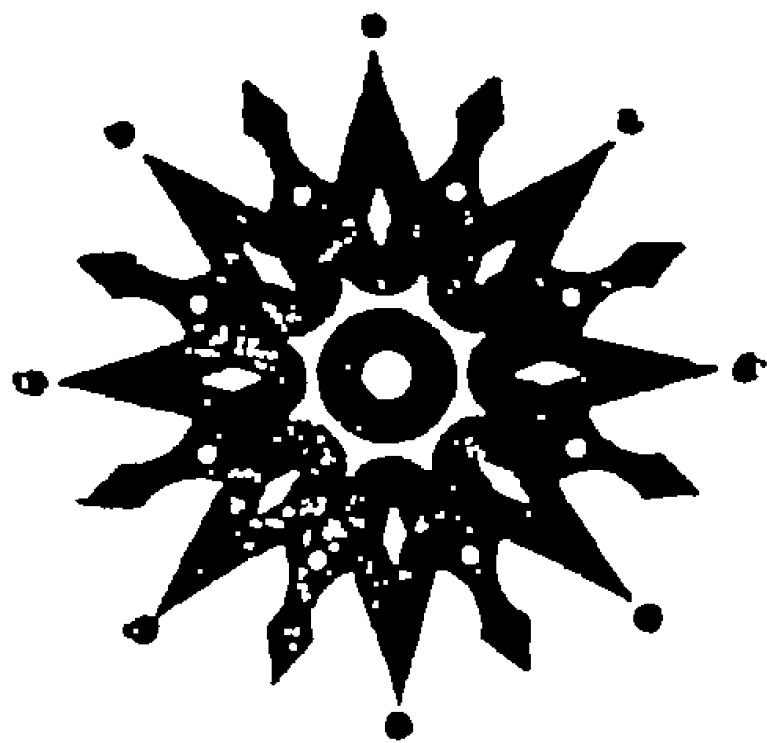


भी है । अग्नि में तीन गुण हैं—प्रकाश फैलाना, दाहकशक्ति व आतप (गर्मी फैलाने की) शक्ति, जहाँ अग्नि होगी ये तीनों गुण अभेदरूप से वहाँ होंगे क्योंकि ये अखण्ड हैं, केवल विविक्षा की दृष्टि से तीन हैं, पृथक् हैं ।

तुलसीदासजी ने कहा है कि पाँचों इन्द्रियों के विलास को छोड़कर जो परमार्थ को ध्येय बनाकर अपने में एकाग्र हो गया वही योगी है । योग—मन-वचन-काय की एकाग्रता योग है । योगी—इनको एकाग्र करने वाला योगी है । ध्येय—मुक्ति प्राप्त करना । सक्षिप्त में यही सार है ।

प्रत्येक मानव को योग का अभ्यास करना चाहिये । नेताजी सुभाषचन्द्र बोस आजाद हिन्द फौज में थे तो प्रातः एक घण्टा ध्यान का अभ्यास करते थे । उनके एक साथी ने कहा—आप यह प्रतिदिन आख बन्द करके क्या करते हैं । नेताजी ने उत्तर दिया—मैं बैटरीचार्ज करता हूँ । महान् क्रान्तिकारी भी एकाग्र हो सकता है, आत्मा में लीन हो सकता है तो आप श्रावक क्यों नहीं हो सकते ।

आत्मकल्याण के लिए योगाभ्यास उपादेय है ।



## दुर्लभ है संसार में एक यथार्थ ज्ञान

ज्ञान के लिये शरीर व कर्म बाधक है आत्मा तो ज्ञानमय है । मानव सर्वथा सत्यवादी या सर्वथा असत्यवादी नहीं होता । पूर्ण सत्य वाणी में नहीं समा सकता । न सर्वथा व्यवहार भ्रूण है, न सर्वथा निश्चय, अपितु दोनों युगपत् रहते हैं ।

मानव-जीवन व उसकी जीवन चर्या विचित्रता को लिये हैं । मानव पर कष्ट, उपसर्ग अथवा अशुभ का उदय आ जाये तो वह परेशान हो जाता है । अधर्म में प्रवृत्त हो उद्देश्य से भटक जाता है, पर जो महापुरुष होते हैं वे अपने ऊपर आये हुये कष्टों को सहिष्णुता के साथ झेल जाते हैं । उन्हें सहन कर लेते हैं । जीवन की घटनायें शुभ-अशुभ का खेल है । नारायण श्रीकृष्ण जैसे शक्तिशाली का जन्म कारावास में हुआ, जहाँ उनके जन्म के अवसर पर कोई गीत गाने वाला भी नहीं था और मृत्यु भी जंगल के बीच हुई, जहाँ कोई रोने वाला न था । बीच का सारा जीवन सघर्षों में, कौरव-पांडव की उलझनों के बीच कभी दूत बनकर तो कभी सारथी बनकर व्यतीत हुआ । साधारणसा बालक भी जन्म लेता है तो घर में काँसे की थाली बजाई जाती है, मंगल वाद्य बजाये जाते हैं, लेकिन उस महापुरुष के जन्म को गोपनीय रखना था । अतः किसी प्रकार का कोई मंगल वाद्य भी न बज सका । आज मानव अनेक दुरभिमानों में भ्रमण करता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, अधिकार है, इत्यादि । सदैव दूसरों को नीचे दिखाना चाहता है । उसने अपने स्वभाव को नहीं समझा । प० दौलतरामजी ने “छहढाला” में कहा है कि—“पुन्य पाप फल माहि, हरष विलखो मत भाई” । बहुत करुणा के साथ समझाया है कि तुम हर्ष और विपाद में क्यों पड़ते हो, यह सब पुण्य व

पाप का खेल है। महापुरुषों के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए कि छोटे से उपसर्ग से विचलित न होवे। जब महापुरुषों के साथ भी पुण्य और पाप, सुख और दुःख चलता रहता है तो हम तो साधारण मानव ही हैं। शुभ का फल और है तथा अशुभ का फल और। महापुरुषों का जीवन स्वयं में आदर्श है। उनके जीवन से अनेक अच्छाइयाँ व आने वाले सकटों से बचने की शिक्षा मिलती है।

हिमागढ़ नगर में सत्यन्धर राजा राज्य करते थे। विजया उनकी रानी थी। एक दिन महारानी विजया ने स्वप्न देखा, एक सुन्दर फल युक्त वृक्ष है, जिसे काट दिया गया। प्रातः उसने राजा से इसका फल पूछा। स्वप्न सुनकर राजा चिन्तित हो उठे। रानी समझ गई कि स्वप्न अशुभ फल युक्त है। अनेक मंत्रियों ने पहले भी राजा को समझाया था और अब भी कहा कि आपका प्रमुख मंत्री काष्ठागार दुष्ट है, वह अवश्य धोखा देगा। किन्तु, राजा ने विषयो में मग्न रहने के कारण किसी की बात नहीं सुनी। मनुष्य के जीवन में स्वप्न अच्छे बुरे कर्म दर्शाने के निमित्त बन जाते हैं। काष्ठागार मंत्री ने सेना को कब्जे में कर राज्य हथिया लिया। महारानी विजया को श्मशान में पहुँचा दिया। वहाँ पहुँच कर विजया ने जीवन्धर को जन्म दिया। जहाँ न दास थे, न दासियाँ थी। जहाँ मानव मृत्यु के पश्चात् आता है, ऐसे स्थान पर उस राजकुमार का जन्म हुआ। जन्म व मरण का कोई ठिकाना नहीं है, ये कही भी हो सकते हैं। इधर राजकुमार का जन्म हुआ और उधर तत्क्षण ही राजा की मृत्यु हुई। उसी समय गगोधर नामक नगर सेठ अपने सद्यः प्रसूत मृत बालक को श्मशान में लेकर आया था। वहाँ उसने एक भद्र महिला एवं नवजात शिशु को देखा और सारा हाल जानकर उस बालक को अपने घर ले आया तथा पत्नी से कहा कि यह मरा नहीं था, तुम्हें भ्रम हो गया था। सेठानी ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उसे अपनाया और प्यार से पालने लगी।

जीवन्धर बड़ा हुआ। उन्हीं दिनों आर्यनन्दी आचार्य भस्मक रोग के कारण वेशभूषा बदल कर घूम रहे थे। वे जीवन्धर के घर भी भोजन करने आये और घर में बना हुआ सारा भोजन समाप्त कर गये। इतने पर भी भूख शान्त न हुई तो जीवन्धर के हाथ में से लड्डू छीन कर खा गये। उस लड्डू के खाने से उनका भस्मक रोग समाप्त हो गया। सत्य है, एक पुण्यात्मा के कारण सारा वातावरण शान्तिमय हो जाता है, और एक पापी के कारण कलहपूर्ण हो जाता है। इस उपकार के प्रतिदान में आचार्य ने उसे बारह वर्ष

नक पढाया । जीवन्वर बहुत विद्वान् हो गये । उधर काष्ठागार व ग्वालो मे भगडा चल रहा था । जीवन्वर ने ग्वालो की ओर मे सेनापति वन काष्ठागार को वन्दी बना लिया और स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया । अब उसे अपनी अमलियत का भी पता चल गया था । उसे अपनी माँ की याद आई । उसकी खोज कराने पर वह एक साधु-सध मे साध्वियों की सेवा मे लीन मिली । माँ का पता लगने पर जीवन्वर वहाँ गया और माँ को राजमहल मे ले आया । कुछ दिनों बाद माँ ने सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की । जीवन्वर के द्वारा मना करने पर साध्वी पामाख्या ने कहा--हे "जीवन्वर ! तुम भी तो, इसी भव से महावीर के समवसरण मे दीक्षा ले मोक्ष जाने वाले हो, तुम कैसे अपनी माँ को उस मार्ग पर चलने को इन्कार कर रहे हो ।" जीवन्वर भी कुछ समय पश्चात् पुत्र को राज्य सौंप, तपस्या कर मोक्षगामी हुये । तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन मे आने वाले शुभ-अशुभ के उदय को आध्यात्मिकता से, यथार्थ के ज्ञान से ही दूर कर सकते हैं ।

“धन कन कंचन राज सुख,

सबहि सुलभ कर जान ।

दुर्लभ इस ससार मे,

एक यथार्थ ज्ञान ।”

यथार्थ ज्ञान ही मानव का दुःख दूर करने मे समर्थ है जबकि मानव आज थोडे से ज्ञान से ही हाथी जैसे भ्रमने लगता है और ममभक्ता है—मैं पूर्ण जाता हो गया, सर्वज्ञ हो गया । मन पर्यय ज्ञानधारी गौतम गणधर भी तीस वर्ष तक महावीर के समवसरण मे विद्यार्थी रहे । केवल शास्त्रो से ज्ञान प्राप्त करने से आत्म-ज्ञान हो जाये, यह आवश्यक नहीं । अर्थ-शास्त्र पढने से ही कोई करोडपति नहीं हो जाता है । यद्यपि ज्ञान सर्वोपरि है, पर ज्ञान के साथ त्याग भी आवश्यक है । जो ज्ञानी होगा वह त्यागी भी होगा और तभी वह मोह-माया से मुक्त होगा । आत्मा ज्ञानमय है । पशु-पक्षियों मे भी ज्ञान है । जैनाचार्यों ने ज्ञान को मनोवैज्ञानिक रूप से समझाया है—पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं । वह ज्ञान का विषय है, प्रमेय है । अन्वेरा है, कुछ दिखाई नहीं देता । प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि कुछ कैसे नहीं दिखाई दे रहा है, अन्वेरा तो दिखाई दे रहा है । प्राणियों मे कुछ भी ज्ञान न हो, ऐसा नहीं है । आशिक ज्ञान अवश्य होता है । ज्ञान परिपूर्ण है, पर उस पर आवरण लगे हुए हैं । मनुष्य को अंधेरे मे रखी हुई वस्तुएँ नहीं दिख पाती परन्तु उस

घनघोर अंधेरे में उल्लू को वारीक-से-वारीक कीड़े भी दिख जाते हैं, जबकि उसे सूर्य की रोशनी में दिखाई नहीं देता । ज्ञान के लिए शरीर व कर्म बाधक है, आत्मा तो ज्ञानमय है । यदि उल्लू मरकर मनुष्य पर्याय में जन्मे तो उसे दिन में दिखाई देने लगेगा । केवल पर्याय का अन्तर है । अर्थात् आत्मा के ज्ञान के लिए दिन, रात बाधक नहीं है, शरीर, नौ-कर्म, द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म बाधक हैं जिसमें वह फँस रहा है । द्रव्य दृष्टि से ज्ञान परिपूर्ण है, निर्मल है, आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है पर शरीर की सगति के कारण ज्ञान रुका हुआ है । पर्यायो से मुक्त हो जाता है उसके ज्ञान के लिए दिन-रात बाधक नहीं बनते ।

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा कि मेरी आत्मा शुद्ध है । पर्याय में अशुद्ध हो रहा है पर, मैं परम विशुद्ध चाहता हूँ । परम विशुद्ध का अर्थ है—जिसमें कोई भी दूसरा तत्त्व न मिला हो । आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति महा-पुरुषों की परम्परा से प्राप्त करनी होगी । कृष्णजी ने भी कहा है कि मुझे भी ज्ञान उस परम्परा से प्राप्त हुआ है । तत्त्व दर्शियों ने सत्-असत् को जैसा देखा है वैसा ही मैं आपको बता रहा हूँ । सत्य प्रत्येक पदार्थ में मौजूद है । किसी में आशिक है, किसी में पूर्ण है, केवल प्रकट करना बाकी है । बालक, बूढ़े सभी की बात को मान्यता दीजिये । एक बार कबीर एव उसका आठ वर्षीय पुत्र कमाल कही जा रहे थे । कबीर आगे थे और कमाल कुछ पीछे । रास्ते में कबीर को एक स्वर्णाभूषण पडा दिखाई दिया । कबीर के मन में विचार आया, इस आभूषण को देख कमाल की नीयत ना डोल जाये । यह सोच कबीर ने उसे पाव से मिट्टी से ढक दिया और आगे बढ़ गया । पीछे आ रहे कमाल ने देखा कि पिताजी ने रुक कर मिट्टी से कुछ बनाया है । उसने पिताजी से पूछा कि यहाँ आपने क्या किया था ? कबीर ने पहले बहाना बनाया किन्तु कमाल के बार-बार पूछने पर उसे बताना पडा कि यहाँ एक स्वर्णाभूषण है । तुम्हारी नीयत न डोल जाये इसलिए मैंने उसे मिट्टी से ढक दिया । तब कमाल ने कहा कि आपने मुझे से भूँठ कहा और आप साधु होकर भी मिट्टी व सोने में भेद समझते हैं । पुत्र की इस सीख से प्रेरणा ले कबीर ने दोहा बनाया—

बालहुते सिख लीजिए, उचित कहत जो होय ।

रविका जहाँ प्रकाश नहीं, दीप प्रकाशक होय ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक में भी ज्ञान मौजूद है । हमारे आचार्यों ने बताया है कि ज्ञान सब में है । ज्ञान का सर्वथा अभाव किसी में

नहीं है, किसी भी वस्तु में सर्वथा भाव-या अभाव नहीं। इस भाव को भली भाँति अभिव्यक्त करने हेतु ही सप्तमगी नय का सिद्धान्त बना है, कथंचित्, किसी अपेक्षा से, यह कथन की शैली है। जयपुर वासी कहता है कि—जयपुर वाले झूठ बोलते हैं, इस कथन में कहने वाला व्यक्ति (जो जयपुर का ही है) वह तो सत्य बोल रहा है। अतः जयपुर वाले सत्य व झूठ दोनों साथ-साथ बोल रहे हैं, दोनों विरोध एक साथ हैं इसलिये कोई सर्वथा सत्यवादी या सर्वथा असत्यवादी नहीं होता, पूर्ण सत्य तो वाणी में समा ही नहीं सकता। वस्तु को कथंचित् जानता हूँ, पूर्ण नहीं इसीलिये स्याद्वाद का प्रयोग किया जाता है। प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि—आप चन्द्रमा को देख रहे हैं, जानते हैं—पर वह भी आशिक है क्योंकि तुम इसे जैसा है उसी रूप में न जानकर छोटे रूप में गैद के आकार में जान रहे हो। पूर्ण ज्ञान तभी है जब द्रव्य, गुण पर्याय सहित जैसा है, जितना है उतना ही जानो।

कवि बनारसीदास ने नाटक समयसार में लिखा है एक व्यक्ति पहाड़ पर जन्मा, वही रहने लगा, कभी पहाड़ से नीचे नहीं आया। एक दूसरा व्यक्ति नीचे पृथ्वी पर जन्मा, वही बड़ा हुआ, कभी पहाड़ पर नहीं गया। एक दिन पृथ्वी वाले व्यक्ति को पहाड़ पर व्यक्ति दिखा, उसने सोचा—यह मानव जैसा कीड़ा कहाँ से आया? पहाड़ वाले व्यक्ति ने भी सोचा यह मानव जैसा कीड़ा कहाँ से आया? जब दोनों थोड़ी दूर आगे बढ़ पास में आये तो ज्ञात हुआ कि यह भी मानव है, जितना बड़ा मैं हूँ उतना बड़ा ही यह है। उसी प्रकार जब तक व्यवहार व निश्चय दूर-दूर है तब तक वे मिथ्यावादी हैं और जब पास आ जायें, समीप रहे, समान रूप में रहे तब वे दोनों सत्य हैं। न सर्वथा व्यवहार झूठा है न सर्वथा निश्चय झूठा है। व्यवहार झूठा है तो पर्याय का कथन कैसे होगा क्योंकि पर्याय का कथन व्यवहार से होता है। पर्याय व द्रव्य में गौण व प्रमुख की दृष्टि से वर्णन किया जाता है। इसीलिये स्यात् शब्द का प्रयोग किया है। व्यवहार व निश्चय दोनों युगपत् रहते हैं, समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। एक विवाह हो रहा है, उसमें एक कन्या व एक वर प्रमुख हैं, दोनों का विवाह एक साथ होगा, यह सम्भव नहीं है कि पहले कन्या का हो बाद में वर का, अथवा पहले वर का विवाह हो और बाद में कन्या का, दोनों का, विवाह एक साथ होगा। पर्याय व द्रव्य एक साथ ही तो हैं, एक ही में तो हैं, द्रव्य-पर्याय युगपत् है—ऐसे ही निश्चय व्यवहार भी युगपत् है। ऐसा नहीं है कि पहले व्यवहार होता है—और बाद में निश्चय, अथवा पहले निश्चय और बाद में व्यवहार होता है।

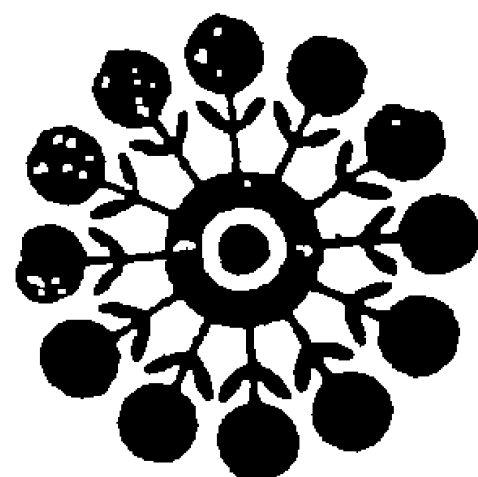
निमित्त कुछ लोग मानते हैं कि निमित्त आते हैं, कुछ लोग मानते हैं निमित्त की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो इसकी आवश्यकता नहीं मानते वे अपने ही लौकिक कार्यों के लिये कैसे निमित्त मिलाते हैं। दुकान में पैसे कमाने हेतु तो निमित्त मिलाते हैं पर धर्म के लिये वे मानते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता। यह भी कथंचित् सत्य है कि निमित्त कुछ नहीं करता परन्तु सर्वथा ही कुछ भी न करता हो यह भी उचित नहीं है, शास्त्र भी तो ज्ञान प्राप्ति का निमित्त है। यह सत्य है कि द्रव्यगत स्वभाव से ही क्रिया होगी, पर उदासीन सहारा निमित्त का है। एक छोटा बच्चा जो स्वयं खड़ा नहीं हो सकता वह दीवार का सहारा लेकर खड़ा हो जाता है, यद्यपि वह खड़ा तो स्वयं की उपादान शक्ति के कारण ही हुआ है पर दीवार भी तो उसके खड़े होने में सहायक रही। व्यवहार, निश्चय, निमित्त-उपादान अनादि से चले आ रहे हैं, पर जब आत्म-ज्ञान हो जावे तो न व्यवहार की आवश्यकता है न निश्चय की और न निमित्त की। व्यवहारनय, अशुद्ध निश्चयनय व शुद्ध निश्चयनय ये तो चम्मच हैं—एक स्टेनलेस स्टील का, एक चादी का और एक सोने का। इनसे खीर खाने वाले को खीर के स्वाद में कोई अन्तर नहीं आयेगा, ये चम्मच मुह में रह जायेंगे। इसी प्रकार ये तीनों नय ज्ञान परोसने वाले हैं। खीर के स्वाद की बात छोड़ चम्मचों के लिये लड़ाई-विवाद करना उपयुक्त नहीं है। द्रव्य सग्रह में कहा है—

पुद्गल कम्मादीण कत्ता व्यवहारदो दु णिच्चयदो ।

चेदणकम्माणदा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान-दर्शन मात्र का कर्त्ता है।

इसलिये मैं आपसे इतना ही कहता हूँ कि सिद्धान्त का ग्रहण पवित्रता में कीजिये, आत्मा के सामने तो तीनों ही नय अकिंचित हैं। ये तो ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं।



## जीवन : पुण्य-पाप का खेल

पर के प्रति कथंचित् कर्तृत्व भाव भी मुमुक्षु के उद्देश्य प्राप्ति में बाधक है। राग-द्वेष पूर्ण भावना ही बुरी है। पुण्य-पाप को छोड़ने पर कल्याण सम्भव है। उनको छोड़कर शुद्ध आत्म-द्रव्य का चिन्तन कर, ध्यान कर।

समस्त आध्यात्मिक तत्त्वों का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है, अपनी व्यक्तिगत आत्मा का विकास करना है। हमारी आत्मा का विकास कोई दूसरा नहीं कर सकता, वह केवल मार्ग बता सकता है। तीर्थकरो, सर्वज्ञों ने जिस मार्ग पर चल कर अपनी आत्मा का विकास किया और सर्वज्ञ बने, उम्होंने औरों को भी बताया। समयसार कलश में लिखा है कि— हम दूसरे का सुधार कर सकते हैं अथवा कर दिया, यह भाव जब तक हमारी आत्मा में है तब तक हम साधारण प्राणी ही हैं। पर के प्रति कथंचित् कर्तृत्व भाव भी मुमुक्षु के उद्देश्य-प्राप्ति में बाधक है। मुमुक्षु का शब्दार्थ है जो न पुण्य बाधता है और न पाप बाधता है—वह केवल निर्जरा करता है। यह कोई उपाधि या आरोपित करने योग्य शब्द नहीं है जैसे कि डॉक्टर की पत्नी के लिये 'डॉक्टरनी' शब्द आरोपित कर देते हैं। आज हम उपाधियों के बीच पर में उलझने के कारण स्वयं को भूल गये हैं। एक उदाहरण द्वारा इसको स्पष्ट करता हूँ। वादि-वृषभ आचार्य ने कहा है कि किसी भी चीज को समझने के लिये स्थूल उदाहरणों की आवश्यकता होती है। समयसार ग्रन्थ में भी अस्सी गाथायें उदाहरणार्थ ही लिखी गई हैं। अतः मैं भी आपको उदाहरणों के माध्यम से समझाता हूँ।

एक बार एक गाँव में दस जुलाहे अपना सामान पास के शहर में बेचने गये। लौटते समय उनके गाँव के पास की नदी वेग पर थी। किनारे



पर कोई नाव न थी, वे सब तैरना जानते थे । अतः उन्होंने तैरकर ही नदी पार करने का निश्चय किया और नदी में कूद पड़े । दूसरे किनारे पर पहुँचने पर उनमें से एक जुलाहे के मन में सदेह उत्पन्न हुआ । उसने कहा—हममें से कोई रह तो नहीं गया, खो तो नहीं गया, और इतना कहते हुये उसने अपने साथियों को गिनना प्रारम्भ किया, गिनती नौ तक ही पूरी हो पाई क्योंकि वह स्वयं को नहीं गिनता था । बार-बार गिना पर कोई अन्तर न हुआ । एक व्यक्ति खो गया यह देख सब जुलाहे जोर-जोर से रोने लगे । इतने में उधर से एक विद्वान् पंडित गुजरे, उन्होंने इतनी चीख-पुकार का कारण पूछा । जुलाहों ने उसे बताया । पंडित ने स्वयं गिनना प्रारम्भ किया, जो गिनने चाला था उसे भी गिना, पूरे दस सदस्य थे । तब उस व्यक्ति को अपनी भूल अनुभव हुई । इसी प्रकार हम भी मन्द बुद्धि स्वयं को भूल कर पर-विषय में ही लग रहे हैं, अपने उद्धार के विषय में कुछ भी नहीं मोचते । जबकि आचार्य कह रहे हैं कि—स्वयं की ओर देखो, स्वयं को पहचानो, स्वयं को खोजो । प्राणी पुण्य-पाप, नो-कर्म, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म में बध रहा है । बाइबिल में भी बध का एक प्रकरण है ।

मूलतः कर्म एक है, उसके पुण्य और पाप दो भेद कर दिये हैं । आचार्य कुन्द-कुन्द ने समयसार के चतुर्थ अध्याय की दूसरी गाथा में कर्म बध की शुभाशुभता का वर्णन करते हुये कहा है कि—जैसे लोहे की वेडी बधनकारी है—वैसे ही सोने की वेडी भी बधनकारी है । इन दोनों में से कोई भी वेडी बधी हो, मानव भलीभाँति नहीं चल सकता । इसी प्रकार पुण्य व पाप है । पुण्य सोने की वेडी है और पाप लोहे की ।

ससार में सबसे उत्तम जेल ब्रिटेन में है । उस जेल को फ्रांस का एक व्यक्ति देखने गया । प्रत्येक कमरे में रेडियो, टेलिविजन, टेलीफोन, फ्रिज, लाइब्रेरी सभी सुविधायें उपलब्ध थीं । देख चुकने पर जेल अधिकारी ने आगन्तुक से जेल के बारे में राय माँगी । फ्रांस के व्यक्ति ने हँस कर कहा—सब सुविधाओं के उपरान्त भी बधन तो है ही । कैदी को सजा की अवधि तो पूर्ण करनी ही होगी ।

पुण्य भी इसी प्रकार का बधन है अर्थात् इन्द्रिय जन्य सुख का कारण है और पाप इन्द्रिय-जन्य दुःख का कारण है । पर है तो दोनों बधन ही । एक महाराष्ट्रीय कवि ने इसी प्रकार के भाव 'सोने का पिंजरा' नामक कविता में बहुत खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किये हैं, जिसका भावार्थ है—एक सोने का

पिंजरा है जो अनेक मूल्यवान् हीरे-जवाहरातो से सुशोभित हो रहा है। तोता उसमें आराम से रहता है। परन्तु कभी-कभी उसे पिंजरे का वधन दुःखदायी महसूस होने लगता है और वह अपनी चोंच से पिंजरे का दरवाजा खोलना चाहता है। उसे म्वच्छन्द उड़ानें, उन्मुक्त विहार और नीम का कसैला स्वाद याद आने लगता है। इतनी सुख-सुविधाये होते हुये भी स्वतन्त्रता के आनन्दाभास से वह पिंजड़ा तोड़कर बाहर निकलना चाहता है। सत्य है कौन ऐसा है जो स्वतन्त्रता को त्यागकर मुस्वादु व्यजन व सुविधाओं वाली जेल में जाना पसन्द करेगा ? गुलाम जिन्दगी जीने से तो मर जाना बेहतर है, सब यही विचार करेंगे। कुत्ता भी यदि पुण्यात्मा है तो अत्यन्त सुख-सुविधा से रहता है पर वधन के साथ। पर पुण्य भी शाश्वत नहीं है। आचार्यों ने पाप-पुण्य को खेल-तमाशा बताया है।

एक बोध कथा है कि राजा भोज के राज्य में एक अत्यन्त गरीब व्यक्ति रहता था। वह अपने परिवार का भरण पोषण करने में असमर्थ था। गरीबी एवं दुःखों में घबराकर एक दिन वह आत्म-हत्या के विचार से नदी की ओर गया। नदी किनारे एक किसान अपने खेत से मक्का के सिरे चुन रहा था, उसने उस गरीब व्यक्ति को तीन मिरे दान स्वरूप भेंट किये। उन्हें प्राप्त कर वह उन्हें राजा भोज को भेंटकर धन प्राप्ति की आशा करने लगा। किन्तु मार्ग में किन्हीं बालकों ने अवसर मिलने पर उन मिरो को निकाल कर उनके स्थान पर तीन अधजली लकड़ियाँ रख दी। वह व्यक्ति पोटली लेकर दरवार में चला गया। वहाँ भेंट करते समय देखा कि पोटली में मक्का के स्थान पर अधजली लकड़ियाँ थी। यह देखकर राजा व मन्त्रीगण क्रुद्ध हो गये और उसे दण्ड देने की बात करने लगे। वही कवि कालिदास बैठे थे। उन्होंने कहा—महाराज ! उन तीन लकड़ियों में कुछ तत्त्व छिपा है ये भारत के तीन महापुरुषों की ओर संकेत करती हैं। (१) भगवान् आदिनाथ ने अपने समस्त कर्म जला कर मुक्ति प्राप्त की, (२) हनुमान ने मोने की लकड़ा को जलाकर बुराड़ियों पर विजय प्राप्त की, और (३) अर्जुन ने गण्डव वन को जलाया, किन्तु कोई आज तक ऐसा महापुरुष न हो सका जिसने विपन्नता को गरीबी को जलाया हो। राजा भोज ने मोचा—कालिदास सत्य कहते हैं। मैं यदि आगे दुनिया की विपन्नता को दूर नहीं कर सकना तो मुझे कम-से-कम उन व्यक्ति की विपन्नता को तो दूर करना चाहिये और राजा ने उस व्यक्ति को धन-धान्य से सम्पन्न किया। पुण्य-पाप का, शुभाशुभ का, मेघ-क्रान्त, पानी और गर्म होने का कुछ पता नहीं है।

कुछ आचार्यों ने पुण्य-पाप के बारे में एक नई दृष्टि दी है। बहुत से लोग पुण्य को अच्छा व पाप को बुरा बताते हैं तो कुछ लोग दोनों को बुरा समझते हैं। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि—यदि कोई आपको शिखरजी की यात्रा करवाकर लाता है, तो आप उसका गुणगान करते हैं कि इसके कारण मुझे यात्रा हो सकी। तब चौरासी लाख योनियों की यात्रा कराने वाले पाप-पुण्य को भी धन्यवाद दीजिये जिसने पंचपरावर्तन कराया, स्वर्ग-नरक की यात्रा कराई। यह आपकी इच्छा है कि आप आगे उस यात्रा के पथिक बनते हैं अथवा नहीं। पाप ने नरक एवं दुःखों से परिचय कराया और पुण्य ने स्वर्ग व वैभवादि की यात्रा करवाई, अब आपकी इच्छा है कि आप अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं—या पुनः इन्हीं यात्राओं के पथिक बनते हैं। न पाप बुरा है और न पुण्य बुरा है, अपनी-अपनी कथन शैली है। जो राग-द्वेष पूर्ण भावना है वह ही बुरा है। इसी से नाना विषयों में फँस कर व्यसनो में फँसने से दुर्गति होती है। इष्ट संयोग, अनिष्ट संयोग आदि अनादि हैं, उनको छोड़कर शुद्ध-आत्म-द्रव्य का चिन्तन कर, ध्यान कर। पाप-पुण्य को छोड़ने पर ही कल्याण सम्भव है। पुण्य वही अच्छा है जो दुर्गति से बचावे। वह पुण्य किस काम का जो व्यसनो में फँसाकर वर्धाद करे, वह पुण्य फिर भी उपादेय है जिससे धर्म आदि में वृद्धि बनी रहे।

एक दिन एक साधु भोजन करने जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक शराब की दुकान पर कुछ व्यक्ति परस्पर अत्यन्त प्रेम के साथ शराब पी रहे हैं। उन्होंने सोचा कि अरे! इतना प्रेम तो मुझ संन्यासी में भी नहीं है। भोजन करने के बाद जब वे वापस लौटे तो उन्होंने देखा कि वे व्यक्ति एक-दूसरे की छाती पर बैठकर कपड़े फाड़ रहे थे। तब फिर वे सोचने लगे कि ऐसा प्रेम किस काम का जो स्वपर को दुःख में डाल दे।

धन-वैभव के कारण विलास में, व्यसनो में फँसना अत्यन्त हानिकारक है। धन है, इसलिये उसका उपयोग व्यसनो में करना, धन का व पुण्य का गलत उपयोग है और उसी धन का प्रयोग जो धार्मिक प्रभावना के लिए करता है, वही उसका सदुपयोग है।

इस देश को बरवाद करने में शराब का बहुत बड़ा हाथ है। आशाघर सूरि ने सागर-धर्मामृत में कहा है कि—एक बूद शराब बनाने में इतने निगोदिया जीवों की हिंसा-हत्या होती है कि यदि उनके पख हो और उड़ने लगें तो उन्हें तीन लोक में बैठने का स्थान नहीं मिले।

मुझे नौजवानों से खास-तौर से कहना है कि—ऐसे व्यसनो से बचे रहे जो परिवार व बुद्धि दोनों को खत्म करते हो । भारत जैसी धर्म-भूमि में आज शराब घुस गई है—जबकि की पाश्चात्य देशों में इसको दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है । नौजवानों से यही कहना है कि यदि अब तक शराब का सेवन किया भी हो तो अब आगे न करने का सकल्प कीजिये । आज हम देखते हैं कि पढ़े-लिखे लोगों में शराब-वृत्ति अधिक पाई जाती है ।

एक कीर्तनकार था, उसने अपने पुत्र को कीर्तन विद्या के साथ सु-मस्कारों से भी परिमार्जित किया । एक दिन वे दोनों राज-दरबार में कीर्तन करने गये । पुत्र सत्यवादी था । उसने कीर्तन करते हुये कहा कि—जो एक दूध शराब पियेगा वह नर्क जायेगा । राजा शराब पीता था, उसने सोचा यह तो मुझ पर कटाक्ष है । राजा ने उसको सजा दे दी । पिता ने सोचा व्यवहार—कुशल न होने के कारण ही पुत्र वधन में पड़ गया । वह थोड़ा चालाक था, उसने एक तरकीब सोची, वधन में पड़े पुत्र को बताई । फिर राजा के पास जाकर कहने लगा—राजन् ! आपने मेरे पुत्र की बात पूरी नहीं सुनी यदि आप पूरी बात सुनते तो कभी सजा नहीं दे सकते थे, आप पुन उसकी सुनें । राजा मान गया । दुवारा कीर्तन हुआ । पुत्र ने कहा—जो एक दूध शराब पीता है वह नर्क में जाता है और जो पूरी वोतल पीता है वह स्वर्ग में जाता है । राजा पूरी वोतल पीता था वह खुश हो गया । तात्पर्य यह है कि सदिग्ध बोलकर, भ्रमित कर लोगों को खुश करने वाले बहुत हैं, पर मैं आपसे स्पष्ट रूप से कहता हू कि—शराब बिल्कुल न पीवें, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न खोयें । इससे आव्यात्मिक व लौकिक दोनों ही मार्गों पर अनेक कठिनाईयाँ आती हैं । मुफ्त में भी कोई आपको शराब पिलावे तो कभी न पीजिये । एक-दो बार मुफ्त पिला कर आपको वह व्यसनी बना देगा ।

जापान व अमेरिका की अधिकांश महिलाओं के स्तन-दुग्ध में, शराब व मानादि का प्रयोग करने से अनेक भयंकर रोगों के कीटाणु पाये गये हैं, पर गाय के दूध में कीटाणु नहीं मिलते, क्योंकि ये पशु शाकाहारी हैं ।

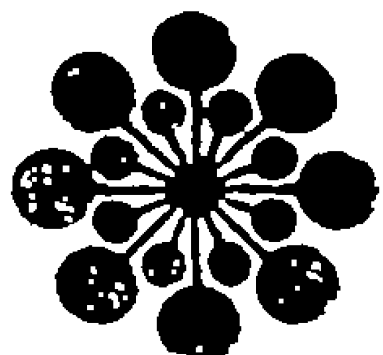
यदि आप कोई दान देना चाहते हैं तो यही दान दीजिये । प्रतिज्ञा कीजिये कि मैं, शराब नहीं पीऊंगा । महात्मा गांधी ने भी कहा था कि मैं

देश को व्यसनो से बचाऊँगा, शराब को बन्द कर दूँगा । पर उनके बाद हमारी सरकार ने ही शराब की दुकानें खोलकर इसे प्रोत्साहन दिया है । उनकी दृष्टि शराब से अधिक धन प्राप्ति की ओर थी । किन्तु हुआ कुछ उल्टा, शराब की खपत के साथ-साथ दगे-फसाद, अराजकता फैलने लगी, तोड़-फोड़ आदि से अत्यन्त हानि उठानी पड़ी और इन दगे-फसादों को रोकने के लिये पुलिस आदि की व्यवस्था बढ़ानी पड़ी । इस प्रकार शराब से प्राप्त आय, उससे उत्पन्न खतरों की सुरक्षा कार्यों में ही व्यय हो गई ।

मेरा आपसे यही कहना है कि आप सभी व्यसनो से बचिये, प्रतिज्ञा कीजिये कि किसी भी परिस्थिति में शराब नहीं पीयेगे ।



व्यसन मनुष्य को स्वभावतः नाश की ओर ले जाते हैं और शील सृजन की ओर । एक मरुस्थल है, दूसरा सुहावना उद्यान । एक शवयात्रा है, दूसरी शिवयात्रा है, एक उसकी स्वाभाविकताओं का क्षरण है, दूसरा जीवन का मुक्ति वरण । विकल्प मनुष्य के हाथ है, वह चाहे जिसे चुने । धर्म मनुष्य को शिवयात्रा की ओर मोड़ना चाहता है । जो इस मर्म को नहीं समझ सका उसे शवयात्रा की राह से भला कौन रोक सकता है ? बाढ़ पर आयी नदी की असयत धार किनारे काटती है, ठीक उसी प्रकार व्यसन मनुष्य के जीवन-तटों को काट देते हैं ।



## वस्तु-स्वभाव का ज्ञान ही सुख का स्रोत

स्वयं की पुण्याई, दैव व पुरुषार्थ के बिना कुछ नहीं मिल सकता । आध्यात्म का आधार ही राह सुभा सकता है । जो वस्तु-स्वभाव को जानता है वह दुःखी नहीं होता ।

ज्ञान होते हुये भी व्यसनो में फस जाये तो वह ज्ञान-ज्ञान नहीं है । बिना चारित्र के ज्ञान-ज्ञान नहीं है, ज्ञान का व्यभिचार है । आत्मा का ज्ञान-चेतन स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता ।

सृष्टि अनादि है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है । पदार्थ ध्रुव है, पर्याय उत्पाद-व्यययुक्त है । शाश्वत सत्य बाहर नहीं आत्मा में ही है, उसकी प्राप्ति में ज्ञान एक साधन है ।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है । सूत्र ऐसे हैं मानो राई में छेद कर सागर भर दिया हो । कहावत है— 'गागर में सागर' । पर यह भी तत्त्वार्थ सूत्र के लिये उपयुक्त नहीं लगती । गागर तो बहुत बड़ी होती है । ये सूत्र तो राई में सागर समेटे हुये हैं ।

ग्रन्थ में आचार्य ने कहा है—सुख-दुःख, जन्म-मरण सब जीव के उपकारक हैं । हम सोचते हैं, क्या कभी दुःख भी उपकारक हो सकता है ?

मरण भी उपकारक हो सकता है ? भागवत् मे एक स्थान पर कथा है कि भगवान् का दरवार लग रहा था, सब लोग बैठे थे । भगवान् ने सबसे अपनी इच्छानुसार वरदान मागने के लिये कहा । सबने अपनी इच्छानुसार धन-धान्य-पुत्रादि मागे । किन्तु एक व्यक्ति ने कुछ नहीं मागा । भगवान् ने पूछा—तुम क्यों नहीं मागते ? उसने कहा—मुझे कुछ चाहिये ही नहीं । भगवान् के पुन आग्रह पर उस व्यक्ति ने कहा—भगवन् ! यदि आप देना ही चाहते है तो मेरी सारी जिन्दगी दु खमय बनी रहे, ऐसा वरदान दीजिये । सब दरवारी, भगवान् हैरान हुए कि यह क्या माग रहा है ? उसने कहा—जब दु खी रहता हूँ, तभी धर्म-ध्यान व भगवान् का स्मरण करता हूँ, अत सारी जिन्दगी धर्म ध्यान व भगवान् का स्मरण करता रहूँ इसी कामना से मैं दु ख का अभिलाषी हूँ । इसलिये आचार्य ने कहा कि केवल सुख व जन्म ही उप-कारक नहीं है, दु ख व मरण भी कथचित् उपकारक हैं ।

यह ससार अत्यन्त दु खमय है । सर्वत्र कष्ट एव दु ख है । एक घनघोर भयानक जगल मे एक हिरण-हिरणी व उसके दो बच्चे चर रहे थे । चरते-चरते सध्या होने लगी । तिनके खाकर जीने वाले, सदैव भयभीत रहने वाले वे प्राणी, सुरक्षित स्थान मे रात बिताने हेतु पूर्व दिशा की ओर चल दिये । कुछ दूर जाने पर देखा एक शिकारी बाण खींचे चला आ रहा है । सामने सकट देख वे दक्षिण की ओर भागे । कुछ दूर चलने पर देखा उधर एक जाल बिछ रहा था, उधर भी सकट देखकर वे पश्चिम की ओर भागे, उधर भयानक आग लगी हुई थी । प्राणों की रक्षा हेतु वे उत्तर की ओर भागने लगे किन्तु वहाँ भी देखा एक व्यक्ति सात शिकारी कुत्तों सहित आगे बढ़ा चला आ रहा है । हिरण परिवार थक गया था, पैर काप रहे थे । हिरण कहता है—हिरणी चारों ओर के दु खों से बचना है तो जल्दी पैर बढ़ाओ, इधर से भाग चलो । हिरणी कहती है—मैं भी जल्दी आगे बढ़ना चाहती हूँ, पर ये दोनों बच्चे भय के मारे पाव से लिपट जाते हैं तो मैं भाग नहीं पाती, क्या करूँ, कैसे भागूँ, किधर भागूँ ? इसी प्रकार ये चौरासी लाख योनिया अत्यन्त दु खमय हैं । दुनिया मे कोई ऐसा प्राणी नहीं है जो सुखी हो । किसी भी व्यक्ति से पूछें, वह अपने दु ख का वर्णन करने लगेगा । सब अनेक विधि दु खी हैं । प्रपच के दु ख नानाविधि हैं । गरीब भी दु खी है, अमीर भी दु खी है । कभी भूकम्पादि से सकट उत्पन्न हो जाता है, कभी बाढ-सूखे आदि से ।

ससार के दु खों का चिन्तन करने से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होने

लगता है। बारह-भावनाओं का विचार करने से विरक्ति होने लगती है। इसलिये उमास्वामी ने कहा कि—इस शरीर का, जगत् का, हेय दृष्टि से चिन्तन करना चाहिये, यह वैराग्य को स्थिर करता है। प्रपञ्च से विरक्त होने के लिये, दुःखमय ससार में लिप्त न रहने के लिये, जगत् व काया की अस्थिरता का चिन्तन करना चाहिये। धार्मिक व्यक्ति के लिये यही उचित है। आज मानव की उस हिरणी से भी कई गुणा वदतर स्थिति है। आज हम स्वतन्त्रता की बातें करते हैं। गरीबी व दुःख दूर करने की बातें करते हैं, पर पाप-पुण्य के खेल को कौन मिटा सकता है? उनको तो भोगना ही पड़ेगा। जब तक प्राणी स्वयं शुभ-अशुभ के बारे में विचार नहीं करेगा, उसे अपने किये हुये कर्मों के फल को भोगना होगा, वे अटल हैं, उन्हें कोई नहीं टाल सकता। स्वयं की पुण्याई, दैव व स्वपुरुषार्थ के बिना कुछ नहीं मिल सकता। कर्म शृंखला को काटने के लिये स्व-पुरुषार्थ ही एक मात्र साधन है। राम के लिये राज्याधिकारियों ने राज्याभिषेक का मुहूर्त निकाला, पर दैव ने एक अलग मुहूर्त निकाल रखा था। मानव का निकाला मुहूर्त असफल रहा, दैव का मुहूर्त सफल रहा। सत्य है, कौन किसके दुःख को मिटा सकता है, केवल आध्यात्म का आधार ही राह मुझा सकता है। अतः आध्यात्म में ही लौट कर आना होगा, सम्यग्दर्शन पर विश्वास करना होगा, आत्म-विश्वास के साथ स्वयं को दीपक की भाँति अज्ञान के अधकार से जूझना होगा। जैसे दीपक रात भर अधकार से लड़ता है वैसे ही हमें भी अज्ञान रूपी अधकार (अज्ञान-तिमिरान्धाना) से लड़ना होगा, तभी अजर अमर हो सकते हैं अन्यथा नहीं। व्यावहारिक ज्ञान जैसे—सड़क के बायें ओर चलो, यह ज्ञान, ज्ञान नहीं है, अपितु अभीक्षण ज्ञान ही ज्ञान है।

आ० सोमदेव सूरि ने इस ससार का बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, जिसका भावार्थ है—यह सुन्दर दिखाई देने वाली दुनिया एक नाट्यशाला है। कर्म, पुण्य-पाप इसके निर्देशक हैं। इनके निर्देशन में प्राणी नाना तरह के नाटक करता है, सूत्रकार्य निभाता है और सर्वज्ञ परमात्मा इसके दर्शक हैं।

जब तक यथार्थ-ज्ञान नहीं होगा, दुःख दूर नहीं हो सकता, प्राणी दुःखी ही रहेगा। अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका के प्रारम्भ में ही लिखा है कि ससार—बढ़ाने की शिक्षा देने वाले, सासारिक कार्यों की शिक्षा देने वाले आचार्य तो प्रत्येक घर में बैठे हैं, पर आध्यात्मिक-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान



प्राप्त कर मुक्त होने की शिक्षा देने वाले आचार्य नहीं मिल पाते । प्रत्येक प्राणी दूसरे के प्रति, अज्ञान से बुरे भाव कर पाप कमाता है । आध्यात्मिक प्राणी सोचेगा, सब आत्माएँ समान हैं, दूसरे का भला-बुरा सोचना अज्ञान है, मैं किसी का क्या कर सकता हूँ ? इस प्रकार पुण्य-पाप ही सब करते हैं ।

एक छोटे से भोले-भाले बालक के पास एक बहुत सुन्दर मिट्टी का खिलौना था । बालक को उस खिलौने से बहुत प्यार था । एक दिन वह खिलौना हाथ से छूट कर टूट गया । बालक रोने लगा । समीप ही उसके माता-पिता खड़े थे, वे यह सब देखकर मुस्कुरा रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि खिलौना मिट्टी का है, टूटना इसका स्वभाव है । पर बालक इस स्वभाव को नहीं जानता है, इसलिये रो रहा है । बालक अज्ञान के कारण, स्वभाव न जानने के कारण दुःखी था । उसके माता-पिता ज्ञानी थे, वे उसके स्वभाव को जानते थे इसलिये दुःखी नहीं थे । जो वस्तु-स्वभाव को जानता है वह दुःखी नहीं होता । तभी तो कहा है 'वस्तु स्वभावो-धम्मो' । सम्यग्दृष्टि, धार्मिक वृत्ति वाला जीव मौत आने पर भी घबरायेगा नहीं, रोयेगा नहीं । वस्तु स्वभाव को जानता हुआ, धर्म का स्मरण करता हुआ जायेगा, और मिथ्या-दृष्टि मरते समय भी भगवान् का नाम स्मरण नहीं करेगा । वह मेरे मरण के पश्चात् दुनिया दुःखी होगी, इस दुःख से ही दुःखी होता हुआ मरेगा ।

कवि रत्नाकर की एक कविता का भावार्थ है—एक महिला अत्यन्त बीमार थी । डॉक्टर वैद्य सबने बहुत प्रयत्न किये पर सब व्यर्थ । वे भी रोग का ही इलाज कर सकते थे, मौत का नहीं । आयुक्षय हो गया तो मरण निश्चित है । बीमारी का कोई इलाज नहीं, मौत की बाट जोहती महिला रोये जा रही थी । मेरे इन बालकों का क्या होगा ? इसी विचार से दुःखी हो रोते-रोते शरीर त्यागा । पुनः स्त्री शरीर प्राप्त हुआ, कालान्तर में युवा-वस्था में विवाह हुआ, बच्चे हुये, फिर मरणोन्मुख हुई तो रोने लगी—हाय इन बच्चों का क्या होगा ? अरे इन बच्चों की चिन्ता करती है, पिछले जन्म में जो बच्चे छोड़कर आई उनका क्या हुआ ? यह क्रम तो चलता रहता है ।

अतः इस प्रपञ्च के दुःखों का स्वरूप का चिन्तन करने के बाद दृढ-श्रद्धा, आत्मविश्वास के साथ आध्यात्मिक परोपकारी, सेवाभावी प्राणी ही अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरे के लिये भी कल्याण मार्ग प्रशस्त करेगा । अज्ञान को हटाना ही उपादेय है । यदि दीपक हाथ में हो तो कुये में नहीं गिर सकता, काटो पर पैर नहीं रख सकेगा, पर यदि अंधेरा होगा तो शायद गिर

सकता है। प्रकाश है, ज्ञान है, तो मानव दुःखो में वच सकता है। वादि-वृषभाचार्य कहते हैं कि—यदि दीपक रहते हुये भी कुये में गिर जाये तो वह दीपक किसी काम का नहीं, इसी प्रकार ज्ञान होते हुये व्यसनो में फस जाये तो वह ज्ञान-ज्ञान नहीं हैं। महात्मा गांधी ने भी कहा है—बिना चारित्र के ज्ञान, ज्ञान नहीं है, ज्ञान का व्यभिचार है। सत्य-ज्ञान वही है जो आत्म-कल्याण की ओर प्रेरित करे, आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

सोमदेवसूरि के अनुसार—यह दुनिया एक नाटकशाला है। यह अकृत्रिम है, शाश्वत है, कुदरती है, इसे किसी ने नहीं बनाया है। सर्वज्ञ परमात्मा इससे प्रेक्षक हैं, देखने वाले है। बहुत से लोग कहते हैं कि दुनिया अकृत्रिम कैसे है ? ईश्वर ने इसे बनाया है। अच्छा, थोड़ी देर के लिये मान लिया कि ईश्वर ने सृष्टि-निर्माण किया। ईश्वर ने निर्माण किया अर्थात् उनमें कर्तृत्व गुण था, वे स्वयं थे—अर्थात् उनकी आत्मा थी। वे रहते कहा थे—रहने के लिये स्थान होना बहुत आवश्यक है अर्थात् 'आकाश' भी है। यहाँ दो तत्त्व हो गये, आत्मा-चेतन व आकाश अचेतन (जड)। आत्मा की गति के लिये 'धर्म-द्रव्य' व स्थिरता के लिये 'अधर्म-द्रव्य' भी होने चाहिये। कर्तृत्व गुण था तो उनमें और भी गुण होने चाहिये। जब ये सब सृष्टि-निर्माण के पूर्व ही मौजूद थे, सब तत्त्व पहले ही मौजूद थे, तो स्पष्ट है कि सृष्टि अनादि है—न प्रारम्भ है न नाश है। केवल परिवर्तन-परिणामन होता रहता है, करवट बदलती रहती है। खण्ड रूप प्रलय होती रहती है, पर सम्पूर्ण-सृष्टि नष्ट नहीं होती। भीषण अग्नि कांड होते हैं, शहर के शहर जल जाते हैं पर क्या कभी आकाश जलता है ? वह अजर-अमर है। जब ईश्वर है तो और पदार्थ क्यों नहीं थे ? सृष्टि अनादि है, अक्रम है, सत् है। सत्-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत्। पर्याय परिणामन होता रहता है। पर्याय की दृष्टि से उत्पाद व विनाश होता रहता है, पदार्थ ध्रुव रहता है। अगुली टेढ़ी हो गई इसका सीधापन नष्ट हो गया, टेढ़ापन उदय हो गया पर अगुली खत्म नहीं हुई, अगुली ज्यों की त्यों मौजूद है। इसी प्रकार बालावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आती-जाती रहती है, दूसरा जन्म धारण कर लेता है पर आत्मा नष्ट नहीं होती, वह अजर-अमर है। पदार्थ नष्ट नहीं होते केवल (अवस्थाओं में) परिवर्तन होते हैं। (पचास्तिकाय-१५ व) गीता में भी कहा है—'नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सत्'। पदार्थ शाश्वत है, परिणामनशील है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है—मिट्टी से घड़ा बना, घड़े के टूटने पर फिर मिट्टी से पुन घड़ा, इस प्रकार—निर्माण-व्यस में मिट्टी 'मिट्टी' ही बनी

रही, वह समाप्त नहीं हुई । जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वह समाप्त नहीं होता, वह शाश्वत है, सत्य है । लोक शाश्वत है, पर्याय परिवर्तनीय है । आत्मा का ज्ञान—चेतन—स्वभाव नष्ट नहीं होता, पर्याय नष्ट होती है । आत्मा में अनन्त शक्ति है ।

श्रीकृष्ण ने कहा है कि तीन लोक में केवल ज्ञान ही पवित्र है, उस पवित्र ज्ञान को जिसने प्राप्त कर लिया वही अजर—अमर है ।

सोमदेव सूरि ने कहा है कि, सुख-दुःख के देने वाले कर्म हैं, पाप-पुण्य है । इन कर्मों से मुक्त होने पर ही आत्मा परमात्मा बनता है । जीव ही पापात्मा व पुण्यात्मा कहलाता है । विशिष्ट पात्र के समान यह जीव नाना प्रकार के नाटक—व भूमिकाएँ करता है । जीव पुण्य-पाप से विरक्त होने के बाद ही शाश्वत सत्य को प्राप्त कर सकता है । शाश्वत—सत्य कहीं बाहर नहीं है, वह अपनी आत्मा में ही है । शाश्वत—सत्य को प्राप्त करने के लिये ज्ञान एक माधन है ।

कणाद महर्षि के जीवन की घटना है । वे एक दिन तत्त्व चिन्तन करते हुये चले जा रहे थे कि एक गड्ढे में गिर गये और तब भी चिन्तन में ही मग्न । उधर से गुजर रहे एक देवता ने उन्हें निकाला । उनके तत्त्व—चिन्तन की निमग्नता देख वे बहुत खुश हुये और एक वरदान मागने के लिये कहा । तब कणाद ऋषि ने वरदान मागा कि “मेरे नेत्र शास्त्रों का अध्ययन करते ही जायें, उन्हें कभी इस काम में बाधा न आवे । चलते समय मुझे शास्त्रों से आँखें हटा पृथ्वी की ओर देखना होता है, इसलिये आप ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे पैरों में भी दो आँखें हो जायें, जिससे वह पृथ्वी देखते हुये चलें और मैं पढ़ता रहूँ” ।

पुण्य-पाप से विरक्त हो, ज्ञान प्राप्ति की ऐसी प्रबल आकांक्षा एवं प्रयास ही अमर—पथ का पाथेय है ।



## श्री कृष्ण और उनका जीवन दर्शन

महापुरुष कभी किसी जाति विशेष के नहीं रहे, प्राणी मात्र के प्रति उनका दया-भाव व समताभाव रहा है।

ससार के प्रत्येक प्राणी में परमात्मा के समान शक्ति है, आवश्यकता है विकास की। अज्ञान से सशक्ति होने से ही दुःख होता है। भ्रम-बुद्धि को छोड़ना ही उत्तम है।

लड़ाई किसी सम्प्रदाय के कारण नहीं होती, मिथ्या बुद्धि के कारण होती है। धर्म सदा मैत्री कराता है।

केवल चर्म धोने से ही कर्म नहीं धुलते। क्रोध मान-माया-लोभ आदि छोड़ने से ही सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

भारत का इतिहास पढ़ते हैं तो ज्ञात होता है कि अनादि से यह भारत भूमि महापुरुषों की जन्मस्थली रही है। इस धरती के कण-कण में महापुरुषों का जन्म स्थान रहा है। जैसे प्रत्येक पेड़-पौधे छाया देते हैं, फल देते हैं, उनके पत्तों से औषधि, निर्माण होती है, अर्थात् उनका उद्देश्य ही उपकार करना होता है, उसी प्रकार महापुरुषों का जीवन भी उपकारमय होता है, उनके उपकार की सीमा नहीं है। हम उनके उपकारों को पुस्तकों आदि की सीमा में सीमित नहीं कर सकते। एक ही पेड़ के नीचे कभी खू खार शेर आकर बैठता है, तो कभी दयामयी गाय आकर बैठ जाती है, कभी कौवा तो कभी तोता, पेड़ सबको समान रूप से छाव प्रदान करता है वह किसी से भेद-भाव नहीं रखता। इसी प्रकार महापुरुषों का जीवन, उनके विचार भी भेद-भाव रहित, प्राणीमात्र के कल्याण के लिये होते हैं। मानव

अपनी शक्ति के अनुसार उन महापुरुषों के विचारों को पुस्तकों में समेटने का प्रयास करते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि सर्वज्ञ की दिव्य-ध्वनि को पुस्तकों में समेटते हैं, मानो महान् विशाल-समुद्र को छोटे से गिलास में, घड़े में समेट रहे हों। महापुरुषों के जीवन की घटनायें, उनके अनुभवों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अत्यन्त मूल्यवान् हैं। उन महापुरुषों के द्वारा बताया गया मार्ग हमारे लिये युगो-युगों तक प्रेरणादायक रहेगा। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, पदार्थ किसी जाति विशेष के लिये नहीं होते, प्राणीमात्र के लिये होते हैं, उसी प्रकार महापुरुष भी कभी किसी जाति विशेष के लिये नहीं रहे, प्राणिमात्र के प्रति उनका दयाभाव समताभाव रहा है।

स्वर्ण के गहनों, आभूषणों में आकार-प्रकार शिल्प आदि का भेद हो सकता है पर सबसे निहित स्वर्ण एक सा ही रहेगा। उसी प्रकार शरीरगत आकार आदि का भेद भले ही हो पर सब प्राणियों में ज्ञान-चैतन्य एकसा है। चीटी से लेकर हाथी तक सब में शुद्ध निराकार ज्ञानमय जीव है। चीटी एक घ्राणेन्द्रियमात्र से सूँघकर ढिब्वे में वन्द मिष्ठान का पता पा जाती है, अर्थात् उसमें भी ज्ञान है। चीटी एकेन्द्रिय से अपने अभीष्ट का ज्ञान करती है तो मनुष्य तो पचेन्द्रिय है। उसके ज्ञान का तो अन्त ही नहीं है। मछली को समुद्र में आने वाले तूफान का चौबीस घंटे पूर्व आभास हो जाता है और वह अपनी सुरक्षा के लिये काफी गहगई में जाकर बैठ जाती है। तूफान शान्त होने पर स्वयं ही ऊपर आ जाती है। यह ज्ञान वह कहीं सीखती नहीं है, ज्ञान उसमें पहले से ही अनुश्रुत है। ससार के समस्त प्राणियों में, कृमि कीटों में ज्ञान है, ये भी परमात्मा के समान शक्तिशाली हैं, पर विकास की आवश्यकता है। विकास की दृष्टि से मनुष्य बुद्धिमान है, और सर्वज्ञ के पूर्ण विकसित ज्ञान का अन्त नहीं है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की ही सीमा नहीं माप सकते फिर सर्वज्ञ के ज्ञान की तो सीमा ही नहीं है।

चार सूरदास थे, मति-श्रुत ज्ञानी। एक बार चारों मित्रों ने विचार विनिमय कर यात्रा करने का कार्यक्रम बनाया और निकल पड़े। पास में पैसा नहीं था, भोजन का साधन नहीं था। भूख लगने पर नगर के राजमहल की ओर बढ़े और येन-केन प्रकारेण महल में प्रवेश कर लिया। राजा से बात की। हम यात्रा के लिये निकले हैं, हमें भूख लगी है, भोजन चाहते हैं। राजा ने कहा—आज तो मैं भोजन करा दूँगा पर मार्ग में आगे क्या होगा? सूरदास बोले—हमारे पास मतिज्ञान-श्रुतज्ञान है, जिसके आधार पर हम

अपनी कलाओं को दिखाकर भोजन प्राप्त कर लेंगे । कलावान् कही भी जी सकता है । हममें से एक रत्न-परीक्षक है, एक अश्व परीक्षक है, एक नर परीक्षक है और एक नारी परीक्षक है । राजा ने सर्वप्रथम रत्न परीक्षक की परीक्षा लेनी चाही । पर सूरदासो ने कहा कि पहले हमें भोजन करा दीजिये, हम बहुत भूखे हैं । राजा ने रसोइये को आज्ञा दी इनको भोजन कराओ, साथ में एक छटाक घी भी देना । सूरदासो ने भोजन कर लिया । तत्पश्चात् राजा ने रत्न परीक्षक की परीक्षा ली । एक थाली में असली व नकली रत्न मिलाकर रख दिये । रत्न परीक्षक सूरदास ने कुछ ही समय में असली व नकली हीरे छाटकर अलग-अलग कर दिये । राजा ने पूछा—तुमने असली-नकली का भेद, आखो के न रहते हुये भी कैसे पहचान लिया ? राजा आश्चर्य चकित था । रत्न परीक्षक ने कहा कि जो रत्न भारी थे वे असली थे तथा जो रत्न हल्के थे वे नकली थे, मैंने इसी आधार पर जाच दिये । अब अश्व परीक्षक की वारी आई । राजा के अश्वालय में एक अश्व को पानी में बैठने की आदत थी । अतः परीक्षक से पूछा गया कि ऐसा क्यों है ? परीक्षक ने कहा कि इसने भैंस का दूध पिया है उसके पीने के कारण इसको पानी में बैठने की आदत पड़ गई है । तथ्य की सत्यता ज्ञात कराने पर निरीक्षक की बात सही निकली । अश्व की माँ जल्दी ही मृत्यु को प्राप्त हो गई थी अतः उसका पालन भैंस के दूध द्वारा किया गया था । राजा बहुत प्रसन्न हुआ । अब नर परीक्षक की वारी आई । राजा के स्वयं के वारे में बताने को कहा । अभयदान देने पर सूरदास ने बताया कि आप क्षत्रिय पुत्र नहीं हैं आप वनिया के पुत्र हैं । राजा ने कहा—ऐसा कैसे हो सकता है ? राजमाता से पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्वपुत्र की मृत्यु के पश्चात् एक वनिये के पुत्र को गोद लिया और वह तुम ही हो । राजा आश्चर्य चकित हो गया । मुझे स्वयं को पता नहीं कि मैं वनियापुत्र हूँ और यह सूरदास जान गया कैसे ? उसने सूरदास से जाच का आधार पूछा ? सूरदास ने कहा कि—आपने हमें भोजन के साथ एक-एक छटाक घी के लिये कहा, वह वनियेपन की निशानी है, क्षत्रिय कभी इस प्रकार माप-तौल की बात नहीं कर सकता था ।

तात्पर्य यह है कि मति-श्रुत ज्ञान का इतना चमत्कार है तो सर्वज्ञ ज्ञान के वारे में क्या कह सकते हैं ।

अब मैं आज के प्रतिपाद्य विषय के वारे में कहता हूँ । भगवान् कृष्ण का जन्म मथुरा में हुआ । इनमें पूर्व जन्म लेने वाले, इनके मव भाई-बहिनो को

मार दिया गया था । इसका जन्म कारावास में हुआ । अन्य भाई-बहिनो की जैसी परिणति न हो इस कारण इनके जन्म की बात गुप्त रखी गई । जैसे खान से स्वर्ण की प्राप्ति होती है वैसे इतने बड़े महापुरुष का जन्म कारावास में हुआ । उत्तर पुराण के अनुसार इनके पिता सगीत के महान् कलाकार थे, जनता मंत्रमुग्ध हो उनसे मगीतपान करती थी । पुत्र भी आगे जाकर वासुरी वादक हुये । कृष्ण जी बड़े हुये, ज्ञान विज्ञान बढ़ता चला गया । महापुरुषों का जीवन छिप नहीं सकता । श्री कृष्ण वज्रवृषभनाराच सहनन घारी थे । एक बार रुक्मणी को विचार आया कि कृष्ण शक्तिशाली है या नहीं ? किसी सन्दर्भ से रुक्मणी के विचार को भाप कर श्रीकृष्ण ने उसी समय अपनी अंगुली व अंगूठे के मध्य एक रत्न को पीमकर उससे तिलक लगा दिया, रुक्मणी की शका का निराकरण हो गया ।

एक बार पांडव-कौरव द्यूतक्रीडा में रत थे । धर्मराज युधिष्ठिर कौरवों में फस गये, राज्य खो बैठे और अन्त में द्रौपदी को भी दाव पर लगा बैठे । अपनी भूल के कारण राज्य खो दिया, वनवास भोगा । छोटी सी भूल छोटा सा राज भी अत्यन्त दुःख का कारण है । रामचन्द्रजी भी उस हिरण के राग के कारण सीता को खो बैठे थे । महापुरुष अपने जीवन के दृष्टान्त से हमें सिखाते हैं कि पर-पदार्थ का राग दुःख का कारण है । कौरवों ने राज्य पर आधिपत्य जमा लिया । पांडवों ने १४ वर्ष तक वनवास भोगा ।

वनवास के बाद श्रीकृष्ण पांडवों के दूत बनकर कौरवों के पास गये और पांडवों के लिये पांच गांव मागे । पर कौरवों ने सूई की नोक के बराबर जमीन देने से भी इन्कार कर दिया । श्रीकृष्णजी ने बहुत समझाया पर कौरव न माने । घनघोर युद्ध की तैयारियां होने लगी । युद्ध प्रारम्भ होने वाला था कि अर्जुन ने शस्त्र नीचे फेंक दिया । ओह ! ये सब मेरे सम्बन्धी हैं, भाई हैं इन पर तीर कैसे चलाऊ ? तब श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को सम्बोधित किया—अरे अर्जुन ! यह मोह तुम्हें सता रहा है और वह मोह ही तुम्हें डुबो देगा । तूने शस्त्र त्याग दिया तो लोग यह नहीं सोचेंगे कि तूने दया के कारण, प्यार के कारण, अहिंसा के लिये शस्त्र त्यागा है, अपितु सब यह कहेंगे कि—कायर है, इसलिये युद्ध के लिये तत्पर नहीं है । गृहस्थियों के लिये विरोधी हिंसा का त्याग नहीं है, सन्यासी के लिये त्याग है । जैनो के राज-नीति ग्रन्थ 'यशस्तिलकचपू' (सोमदेवसूरि कृत) में लिखा है कि—अबला पर, बच्चे पर असहाय, वृद्ध, रोगी व निहत्थे पर शस्त्र मत चलाओ । पर यदि कोई शस्त्र लेकर तुम्हारे पास गलत इरादे से आता है तो उस पर तुम



शस्त्र चला सकते हो । पर शत्रु सता रहा हो तो भी विनम्रता मत छोड़ो । धनुष भुङ्कता हूँ तो बाण दूर तक जाता है, यदि धनुष न भुङ्के तो बाण दूरगामी नहीं हो सकता । शत्रु के साथ विनम्र व्यवहार करो—कोई लकड़हाग जंगल से लकड़ियाँ काटकर सिर पर रखकर लाता है । लकड़ियाँ बहुत इठलाती हैं कि हम इसके सिर पर चढ़ी बैठी हैं, पर घर जाकर वे लकड़ियाँ झूल्हे में फूँक दी जाती हैं । शत्रु को सिर पर बैठाश्रो पर नीचे उतारने के बाद वह पुनः न उठ सके ऐसा पराक्रम करो । चक्रवर्ती खारवेल, सम्राट चन्द्रगुप्त आदि अहिंसक राजा थे, परन्तु समय पड़ने पर विरोधी हिंसा, राज्य आदि की सुरक्षा हेतु युद्ध आदि में तत्पर रहते थे । अर्जुन ने अहिंसा की भावना में धनुष नहीं छोड़ा । मोह के कारण छोड़ा, मोह कायर बनाता है । श्रीकृष्णजी के समझाने पर अर्जुन ने युद्ध किया । घनघोर युद्ध हुआ हजारों नाजवान मारे गये, चारों ओर करुण-क्रन्दन मच रहा था । अभिमन्यु (श्रीकृष्णजी के भानजे व अर्जुन के पुत्र) भी इस युद्ध में मारे गये । अभिमन्यु की मृत्यु से श्रीकृष्ण आकुल हो उठे । भयकर विनाश लीला देखकर उनके मन में करुणा उत्पन्न हुई । उन्होंने सोचा युद्ध तुरन्त बन्द करना होगा अन्यथा वश समाप्त हो जायेंगे । हे धर्मराज युधिष्ठिर से बोले—तुम ऐलान करदो कि अश्वत्थामा मर गया । धर्मराज ने झूठ बोलने से इन्कार कर दिया । उसी समय अश्वत्थामा हाथी की मृत्यु हो गई । श्रीकृष्ण ने इस समाचार का ऐलान करवाया—‘अश्वत्थामा हता गजा’ गजा शब्द आते ही शख फूँक दिया गज शब्द नहीं सुनने दिया । विरोधियों ने सुना कि हमारे अश्वत्थामा हत हो गये हैं तो वे घबरा गये । युद्ध समाप्त हो गया ।

व्याकुल श्रीकृष्ण व अर्जुन ने जब कुन्ती को अभिमन्यु का मृत्यु का समाचार सुनाया तब कुन्ती ने उन्हें कहा—अर्जुन के हाथ में गाडीव धनुष है श्रीकृष्ण के हाथ में सुदर्शन चक्र है । इनके होते हुये मुझे बुढ़ापे ने ग्रसित कर लिया । मैं भूखी रह रही हूँ, इतना तो मैंने सहन किया, पर पोते के मरने का समाचार सुन रही हूँ, धिक्कार है मेरे जीवन को । तुम्हारे रहते यह सब अनर्थ हो गया ।

तब श्रीकृष्ण ने कहा—

न कर्तृत्व न कर्मणि लोकस्य सृजति प्रभु ।

न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ ५-१४ ॥

जन्म-मरण श्वेद-खेद में मैं कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता, ये सब पाप-पुण्य के खेल हैं ।



श्रीकृष्ण गुणग्राही थे । छान्दोग्यउपनिषद् में लिखा है कि—श्रीकृष्ण जी ने तीर्थंकर नेमिनाथजी से अहिंसा, तप आदि की शिक्षा प्राप्त की । उनकी गुणग्राह्यता के बारे में एक बार एक देव के मनमें कुछ शका उत्पन्न हुई, उसने श्रीकृष्ण की परीक्षा लेने की बात सोची और श्रीकृष्ण-वलराम के सामने मार्ग में एक रोगी सड़ा हुआ कुत्ता प्रस्तुत किया । वलराम ने श्रीकृष्ण से कहा—तुम उधर से मत जाओ, इधर से निकलो उधर दुर्गन्ध आ रही है । श्रीकृष्ण ने कहा—दुर्गन्ध की ओर ध्यान मत दो, देखो इसके दात कितने सुन्दर हैं । हे वलराम ! किसी के पास एक भी गुण हो तो दृष्टि उसके गुणों की तरफ रखो, उसके गुण ग्रहण करो, अवगुणों की ओर मत देखो । एक बार गांधीजी से एक व्यक्ति ने कहा कि—आपका अमुक दोस्त कह रहा था कि गांधीजी में यह कमी है, अवगुण है । गांधीजी बोले अरे मुझ में तो बीसियों कमियाँ हैं, उसे एक ही कमी का पता है । महापुरुष गुणग्राही होते हैं, छिद्रान्वेषक नहीं । केवड़े का पेड़ टेडामेडा होता है, कीचड़ में सना रहता है साप लिपटे रहते हैं परन्तु उसकी सुगन्ध के कारण सब कोई उस चाहते हैं । प्रत्येक प्राणी में कोई न कोई गुण अवश्य होता है । ‘अयोग्य पुरुषोनास्ति’—कोई भी मानव अयोग्य नहीं है । अतः जीवन में ऊँचे उठने के लिये गुणग्राही बनना चाहिये ।

युद्धादि के विनाश से बचकर श्रीकृष्ण व वलराम जंगल में गये । श्रीकृष्ण को प्यास लगी, वलराम उनके लिये पानी लेने गये । जंगल में जरद नामक व्यक्ति ने हिरण समझकर उधर बाण फेंका । वह बाण श्रीकृष्णजी को आकर लगा, जिससे वह घायल हो गये । जरद घबराया । श्रीकृष्णजी ने उसे क्षमा किया और आशीर्वाद दिया कि तू स्वर्ग में जा । उसके प्राणों की रक्षा हेतु उससे कहा कि—तू शीघ्र ही यहाँ से चला जा अन्यथा वलराम आयेंगे तो वे तुझे छोड़ेंगे नहीं । कुछ देर में ही उनकी मृत्यु हो गई । एक महापुरुष जिनका जन्म कारावास में हुआ और मृत्यु जंगल में, जहाँ कोई सम्बन्धी रोने वाला भी नहीं था । वलराम पानी लेकर आये । कल्पनातीत घटना, श्रीकृष्ण की मृत्यु को देख अत्यन्त दुःखी हुये । वलराम राग के कारण अनेक दिन तक उनके शव को लेकर फिरते रहे, अन्त में एक पर्वत पर जाकर रख दिया । श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष ने युद्ध में दूत बनकर, सारथी बनकर अनेक कष्ट सहे । ‘पर देश को नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सत्’—जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता, जो असत् है वह सत् नहीं हो सकता, का धार्मिक, दार्शनिक सिद्धान्त दिया ।

युद्ध भूमि में भी श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ आत्मा परमात्मा की, द्रव्य गुण-पर्याय की, तत्त्वज्ञान की चर्चा करते रहे । यह भारत की क्षत्रिय परम्परा रही है कि दुःख कष्टादि के बीच भी धर्म नहीं छोड़ते । हम कहीं भी रहे पर ज्ञान-चेतना, आध्यात्मिक चेतना जागृत रहनी चाहिये । जो मनुष्य आध्यात्मिक होगा वह ज्ञान चेतना को नहीं छोड़ेगा, उसमें परमात्मा के समान शांति का स्रोत बहता रहेगा ।

श्रीकृष्ण व युधिष्ठिर के जीवन में अनेक कष्ट आये । मानव-मन कितना निम्न श्रेणी तक पहुँच जाता है कि स्वयं के भाइयों के लिए लाक्षागृह बनवाता है, अपने ही भाइयों को जीवित जलाने की बात कौरवों के मन में आती है । इतिहास में एक भातृ-प्रेम रामचन्द्रजी का है और एक भातृ-प्रेम कौरवों का है । अनेक कष्ट सहन करने के बाद पांडव तपस्या कर शुक्लध्यान के द्वारा मुक्त हो आत्मा से परमात्मा बन गये । निर्वाणकांड में इसका उल्लेख है ।

मानव जीवन अत्यन्त सघर्षमय है, सघर्षों का कोई अन्त नहीं । श्रीकृष्णजी ने युद्ध भूमि में भी धर्म को, आध्यात्म को नहीं छोड़ा, हम भी कलह, दुःख, भाई-वन्धुओं की लड़ाई में धर्म न छोड़ें । जो धर्म में जागृत होगा वह अपनी आत्मा को ससार में नहीं फसायेगा । कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्ट-पाहुड में लिखा है कि छोटी सी सूई यदि धागे सहित होती है तो वह खोती नहीं है बिना धागे के सूई खो जाती है । ऐसे ही तत्त्वज्ञान के छोटे-छोटे सूत्र इस आत्मा के साथ होंगे तो आत्मा जगत् में भ्रमित नहीं होगी । बिना तत्त्व-ज्ञान के यह आत्मा जगत् में भ्रमण करती रहती है ।

एक महिला सिनेमा के परदे पर तूफान-आधी वर्षा देखकर सोचने लगी—मेरी छत पर कपड़े सूख रहे हैं वे उड़ जायेंगे, भीग जायेंगे उन्हें चलकर उठा लूँ, और वह सिनेमा घर से उठकर शीघ्रता से घर की ओर चल दी । शीघ्रता के कारण एक मोटर से टकरा गई और मर गई । मृत्यु है—नकली को अमली समझ भ्रम-बुद्धि से हम दुःखी होते हैं, अपना नाश कर लेते हैं । ससार में भ्रम-बुद्धि के कारण सब जीव दुःखी हैं । विपरीत अभिनिवेश—रम्सी को मर्प समझने से ही भटकते हैं । जिनको सत् का, द्रव्य गुण पर्याय का, तत्त्व का, असत् का ज्ञान नहीं, वे ससार में भटक जाते हैं । जिन्होंने इनका अनुभव किया है, वे अजर-अमर हैं । अज्ञान से सशक्त होने से ही दुःख होता है, भ्रमबुद्धि को छोड़ना ही उत्तम है ।

दो दोस्त थे, प्रगाढ मित्र, पर किसी मित्र के द्वारा बहकाने पर वे भ्रम के कारण आपस में लड़ बैठे और परस्पर मित्र से शत्रु बन गये । ससार में भाईयो में, घर गृहस्थी में, समाज में, जाति में भ्रम के कारण, समता के अभाव में ही युद्ध होते हैं । आध्यात्मिक विद्या के बिना समता भाव उत्पन्न नहीं हो सकता । कौरव पांडव एक कुल के, भाई-भाई होकर लड़ते रहे, लड़ाई किसी संप्रदाय आदि के कारण नहीं होती, मिथ्या-बुद्धि के कारण होती है । धर्म कभी नहीं लड़ाता है, वह मैत्री कराता है जो लड़ाई कराये, वह धर्म नहीं अधर्म है । धर्म कैसे धर्म का विरोधी हो सकता है ? सत्य कैसे, सत्य का विरोधी हो सकता है ? अग्नि कैसे अग्नि की विरोधी हो सकती है ?

एक व्यक्ति ने शका की कि धर्म कहा है ? आत्मानुशासन में इसका उत्तर दिया गया है कि—धर्म आत्मा में है, मन में है । जब तक मन में धर्म है तब तक वह शत्रु को मारना भी हेय समझता है, वह स्वयं अपने दुष्कर्मों से मर जायेगा, हम क्यों मारे ? पर मन से धर्म के हटने पर पिता द्वारा पुत्र की पुत्र द्वारा पिता की हत्या भी संभव है । अज्ञातशत्रु ने अपने पिता श्रेणिक को जेल में डाल दिया था, ऐसे अनेक उदाहरण हैं । अधर्म दोनों का नाश कर देता है । धर्म कहीं किनाबो में, जंगल पर्वत में, नहीं है, कहीं बाहर नहीं है, आत्मा में है, इसी के सहारे दुनिया सुरक्षित है । सुरक्षा के लिए वीतराग धर्म की आवश्यकता है । जिस प्रकाश में अधिकार अश मात्र भी नहीं है, जिस ज्ञान में अज्ञान का अश मात्र भी नहीं हो, वही सत्य है, सच्चा ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है । एक लड्डू में सरसों के दाने के समान जहर का अश भी मारक है ।

एक बार युधिष्ठिर वगैरह तीर्थ यात्रा के लिए जा रहे थे, वे श्रीकृष्ण के पास गये और यात्रा में साथ-साथ चलने का आग्रह किया । श्रीकृष्ण स्वयं नहीं गये, एक तुबी का फल दिया और कहा—तुम इसे तीर्थ यात्रा करवा लाओ । यात्रा से लौटने पर युधिष्ठिर ने तुबीफल श्रीकृष्ण को वापस लाकर दिया और बताया—कि हमने सब तीर्थों पर एक-एक बार स्नान किया पर इस फल ने सैकड़ों बार स्नान किया है । हर यात्री आपके द्वारा प्रदत्त फल है, यह जानकर इसे साथ लेकर स्नान करता था । श्रीकृष्ण ने कहा—अच्छा अब इसको खाओ । सवने काटकर एक-एक टुकड़ा मुँह में रखा और थू-थू करने लगे, बहुत कड़वी है, बहुत कड़वी है कहने लगे । इतना स्नान करने पर भी उस तुबी का कड़वापन नहीं गया । अतः केवल चर्म धोने से कर्म नहीं धुलते । क्रोध-मान माया-लोभ, मिथ्यात्व आदि छोड़ने से ही सम्यग्दृष्टि बन

सकते हैं ।

दुनिया में ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान सभी हैं, कोई बुरा नहीं है, बुरा वही है जिसकी नियत बुरी है । गुणभद्राचार्य ने कहा है कि धर्म प्रत्येक आत्मा में है । जब आत्मा स्वच्छ होगी, निर्मल होगी तभी कल्याण होगा । आचार्यों ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिये दर्शन दिया, दृष्टि दी ।

श्रीकृष्ण ने भी एक जीवन-दर्शन दिया । वैर-अज्ञानता में है, इसी से मानव जीवन दुःखी है । धर्म प्रत्येक आत्मा में है, कृमि-कीट में भी आत्मा है ।

इस देश को क्षत्रियो ने अध्यात्म विद्या दी, ब्राह्मणों ने उसका प्रसार किया । श्रीकृष्ण भी क्षत्रिय थे । जो क्षत होने से बचावे वही क्षत्रिय है । राजा जनक, भगवान् महावीर सभी क्षत्रिय थे । मन क्षय न हो, आत्मा स्वच्छ-निर्मल हो यही धर्म है । जो शरीर साथ लाये थे, वह भी साथ नहीं जायेगा, उसे भी छोड़ जायेंगे तो गैर से लड़ाई किम बात की । जिस शरीर का पोषण किया, वह भी धोखा देता है तो अन्य कौन धोखा नहीं देगा ?

अष्टावक्र जब राजा जनक के दरबार में पहुँचे तो उनके आठ वक्तीय (टेढ़े) शरीर को देख सब हँसने लगे । अष्टावक्र बोले—ये सब हँसने वाले चमार हैं- क्योंकि ये मेरे चमड़े की कीमत आक रहे हैं, मेरी नहीं । सत्य है—

चंदन पड़े चाम घर, प्रतिदिन कूटे चाम ।

चंदन बेचारा क्या करे, पड़े नीच के घाम ॥

चमार चन्दन की लकड़ी से चमड़ा कूटता है क्योंकि उसकी दृष्टि में चन्दन का कोई महत्त्व नहीं है, चमड़े का महत्त्व है ।

हम सब भी इसी प्रकार चमार हैं । इस हड्डी-चमड़े की संवा में ही लगे रहते हैं, परमात्मा के लिये क्षण भर भी समय नहीं निकालते । हम किसी के रूप का, चमड़े का उपहास न करें, चमड़े को लक्ष्य रखकर चलने-वाला चमार हैं । आत्मा को लक्ष्य रखकर चलने वाला परमात्मा है । अतः हमें आत्मा की ओर लक्ष्य रख परमात्मत्व की ओर बढ़ना चाहिये ।

♦ ♦ ♦

## चैतन्य शाश्वत है, ध्रुव है....

जो अपने उद्देश्य से भटक जाते हैं, उनका जीवन भटक जाता है। जीवन की भटकन से बचने के लिये विपरीत श्रद्धान व विपरीत अभिनिवेश को छोड़ना होगा। विना समता के दृष्टि को निर्दोष नहीं बनाया जा सकता, उसमें वीतरागता नहीं आ सकती।

आत्मा है, पर उसका सस्कार नहीं किया तो, उसका मूल्य नहीं है। आचार्यों ने हमें जिनबिम्ब, मन्दिर व शास्त्र रूपी चाबी दी है, इसे खोना नहीं, इससे मोहरूपी ताला खोलकर आत्मा को स्वतन्त्र करना है।

मानव जीवन का महान्तम लक्ष्य है, समता-भाव की प्राप्ति। इस समता-भाव के कारण तीर्थंकर सर्वज्ञ बन गये। समता का उत्कृष्ट उदाहरण है कि तीर्थंकर के समवशरण में पशु-पक्षी सभी निरापद बैठे थे। समता-भाव पाने के लिए ही हम पूजा-पाठादि करते हैं। समता, सकीर्णता को तोड़कर विशाल-दृष्टि उत्पन्न करती है। विचार-बुद्धि जैसे-जैसे सम्यक् होती जाती है, सकीर्णता दूर होती जाती है। विना समता के, सकीर्णता के कारण वीतरागता नहीं आ सकती।

हे सयमी ! अपने लक्ष्य को बनाये रखो। शहर छोड़कर जङ्गल में चले जाने से या जङ्गल छोड़ देने से कल्याण नहीं होगा। अपितु दृष्टि को निर्दोष बनाने से, वीतरागता से ही कल्याण होगा। सकीर्णता के नाश से दृष्टि को निर्दोष बनाया जा सकता है। आज मानव सकीर्ण होता जा रहा है, वातावरण कलहकारी होता जा रहा है। यह युग ही कलियुग है अर्थात्

कलहयुग अशान्तियुग । आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि “हे मनुष्य ! तेरा जीवन पशु-पक्षी से भी गया-बीता होकर बीत रहा है । खाद्य वस्तु को देखकर कुत्ते आपस में लड़ने लगते हैं, उस खाद्य वस्तु के खत्म होते ही उनकी लड़ाई भी खत्म हो जाती है, पर मानव परस्पर लड़कर तो स्वयं मिट जाये पर उनकी लड़ाई नहीं मिटेगी । दो भाई आपस में लड़कर मिट जायें पर लड़ाई नहीं मिटेगी । कलह का अन्त नहीं है, बीतरागता ही कलह का नाश कर सकती है ।”

एक कार-चालक, अपनी गाड़ी को भीड़ में भी बिना किसी को बाधा पहुँचाये, सड़क के नियमों का पालन करते हुए, इष्ट स्थान पर पहुँचता है । इष्ट स्थान पर पहुँचना उसका ध्येय है । इसी प्रकार गृहस्थ को भी अपना जीवन शक्ति त्याग, गृहस्थ-जीवन के नियमों के साथ-साथ धर्म-ध्यान का पालन करते हुए उस इष्ट स्थान की ओर बढ़ना चाहिये, अपने उद्देश्य से कभी भटकना नहीं चाहिये । जो अपने उद्देश्य से भटक जाते हैं उनका जीवन भटक जाता है । जीवन की भटकन से बचने के लिये विपरीत-श्रद्धान, विपरीत-अभिनिवेश को छोड़ना होगा ।

जीव पुद्गल, वर्म, अवर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्यों में से जीव द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त ध्याना है । आत्मा, जीव कूटस्थ नित्य नहीं है, परिणामनशील है । उसका पर्याय बदलता है । जैसे एक ही शरीर में बालक रूप, युवारूप व वृद्धरूप देखते हैं, यह उसका पर्याय परिणामन है । पर्याय भी सत्य है, द्रव्य भी सत्य है । पर्यायार्थिक नय से पर्याय सत्य है और द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य सत्य है । बौद्ध-मतावलम्बी केवल परिणुद्ध पर्यायार्थिक-नय को मानते हैं । जो कर्ता है वह उसका भोक्ता नहीं है क्योंकि तब तक पर्याय परिवर्तित हो चुकी होती है । सांख्य-मतावलम्बी मानते हैं कि कर्ता ही भोक्ता है दूसरा नहीं । ये नित्यवादी हैं । पर कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा हम पर्याय को भी मानते हैं, ध्रुवता को भी मानते हैं (समयसार सर्वविशुद्धाधिकार ३४७-३४८) । पर्याय की दृष्टि से जो कर्ता है वही भोक्ता नहीं है; क्योंकि जिस पर्याय में कार्य किया उसका भोग दूसरी पर्याय में होगा और द्रव्य की दृष्टि से दोनों पर्यायों में द्रव्य वही मौजूद था, द्रव्य वही था इसलिये वही कर्ता है और वही भोक्ता है । आत्मा का स्वभाव कूटस्थ नित्य नहीं है, द्रव्य व पर्याय दृष्टि में आत्मा ध्रुव भी है, परिणामनशील भी है । हम कहते हैं कि दुनिया बदल गई है । द्वादशांग में लिखा है, पर्याय बदलेगी तो फिर हम दुनिया को कूटस्थ नित्य कैसे देखना चाहते हैं ? घास-दूध में (गाय के माध्यम से)

परिवर्तित नहीं होगा तो हम उसका सेवन कैसे कर सकेंगे ? यह व्यवहार-जगत कैसे चलेगा ? वस्तु में पर्यायों का परिणामन असंख्यात रूप है । कोयला काला है, जलकर सफेद राख में परिवर्तित हो जाता है । काली-मिट्टी में खाद आदि डालते हैं, पीला चना बोते हैं, उससे हरा पौधा उत्पन्न होता है, हरा चना उत्पन्न होता है और सूखने पर फिर पीला चना । पर्याय-परिणामन होता रहता है । स्वर्ण विभिन्न रूपों में परिणत होता है किन्तु अपना स्वर्णत्व नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आत्मा नाना पर्याय धारण कर भ्रमण करने के बाद भी चैतन्यता नहीं छोड़ता । चैतन्यता शाश्वत है, ध्रुव है, चौरासी लाख योनियों में भी उसकी चैतन्यता शाश्वत रहती है । अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—“चित्स्वभावाभावा” अर्थात् चैतन्य स्वभाव है इसका कभी अभाव नहीं होता । इसलिये पर्याय को देखकर ध्वराना नहीं चाहिये, परिणामन तो होगा । परिणामन नहीं होगा तो खाद-खाद ही रह जायेगी । गुलाब में, खुशबू कैसे आयेगी ? द्रव्य-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है । परिणामन से दुनिया की चकाचौंध में नहीं डूबना चाहिये । आत्मा का लक्ष्य मुक्ति है, उसके लिये प्रयास करना होगा, क्रिया करनी होगी, तभी दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य प्राप्त होगा ।

धर्म ही शाश्वत है । धर्मात्मा कहीं भी धर्म नहीं छोड़ते अर्थात् चाहे जंगल में हो, चाहे दफ्तर में हो, कहीं भी हो, पर धर्म नहीं छोड़ते । समन्त-भद्राचार्य ने कहा है कि निष्कलक की गर्दन कट गई पर फिर भी उसने धर्म नहीं छोड़ा, श्रद्धा नहीं छोड़ी ।

लक्ष्य की प्राप्ति के लिये स्वयं पुरुषार्थ करे । पुरुषार्थ से ही काल लब्धि होगी, कार्य करने से ही होनहार होगा, होनहार कोई सड़क पर नहीं बैठा है, इसके लिए आत्मा का सस्कार करना होगा । हम कपड़े का, शरीर का, वर्तन का सभी का सस्कार करते हैं, उसका मैल हटाते हैं, आत्मा का भी सस्कार करना चाहिये, मलिनता हटानी चाहिये । मन्दिर सुन्दर है पर उसमें मूर्ति नहीं है कुआँ है पर पानी नहीं है, पेड़ है पर उस पर फल नहीं है तो उनका कोई मूल्य नहीं । आत्मा है पर उसका सस्कार नहीं किया तो उसका मूल्य नहीं है । बिना आत्मा के शरीर का कोई मूल्य नहीं है, और बिना धर्म के वैभव का मूल्य नहीं । सब वैभव है, पर धर्म नहीं है तो सब व्यर्थ है ।

पिता जैसे उत्तराधिकार रूप में पुत्र को तिजोरी की चाबी प्रदान करता है वैसे ही हमारे आचार्यों ने हमको जिनबिम्ब, मन्दिर, शास्त्र रूपी चाबी दी है इसे खोना नहीं है इनसे मोहरूपी ताला जो आत्मा पर लगा हुआ



पनपने लगे तब ही उसे नियन्त्रित कर ले । यदि मन पवित्र है, स्वच्छ है तो वह कहीं भी उड़ान भरे, कोई भी डर नहीं । आचार्य कहते हैं—पवित्र मन ही श्रेष्ठ है । स्रोत के मूल में जल स्वच्छ होगा तो प्रवाह भी स्वच्छ होगा । जिसका मन स्वच्छ है पवित्र है, उसका जीवन, आत्मा—सर्वस्व पवित्र है, वह उपकारक है । एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मन बढे, धन बढे धन बढ, मन बढ जाय ।

मन बढते सब बढत है, बढत-बढत बढ जाय ॥

अर्थात् मन पवित्र है तो धन भी बढता है, धन बढता है तो मन भी उदार होता जाता है और वह उपकारक सिद्ध होता है ।

धन बहुत है, पर साथ में मन उदार नहीं है तो उस धन का कोई मूल्य नहीं । धन यदि परोपकारी-कल्याणकारी काम में न आये तो वह धन का दुरुपयोग है । धन जितना खतरनाक है उतना खतरनाक कोई नहीं । जैसे शस्त्र सुरक्षा के साधन के साथ स्वघातक व परघातक भी सिद्ध होता है वैसे ही धन का सदुपयोग भी हो सकता है और व्यसनो के द्वारा दुरुपयोग, नाश भी होता है । किसी भी दान-परोपकार के कार्य में धन के साथ-साथ मन की श्रद्धा भी होती है । मन्दिर बनता है तो केवल कला व धन से नहीं बनता, उसके निर्माण में 'श्रद्धा' भी साथ है । जो मनमें होता है वही (अशतः ही सही) व्यक्त होता है । मन विकृत भी होता है तो पवित्र-उन्नतशील भी होता है । उजाले के ज्ञान के लिये अंधेरे का ज्ञान होना भी आवश्यक है, हीरे के ज्ञान के लिये काच का ज्ञान भी आवश्यक है, दोनों पक्षों का ज्ञान होगा तभी भेद जान होगा । पवित्र मन का ज्ञान अपवित्र मन के परिचय से होगा । कवि ने कहा है—

मन घटे, धन घटे, धन घट, मन घट जाय ।

मन घटते सब घटत है, पटत घटत घट जाय ॥

अर्थात् मन विकृत हो जाय, उसमें हिंसा की, दूसरे के नुकसान की भावना उत्पन्न हो तो वह अवनत मन है । जैसे पानी का प्रवाह सदैव नीचे की ओर ही रहता है वैसे ही अवनत मन आत्मा को पतनोन्मुखी बनाता है । पवित्र मन आत्मा को विकास मार्ग पर ले जाता है । हमारे तपस्वियों, महर्षियों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है—प्रवृत्ति दो प्रकार से है - धर्म रूप व अधर्मरूप । धर्म-अधर्म बाहर नहीं मन में हैं । जब मन अवनत होता जाता है तो धन भी घटता जाता है और जब मन और धन दोनों ही घट जायें तो जीवन का सर्वस्व समाप्त हो जाता है, सब घट जाता है । फिर तो उसका नाम



लेने वाला भी कोई शेष नहीं रहता । राम व रावण समकालीन है, पर रावण के एक दुष्कार्य के कारण कोई रावण का नाम लेना भी पसन्द नहीं करता । कोई अपने बच्चे का नाम 'रावण' रखना पसन्द नहीं करता जबकि हर कोई अपने बच्चे का नाम 'राम' रखना चाहते हैं, पूरे भारत में 'राम' के विभिन्न रूप रामस्वामी, रामैया आदि मिलते हैं । रावण का मन घट गया, अवनत हो गया तो उसकी स्वर्णिम लका भी खत्म हो गई, आज उसका नाम अपवित्र समझा जाता है । जबकि शब्द अक्षर में कोई भेद नहीं है पर रावण के जीवन के पीछे उसका एक दुष्कर्म है—और राम के जीवन के पीछे पवित्रता है, उच्चा-दर्श व आचरण है । पत्थर पर उत्कीर्ण राम का नाम भले ही मिट जाये पर मनो में अंकित राम का नाम नहीं मिट सकता । हमने उन्हें देखा नहीं पर फिर भी उनके प्रति श्रद्धा है क्योंकि वे एक पवित्र इतिहास छोड़कर गये हैं । हजारों चक्रवर्ती, वैभवशाली सम्राट हुये हैं पर जो तप-त्याग, तपस्या व पवित्र आचरण वाले लोग हुये हैं, उन्हीं को लोग पूजते हैं, आदर से उनका नाम लेते हैं ।

भारतीय संस्कृति के मूल में, जड़ में, पवित्र मन, पवित्र विचारधारा का आधार है । मन्दिर पर रखा स्वर्ण-कलश शिखर के ऊपर चढ़कर सोचे कि मैं सर्वोपरि हूँ, तो उसको यह नहीं भूलना चाहिये कि वह सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़कर ऊपर शिखर पर पहुँच सका है, नीचे से ऊपर पहुँचा है । यदि अपना जीवन स्वर्ण-शिखर समान सर्वोच्च बनाना है, तो एक-एक गुण को अपनाते जाना चाहिये, आचरण को धीरे-धीरे उन्नत बनाना होगा । यदि आचरण गलत होगा तो शिखर स्थित मानव भी नीचे आ गिरेगा ।

धर्म स्वयं में पूर्ण है, उसका एक अंश भी उपयोगी है । अग्नि की एक छोटी सी चिनगी भी प्रकाशक है, अग्नि सवर्धन में सक्षम है । क्षणभर के लिये धर्मपालन करना भी उपयोगी है । लौकिक कार्यों के लिये हम कितना कष्ट उठाते हैं फिर धर्म के लिये क्यों नहीं कुछ समय निकाल सकते ? भगवान का नाम लेने के लिये कोई कठोर कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है, भगवान का नाम लेने के लिये चर्म धोना इतना आवश्यक नहीं है जितना मन पवित्र करने की आवश्यकता है—

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।

ध्यायेत्पञ्च नमस्कार सर्वपापं प्रमुच्यते ॥

मनुस्मृति में कहा गया है—'न लिङ्गधर्मकारण', धर्म लिङ्गी नहीं है, बहिरंग में क्रियाकाण्ड का टीका चिह्न आदि लगाने का समय न मिले तो भी

है उसे खोल कर आत्मा को स्वतन्त्र करना है । ये सब साधन मौजूद है, पर पुरुषार्थ करना है, कोई दूसरा आपको सम्यग्दृष्टि नहीं बना सकता ।

मुल्तान दिगम्बर जैन समाज, जयपुर द्वारा निर्मित यह भव्य मन्दिर धर्म का आयतन है । ऐसे भव्य जिनालयों के लिये समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि—

“दृष्ट जिनेन्द्रभवन भवतापहारी” अर्थात् ऐसे भव्य जिनमन्दिर भवताप हरने में माध्यम है । यह मन्दिर इन मुल्तानवासियों की धर्मश्रद्धा का द्योतक है । सत्य है—मानव कहीं भी रहे, कहीं भी जाये, पर धर्म नहीं छोड़ना चाहिये ।



धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा सज्जमो तवो ।

देवावि तस्स पणामति, जस्स धम्मे सयामणो ॥

अर्थ — धर्म परम मंगल है :

कौनसा धर्म ?

अहिंसा धर्म ! आत्मा की वीतरागता ही अहिंसा है । जब तक आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर रहता है तब तक वह अहिंसक है, परभाव में स्थित होने पर वह हिंसक है ।

संयम धर्म ! इन्द्रिय और कषाय निरोध ।

तप रूप धर्म ! ज्ञान ही तप है ।

साधू केवल ज्ञान प्राप्ति के लिये ही तप, व्रत और उपवास आदि किया करते हैं ।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा तल्लीन रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

# परोपकार ही कल्पवृक्ष है

धर्म स्वयं में पूर्ण है, उसका एक अंश भी उपयोगी है। उजाले के ज्ञान के लिये अधिकार का ज्ञान होना भी आवश्यक है। दोनों पक्षों का ज्ञान होगा तभी भेद ज्ञान होगा।

भारतीय संस्कृति का मूलधार पवित्र मन व पवित्र विचारधारा ही है। अवनत मन आत्मा के परिणामों को पतनोन्मुखी बनाता है।

भगवान् के नाम उच्चारण करने योग्य उपक्रम नहीं कर सकते, पर चिन्तन मनन तो कर सकते हैं। धर्मात्मा के लिये मनन, चिन्तन व अन्तरंग जाप आवश्यक है। जीवन को मुसस्कार, आचरण व आदर्श प्रदान करो। एक अच्छाई का बीज भी कल्पवृक्ष बन जायेगा।

कुये के मूल में जल का स्रोत होता है अतः उसका प्रवाह चलता रहता है, जल स्वच्छ व निर्मल रहता है, यदि वर्षा का जल कहीं एकत्रित हो जाता है, वह प्रवाहमयी नहीं रहता, वह जल स्थायी कुछ समय के लिये ही रहता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य के मन में, अन्त में धर्म है तो वह शाश्वत है। स्वयं के मन को ठीक रखने के लिये मन्दिर, ग्रन्थ प्रवचन, तत्त्वज्ञान आदि सब साधन हैं। आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ताओं ने कहा है कि सच्चा भाग्यशाली वही है जिसके मन में धर्म है, जिसका मन पवित्र है। किसी बहिरंग वस्तु के संयोग से वह भाग्यशाली नहीं है। मन चंचल है, इसकी गति घोड़े के वेग से भी तीव्र है। मन वेगवान् सही पर स्वच्छ निर्मल होना चाहिये। आकाश में पतंग उड़ती है, जब हवा कम होने लगती है और पतंग नीचे गिरने लगती है तो उसकी डोर खींचकर उसे तान लिया जाता है, संतुलित कर लिया जाता है, इसी प्रकार जब भी मन पतनोन्मुख होने लगे तो उसे संतुलित कीजिये, जब भी मन में विकृतियाँ

पनपने लगे तब ही उसे नियन्त्रित कर ले । यदि मन पवित्र है, स्वच्छ है तो वह कहीं भी उड़ान भरे, कोई भी डर नहीं । आचार्य कहते हैं—पवित्र मन ही श्रेष्ठ है । स्रोत के मूल में जल स्वच्छ होगा तो प्रवाह भी स्वच्छ होगा । जिसका मन स्वच्छ है पवित्र है, उसका जीवन, आत्मा—सर्वस्व पवित्र है, वह उपकारक है । एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मन बढे धन बढे धन बढ, मन बढ जाय ।

मन बढते सब बढत है, बढत-बढत बढ जाय ॥

अर्थात् मन पवित्र है तो धन भी बढता है, धन बढता है तो मन भी उदार होता जाता है और वह उपकारक सिद्ध होता है ।

धन बहुत है, पर साथ में मन उदार नहीं है तो उस धन का कोई मूल्य नहीं । धन यदि परोपकारी-कल्याणकारी काम में न आये तो वह धन का दुरुपयोग है । धन जितना खतरनाक है उतना खतरनाक कोई नहीं । जैसे शस्त्र सुरक्षा के साधन के साथ स्वघातक व परघातक भी सिद्ध होता है वैसे ही धन का सदुपयोग भी हो सकता है और व्यसनो के द्वारा दुरुपयोग, नाश भी होता है । किसी भी दान-परोपकार के कार्य में धन के साथ-साथ मन की श्रद्धा भी होती है । मन्दिर बनता है तो केवल कला व धन से नहीं बनता, उसके निर्माण में 'श्रद्धा' भी साथ है । जो मनमें होता है वही (अशतः ही सही) व्यक्त होता है । मन विकृत भी होता है तो पवित्र-उन्नतशील भी होता है । उजाले के ज्ञान के लिये अंधेरे का ज्ञान होना भी आवश्यक है, हीरे के ज्ञान के लिये काच का ज्ञान भी आवश्यक है, दोनों पक्षों का ज्ञान होगा तभी भेद ज्ञान होगा । पवित्र मन का ज्ञान अपवित्र मन के परिचय से होगा । कवि ने कहा है—

मन घटे, धन घटे, धन घट, मन घट जाय ।

मन घटते सब घटत है, पटत घटत घट जाय ॥

अर्थात् मन विकृत हो जाय, उसमें हिंसा की, दूसरे के नुकसान की भावना उत्पन्न हो तो वह अवनत मन है । जैसे पानी का प्रवाह सदैव नीचे की ओर ही रहता है वैसे ही अवनत मन आत्मा को पतनोन्मुखी बनाता है । पवित्र मन आत्मा को विकास मार्ग पर ले जाता है । हमारे तपस्वियों, महर्षियों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है—प्रवृत्ति दो प्रकार से है - धर्म रूप व अधर्मरूप । धर्म-अधर्म बाहर नहीं मन में हैं । जब मन अवनत होता जाता है तो धन भी घटता जाता है और जब मन और धन दोनों ही घट जायें तो जीवन का सर्वस्व समाप्त हो जाता है, सब घट जाता है । फिर तो उसका नाम

लेने वाला भी कोई शेष नहीं रहता । राम व रावण समकालीन है, पर रावण के एक दुष्कार्य के कारण कोई रावण का नाम लेना भी पसन्द नहीं करता । कोई अपने वच्चे का नाम 'रावण' रखना पसन्द नहीं करता जबकि हर कोई अपने वच्चे का नाम 'राम' रखना चाहते हैं, पूरे भारत में 'राम' के विभिन्न रूप रामस्वामी, रामैया आदि मिलते हैं । रावण का मन घट गया, अवनत हो गया तो उसकी स्वर्णिम लका भी खत्म हो गई, आज उसका नाम अपवित्र समझा जाता है । जबकि शब्द अक्षर में कोई भेद नहीं है पर रावण के जीवन के पीछे उसका एक दुष्कर्म है—और राम के जीवन के पीछे पवित्रता है, उच्चा-दर्श व आचरण है । पत्थर पर उत्कीर्ण राम का नाम भले ही मिट जाये पर मनो में अंकित राम का नाम नहीं मिट सकता । हमने उन्हें देखा नहीं पर फिर भी उनके प्रति श्रद्धा है क्योंकि वे एक पवित्र इतिहास छोड़कर गये हैं । हजारों चक्रवर्ती, वैभवशाली सम्राट हुये हैं पर जो तप-त्याग, तपस्या व पवित्र आचरण वाले लोग हुये हैं, उन्हीं को लोग पूजते हैं, आदर से उनका नाम लेते हैं ।

भारतीय संस्कृति के मूल में, जड़ में, पवित्र मन, पवित्र विचारधारा का आधार है । मन्दिर पर रखा स्वर्ण-कलश शिखर के ऊपर चढ़कर सोचे कि मैं सर्वोपरि हूँ, तो आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि वह सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़कर ऊपर शिखर पर पहुँच सका है, नीचे से ऊपर पहुँचा है । यदि अपना जीवन स्वर्ण-शिखर समान सर्वोच्च बनाना है, तो एक-एक गुण को अपनाते जाना चाहिये, आचरण को धीरे-धीरे उन्नत बनाना होगा । यदि आचरण गलत होगा तो शिखर स्थित मानव भी नीचे आ गिरेगा ।

धर्म स्वयं में पूर्ण है, उसका एक अंश भी उपयोगी है । अग्नि की एक छोटी सी चिनगी भी प्रकाशक है, अग्नि सवर्धन में सक्षम है । क्षणभर के लिये धर्मपालन करना भी उपयोगी है । लौकिक कार्यों के लिये हम कितना कष्ट उठाते हैं फिर धर्म के लिये क्यों नहीं कुछ समय निकाल सकते ? भगवान का नाम लेने के लिये कोई कठोर कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है, भगवान का नाम लेने के लिये धर्म धोना इतना आवश्यक नहीं है जितना मन पवित्र करने की आवश्यकता है—

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।

ध्यायेत्पञ्च नमस्कार सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

मनुस्मृति में कहा गया है—'न लिङ्गधर्मकारण', धर्म लिङ्गी नहीं है, बहिरंग में क्रियाकाण्ड का टीका चिह्न आदि लगाने का समय न मिले तो भी

भगवान का नाम ले सकते हो । वहिरग लिङ्गी मत बनो पर अन्तरग मन बनाये रखो । भगवान के नाम उच्चारण के लिये स्नान-सव्या की अनिवार्यता नहीं है । उच्चारण करने योग्य उपक्रम नहीं कर सकते पर चिन्तन-मनन तो कर सकते हैं । वाल्मिकी रामायण में एक स्थान पर शका उत्पन्न की गई है कि सीता ने राम से विलग रह एक क्षण के लिये भी राम का नाम नहीं लिया । भारतीय परम्परा में पति का नाम लेना वर्जित समझा जाता है, इसलिये यदि सीता ने राम का नाम उच्चारित नहीं किया तो क्या राम का स्मरण, मनन नहीं किया होगा ? क्या राम के प्रति श्रद्धा नहीं होगी ? अतः जाप वहिरग व अन्तरग भेद से दो प्रकार के हैं । केवल उच्चारण से कोई धर्मात्मा नहीं होता, इसके लिये मनन-चित्तन, अन्तरग जाप आवश्यक है । जिसका मन पवित्र है, श्रद्धायुक्त है, विकसित है उसका जीवन विकासमय है । धर्म, मन की पवित्रता के लिये साधन है, इसका उपयोग करना चाहिये । मानव ससार में कितना भी भटक जाये, लौटकर उसे आत्मा की शरण में आना होगा, श्रद्धा व विश्वास में लौटना होगा । बिना श्रद्धा व विश्वास के कोई कार्य सम्भव नहीं । सशयी, सशयात्मा कही भी सफल नहीं हो सकता—‘सशयात्मा विनश्यते’ । आचार्य कुदकुद ने कहा है कि—किसी के पास कितना ही धन हो, यदि उसे श्रद्धा विश्वास नहीं होगा तो वह एक कौड़ी भी दान स्वरूप नहीं दे सकता, और किसी के पास कौड़ी भी नहीं है पर श्रद्धा व विश्वास है तो उसकी भावना खूब दान देने की हो सकती है । परोपकार के लिये देने को धन, सतति-पुत्र, धार्मिक भावना आदि पूर्व जन्म के सुकृत के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं । इसीलिये वर्तमान में व्यसनो से वचने के लिये आग्रह है । महाभारत में लिखा है—इम कलियुग में व्यसनरहित मानव ऋषि मुनि के समान हैं ।

दान-आदि के द्वारा सेवाभाव जीवन में श्रेष्ठ है । स्वतः जीने वाले तो पशु-पक्षी के समान हैं । बुध महाचन्द्र कवि ने लिखा है—वनवास में, एक पेड़ की छांव में राम व सीता ने भोजन बनाकर पहले एक अतिथि को भोजन कराया, तत्पश्चात् स्वयं किया । ऊपर पेड़ पर एक पक्षी-युगल ने यह सब देखा, उनके मन में भावना आई कि हम कितने पापी हैं कि हमारे यहाँ कोई अतिथि नहीं आता, हम किसी को कुछ दान नहीं करते, इस प्रकार स्वयं को धिक्कारते हुये वे मूर्च्छित होकर नीचे चूल्हे की अग्नि में गिर गये और जलकर मर गये । मरकर उन्होंने स्वर्ग में देवगति प्राप्त की । दान की अनुमोदना मात्र से उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ तो उनको क्रिया रूप देने में तन-मन-धन से करने में क्या फल प्राप्त होगा, उनको तो गणधर परमेष्ठी ही बता सकते हैं । बुरे काम के लिये नहीं, भले कार्य के लिये अनुमोदना देनी ही चाहिये । दानादि की पवित्र

भावना पूर्व सुकृत के फलस्वरूप ही प्राप्त हो सकती है । इसलिये महाराष्ट्र के एक विद्वान् ने कहा है कि बच्चों को विरासत में आदर्श सुआचार व बुद्धि प्रदान करो, जिससे भविष्य में वे स्वावलम्बी बनें । केवल धन ही प्रदान करोगे तो न जाने वे उसका कैसा उपयोग करें ? केवल धन ही नहीं, सुसस्कार, आचरण व आदर्श भी प्रदान करो, जिससे वह भी अपनी आगे आने वाली पीढ़ी को सुसस्कृत बना सकें ।

मनुष्य का मन उन्नत होना चाहिये । बहिरंग में उन्नति का लक्षण 'परोपकार' है । शास्त्र, कुये आदि सब परोपकार के बाह्य साधन हैं, इनका निर्माण एक व्यक्ति करता है किन्तु इससे लाभ अनेक प्राणी उठाते हैं । किसान एक बीज भुक्कर बोता है, वही दाना हजार दानों को पारितोषिक रूप में लेकर खड़ा होता है । एक अच्छाई का बीज भी कल्पवृक्ष बन जायेगा अर्थात् लाखों का परोपकार करेगा । कल्पवृक्ष वही है जो समाज में, देश में लाखों लोगों का उपकार करता है । मन को उन्नतशील बनाने हेतु पवित्र कीजिये, आपकी कीर्ति बनी रहे, और उसके प्रकाश ससार में अनुसरण करे । एक कवि ने कहा है—

सूरत से कीरत बड़ी, बिना पंख उड़ जाय ।

सूरत तो जाती रही, कीरत कभी न जाय ॥

सूरत तो चली जायेगी पर आपने जो पवित्र कार्य का, धर्म का, परोपकार का बीज बोया तो उसके छाव में सब चलेंगे । आप सब स्व-पर उपकार में लीन हो, अपना कल्याण करें ।

♦ ♦ ♦

# सामाजिक संगठन के लिये महती आवश्यकता—‘वात्सल्य-भाव’

आत्मा अलिङ्गग्रहण है, इसका बहिरंग चिह्न नहीं है। बहिरंग चमत्कार धर्म नहीं है। चमत्कार तो क्षणिक है।

वात्सल्य-भाव ग्रहण करने पर ही धार्मिक कहला सकेंगे, अन्यथा नहीं। धर्म-अहिंसा सबके मूल में वात्सल्य-भाव है।

जो आत्मा ज्ञान रथ में आरूढ रहती है उसी की आत्मा में जिनेन्द्र-भगवान् की, परमात्मा की प्रभावना होती है, वही सम्यग्दृष्टि होकर मुक्तिगामी होती है। बिना ज्ञान के श्रद्धा स्थिर नहीं रह सकती।

वीतरागता, ससारी आत्मा के लगे हुये मोह ताले को खोलने वाली, सबके लिये मोक्षमार्ग प्रशस्त करने वाली एक मात्र सिद्ध-कु जी है।

भगवान् ऋषभ से भगवान् महावीर तक वीतराग शासन चला, उस वीतराग शासन की कुछ विशिष्टतायें रही, कुछ प्रमुख सिद्धान्त रहे। उन सिद्धान्तों को शब्दों के द्वारा कठस्थ कर लेते हैं, उनके अर्थों को रट लेते हैं अथवा उनको ज्ञानसात कर लेते हैं। उन अनेक सिद्धान्तों का दो दृष्टियों से कथन किया गया। (१) व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से, (२) सामाजिक विकास की दृष्टि से। सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं—नि शक्ति, निकाक्षित



निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरणा, वात्सल्य व प्रभावना । आचार्यों ने आत्मा के व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से तथा सामाजिक विकास की दृष्टि से इनका कथन किया है । इनमे से नि शक्ति, निकाक्षित, अमूढदृष्टि व स्थितिकरणा व्यक्तिगत विकास के लिये हैं और निर्विचिकित्सा, उपगूहन, वात्सल्य व प्रभावना सामाजिक संगठन व विकास के लिये हैं । कथन शैली आचार्यों की अपनी रही और सिद्धान्त सर्वज्ञ वीतराग भगवान् तीर्थङ्करो के । आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—सयुत्थान प्रतिश्रद्धा । 'युत' शब्द का अर्थ हाथी भी है, हाथी जब समूह रूप में रहता है तब उस पर कोई आक्रमण नहीं करता, वे बाधा रहित भ्रमण करते रहते हैं । इसी प्रकार यदि मानव समाज में संगठित रूप में रहेगा तो अनेक बाह्य कष्टों से मुक्त रहेगा । अपने साधर्मों के प्रति सद्भाव भी सम्यग्दर्शन का लक्षण है, अपने साधर्मों भाई के प्रति वात्सल्य होना चाहिये । प० दौलतराम ने छहडाला में कहा है—धर्मों सो प्रीतिकर । प्रीति धर्मों ही कर सकता है, धार्मिक नहीं कर सकता । तीन शब्द हैं—धार्मिक, धर्मात्मा व धर्म, तीनों में अन्तर है । जैसे अवलोकन, अनुभव व अनुभूति ये तीन प्रकार हैं, अवलोकन देखने सुनने तक सीमित है, अनुभव है और अनुभूति में जो निहित है उसका शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते । इसी प्रकार धार्मिक वह है जो धर्म पर, धर्म के सिद्धान्तों पर विश्वास करे, उनका अस्तित्व स्वीकार करे । धर्मात्मा वह है जो श्रद्धा के साथ रुचि के साथ पूजा पाठ करे, स्वाध्याय करे, भक्ति में मग्न हो और धर्म वह है जो पूर्णतया आगोपाग निहित हो, जो सम्यग्दर्शन के आठों अंगों को व्यवहार में आत्मसात् कर ले । शास्त्रों को पढ़ने वाला व्यक्ति धर्म नहीं है वह धर्मात्मा है । कोई भी धर्म-धर्मों, धर्मात्मा व धार्मिक के बिना स्थित नहीं रह सकता ।

यूनान में पादरियों का एक समूह था । उन्होंने एक व्यक्ति को धर्म परिवर्तित कराकर ईसाई बना लिया । पादरीगण इस बात से बहुत खुश थे कि हमने अपनी सख्या में एक की वृद्धि कर ली । उनके पास जगह-जगह से धन्यवाद व वधाई के पत्र एवं सर्टिफिकेट आ रहे थे । एक दिन वह व्यक्ति (जो धर्म परिवर्तित कर ईसाई बना था) वहाँ से भाग निकला । जिसके कारण वे सर्टिफिकेट मिले वह व्यक्ति ही नहीं है तो उन सर्टिफिकेट्स का क्या फायदा ? उस व्यक्ति की खूब खोज करवाई, पर वह कहीं न मिला । काफी समय बाद एक दिन वह सड़क पर खड़ा दिखाई दिया । उसका हाल-वेहाल था, कपड़े फट रहे थे, शरीर घायल था, बाल बढ़ रहे थे, भूखा था ।

पादरी उसे लेने गये । बहुत स्नेह के साथ उसे अन्दर लाये, उसकी सेवा—सुश्रूपा की, भोजन कराया । अत्यन्त स्नेह के साथ उसका हाल चाल पूछा और जीवनभर उसे स्नेह से रखने की बात कही ।

जब लोक में सामान्य व्यक्तियों में सब में वात्सल्य-भाव मौजूद है, तो जो वात्सल्य भाव एक सम्यग्दृष्टि में होता है उसकी तो सीमा ही नहीं है । वात्सल्य-भाव, केवल शब्दों के उच्चारण मात्र से नहीं आता । वात्सल्य-भाव स्वयं में अतिमूल्यवान् है । वात्सल्य के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकती । वात्सल्य कोई व्यक्तिगत रूप में सीमित नहीं है, यह व्यापक है, इसमें किसी प्रकार की काक्षा नहीं होती । धर्मों को 'गौ-वत्स' शब्द से भी अभिहित किया गया है । गाय बिना-भेद भाव के सबको समान रूप में, वात्सल्य-भाव से दूध प्रदान करती है, वैसे धर्मों भी सबके प्रति वात्सल्य-भाव रखता है ।

अमेरिका में एक व्यक्ति गायें पालता था । उसका दूध पीता था, बेचता था । बाद में उनको मार देता था और उनका मांस बेच देता था । एक बार एक गाय को मारने के लिये शस्त्र ले कर गया तो वह गाय उसे वात्सल्य में चाटने लगी । उस व्यक्ति के मन में तत्काल विचार आया—कि यह पशु होकर मुझसे इतना स्नेह, वात्सल्य करती है और मैं इसे मारना चाह रहा, हूँ । विस्कार है मुझे, मैं तो पशु से भी निकृष्ट हो गया हूँ । उसी क्षण में उसने वह व्यवसाय त्याग दिया ।

गायों में, निष्काम वृत्ति है—इसीलिये गाय की चर्या का बहुत महात्म्य है । डमीलिये गाय की चर्या को साधु की चर्या के साथ जोड़ा गया है । साधु का आहार—चर्या को 'गोचरी' कहा है अर्थात् जैसे गाय चरती है—वैसे ही साधु भोजन करते हैं । गाय घास चरती है तो ऊपर-ऊपर से, वह घास की जड़ें नहीं खोदती, मनुष्य घास चरती है तो वह जड़ सहित उखाड़ लेती है । गाय पानी पीती है तो तालाब नदी के किनारे खड़ी होकर और भँस पानी में घुस कर पीती है । गाय की वृत्ति सात्विक है इसलिये उदाहरण उमी का दिया गया है । आचार्य जिनसेन ने महापुराण में पृ० १४१-१४३ पर कहा है कि प्रणाम भी गौ-आमन से करना चाहिये । जैसे गाय घास देने वाले के रूप-गुण-आभूषण आदि को न देखकर केवल घास को देखती है उमी प्रकार साधु को भी आहार करते समय केवल हाथ के घास की ओर दृष्टि रखनी चाहिये, अन्य बाह्य वस्तुओं की ओर नहीं । इस प्रकार हम देखते हैं कि गाय के गुणों को साधु की चर्या के साथ, नमस्कार विधि के

साथ, वात्सल्य-भाव के साथ जोड़ा है। गाय के अन्य गुण छोड़कर केवल वात्सल्य-भाव ग्रहण करने पर ही धार्मिक कहला सकेंगे अन्यथा नहीं। वात्सल्य-भाव के अभाव में तो मनुष्य-मनुष्य भी नहीं कहला सकेगा, नागरिक भी नहीं कहला सकता।

मूलाचार ग्रंथ में लिखा है कि रत्नो में हीरा श्रेष्ठ है वृक्षो में चन्दन पशुओ में गाय व धर्म में अहिंसा श्रेष्ठ है। अहिंसा की छत्र छाया में ही प्राणी जी सकता है। हिंसा में नहीं जी सकता। अहिंसा की गहनता के बारे में भारत के प्रत्येक कवि, साहित्यकार, पंडित सभी ने गीत गाये हैं, चाहे अहिंसा का पालन न किया हो। बनारस के भारतेन्दु कवि की एक कविता के भाव हैं कि हे भगवान् ! सब सम्प्रदायों को कोई न कोई सिद्धान्त दिये पर हमको यह अहिंसा का सिद्धान्त क्यों नहीं दिया, यह दूसरे धर्मवालों को क्यों दे दिया, जिसके कारण सब जीवों को जीने का अधिकार मिलता है। कर्नाटक के सर्वज्ञ नामक कवि (जो कि ब्राह्मण हैं) ने अहिंसा पर एक कविता लिखी है जिसके भाव हैं—

“यदि किसी ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख हो कि हिंसा करनी चाहिये, तो वह शास्त्र चूल्हे में फूँकने लायक है और जिस ग्रन्थ में अहिंसा का वर्णन है तो वह ग्रन्थ सिर पर रखने योग्य है।” धर्म में से वीतरागता, अहिंसा को निकाल दें तो उस धर्म की स्थिति उसी प्रकार की होगी जैसी देह में से सिर निकालने पर देह की रहती है। धर्म-अहिंसा सबके मूल में वात्सल्य-भाव है। माँ बच्चे को कोई उद्दण्डता करने पर पीटती है पर उसके हृदय में कोई दुर्भावना नहीं होती, वह पिटाई भी उस बच्चे की भलाई की भावना से, वात्सल्य से करती है। कपड़े को पीटते हैं—उसको साफ करने के लिये, उसका मैल हटाने के लिए, वैसे ही माँ वात्सल्य-भाव से अपने बच्चे के दुर्गुण हटाने के लिये पिटाई करती है। वात्सल्य-भाव समाज को एक सूत्र में बांधने हेतु है। अलग-अलग मोती बिखर रहे हों तो वह माला नहीं कहला सकती, उन मोतियों की माला बनाने के लिए एक सूत्र चाहिये। इसी प्रकार वात्सल्य, उपगूहन आदि अग मोती हैं, इनको आचरण के सूत्र में परस्पर पिरोने से माला बनेगी।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग की आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक रूप से विवेचना की है और रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सामाजिक दृष्टि से विवेचना की गई है। सब सिद्धान्तों को मनन करके समझना चाहिये। हमारे यहाँ

‘रथ’ का आत्मा वाचक अर्थ में प्रयोग किया है। रथ में ‘जीवित प्राणी’ बैठते हैं, इसी रथ से ‘अरथी’ शब्द बना है। अ + रथ अर्थात् जिसमें जीवित प्राणी न हो, निषेधात्मक अर्थ में अर्थी का प्रयोग किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—ज्ञान रूपी रथ में बैठकर, मनरूपी मार्ग पर चलाओ। हम ‘मनोरथ’ शब्द का प्रयोग करते हैं—उसका अर्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति है। इस प्रकार ज्ञान रूपी रथ में आरूढ़ हो मन रूपी मार्ग पर चलाओ, मार्ग से विमुख होने पर दुर्घटना की संभावना रहती है। आचार्य ने कहा है कि जो चैतन्य आत्मा को ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ़ कर मन रूपी मार्ग पर चलाता है, एक क्षण के लिये भी नहीं भटकता, ज्ञान रथ से पृथक् नहीं होता, उसी की आत्मा में जिनेन्द्र भगवान् की प्रभावना होती है, वही सम्यग्दृष्टि होकर मुक्तिगामी होती है।

समन्तभद्र स्वामी ने ‘रथ’ की प्रभावना को व्यवहारिक रूप से समझाया और कहा कि—केवलज्ञान रूपी रथ में बैठने से पूर्व प्राणी को सम्यग्ज्ञान रूपी रथ में बैठना होगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने ‘आत्मा’ की दृष्टि से समझाया है। जो स्वयं ज्ञान रथ में बैठा होगा वह अज्ञान की, लौकिक दुखों आदि की बात कैसे कर सकता है ?

ज्ञान-हीन मनुष्य पशु-समान है। लौकिक व्यवहार में भी हम कहते हैं कि ‘ज्ञान की बात करो’, अर्थात् वह मार्ग से भटक रहा है, अतः उसे कहते हैं कि ज्ञान की बात करो। दीपक साथ होते हुये भी दुर्घटना हो जाये, वह दीपक किस काम का ? ‘पाशु कुरवेण दीपेन’। ज्ञान होते हुये भी गड्ढे में गिर जाये—पथ भ्रष्ट हो जाये तो वह ज्ञान-ज्ञान नहीं है। जो मार्ग से भटक गया है, वह कैसे इष्ट स्थान पर पहुँच सकता है ?

अपने किसी स्वार्थवश कोई व्यक्ति पहले राजा को जानता है फिर उसकी सेवा करता है। इसी प्रकार पहले जीव राजा को जानो फिर उस पर श्रद्धा करो। विना ज्ञान के श्रद्धा स्थिर नहीं रह सकती। श्रद्धा जितनी शीघ्र उत्पन्न होगी उतनी ही शीघ्र समाप्त भी हो जायेगी। खरीदार जिस वस्तु को खरीदना चाहता है उसे भी पहले वस्तु का ज्ञान होता है तब खरीदता है। स्वर्ण चाहने वाला स्वर्ण को जानेगा—पहचानेगा तभी खरीदेगा, नहीं तो सम्भव है कि स्वर्ण के बदले पीतल खरीद ले। विना ज्ञान के अब श्रद्धा भी हो सकती है। बलि में धर्म समझना अब श्रद्धा है। इसलिये कुन्दकुन्दाचार्य ने पहले ज्ञान को

सर्व प्रथम स्थान दिया । जब लौकिक जगत् मे भी कुछ खरीदते हैं तो पहले उसका ज्ञान होता है, तभी खरीदते हैं तब तीन लोक मे पूज्य उस आत्मा की प्राप्ति, विना ज्ञान के केवल श्रद्धा से कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

देवागम ग्रन्थ मे समन्तभद्राचार्य ने लिखा है कि वहिरग चमत्कार धर्म नहीं है, चमत्कार क्षणिक है । भगवान् है, धर्म है, पर वह शक्तिशाली है, विध्वंसक नहीं, उपद्रवी नहीं । जिसकी ज्ञान ही क्रिया और वीतरागता ही स्वभाव है उसी को मैं भगवान् मानता हूँ । वीतरागता सिद्ध कु जी है । 'सिद्ध कु जी' का अर्थ है वह चाबी जिससे सब ताले-तिजोरियाँ खुल जायें, प्राचीनकाल मे ऐसी चावियाँ होती थी, ऐसा उल्लेख है । वीतरागता भी ससारी आत्मा के लगे हुये मोह-ताले को खोलने वाली एक मात्र सिद्ध कु जी है, सबके लिये विना भेद-भाव के, छोटे बड़े, अमीर-गरीब सबके लिये मोक्ष-मार्ग की यही एक चाबी है ।

धर्म आत्म-कल्याण के लिये है, शरीर रचना से वह वधित नहीं है । मेढक, तिर्यच गति, साथ मे पूजा के लिये आठ-द्रव्य भी नहीं, समवशरण मे पहुँचा भी नहीं, फूल चढाया भी नहीं, भक्ति के कारण, भावो के कारण वह स्वर्ग पहुँच गया । वीतराग धर्म मे तिर्यचो के लिये भी आत्माधिकार है । यहाँ शरीर के अधिकार की लडाई नहीं, चैतन्य अधिकार की बात है । उस मेढक के पास आत्मा की आवाज थी, आत्मा की भावनायें थी इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने उसे 'महानुभाव' शब्द से सम्बोधित किया है, उसकी आत्मा को सम्बोधित किया है ।

एक व्यक्ति शीघ्रता से कही जा रहा था । रास्ते मे एक नर-मुड़ी पडी थी । वह व्यक्ति उससे टकराकर गिर गया । उस नर-मुड़ पर वह बहुत क्रोधित हुआ । उस समय उस नर-मुड़ी मे से आवाज आई-अरे, मेरा भी तेरे जैसे सुन्दर रूप था, तेरे गुलाब जैसे गालो से ही गाल थे । आज जो हालत मेरी हुई है, कल तेरी भी यही हालत होगी । मेरे आँखें होती तो मैं एक ओर हो जाता, पर तेरे तो आँखें थी, तू ही थोडा बचकर जाता । मानव को कभी दुरभिमान नहीं करना चाहिये, विनम्रता नहीं छोडनी चाहिये । यह धर्म तरण-तारण है । कौन किसको सम्यग्दृष्टि कहे, किसको मिथ्यादृष्टि कहे, इसको नापने का कोई वाह्य-मापक नहीं । कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार-प्रवचनसार मे आत्मा को 'अलिङ्गग्रहण' कहा है, इसका कोई वहिरङ्ग चिह्न नहीं है । तीर्थकर ने जो व्यापक दृष्टि दी है उसको नहीं छोडना

चाहिये, हम उनके अनुयायी ही व्यापक दृष्टि नहीं रखेंगे तो कौन रखेगा ? सम्यग्दृष्टि, सकीर्णता से दूर, विशाल दृष्टिवाला होता है, वह सबके कल्याण की बात करता है, इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' कहा । भगवान् ! आपका तीर्थ सबके उदय के लिये है । एकेन्द्रिय वृक्ष भी उपकार करता है तो पचेन्द्रिय मनुष्य को किसी के प्रति छोटी दृष्टि नहीं रखनी चाहिये, उसे विशाल, परोपकार दृष्टि रखनी चाहिये । उमास्वामी ने परोपकार का महात्म्य समझकर कहा है 'परस्परोपग्रहो जीवाना', उन्होंने प्राणीमात्र के लिये सूत्र बनाया । धवला, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गोम्मटसार आदि सभी ग्रंथों में परोपकार के बारे में कहा है । उपकार जैसी कोई बात नहीं होती तो आचार्य कैसे ये सूत्र बनाते तथा ग्रंथ प्रदान कर कैसे उपकृत करते ? धर्मात्मा में परोपकार की भावना होती है, उपकार दूसरे पर नहीं स्वयं पर कर रहा है । हाथ में लाठी लेकर चलते हैं, गिरने से बचने के लिये, हम लाठी पर उपकार नहीं कर रहे, वह लाठी हम पर उपकार कर रही हैं । धर्मात्मा स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भावना रखता है । भगवती आराधना में कहा है कि स्वहित में भी परहित निहित है । स्वयं के लिये निर्मित मन्दिर, ग्रंथ हजारों लोगों के लिये लाभकारी सिद्ध होते हैं । हमें एकांगी, एकान्त दृष्टि को छोड़ व्यापक दृष्टि के साथ जीना चाहिये । व्यापक दृष्टि—युक्त प्राणी ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है । वीतराग व समताभाव, पुस्तक पढ़ने से नहीं आता, पुरुषार्थ से स्वयं की आत्मा में प्रकट होगा । केवल क्रिया कांड से समताभाव नहीं आ सकता । ग्रंथ के पन्ने पलटने से कागज जीर्ण हो गये पर कर्म जीर्ण नहीं हुये । बाजार से चावल खरीद कर चढ़ावे उससे सम्यग्दृष्टि खरीदना चाहे, क्या यह सम्भव है ?

समता भाव स्व-साध्य है, प्रयत्न करना अपने हाथ में है ।



## ज्ञान आत्मा में है, शास्त्रों में नहीं.....

जो आत्मा की आराधना छोड़े वह अपराधी है । अपराध व प्रतिक्रमण साथ-साथ नहीं चल सकते । मोक्षार्थी के लिये क्रियाकांड को छोड़कर शुद्धआत्माराधना में लीन होना सर्वोपरि है ।

आत्मा का भोजन तो ज्ञान है “ज्ञानमृत भोजन” । ज्ञान आत्मा में है, शास्त्रों में नहीं । आत्मा में ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग सदा प्रवाहमयी है । स्वदोष-शमन से ही जल जैसी प्रवाहमय शीतलता होगी ।

विना पुरुषार्थ, भक्ति व श्रद्धा के मन्दिर में जाना लाभप्रद नहीं है । ज्ञान है, पर उसके अनुसार क्रिया-आचरण नहीं है तो वह उपयोगी नहीं है । ससार व बंध में कारण है ‘मोह’ और निर्जरा का कारण है ‘निर्मोह’ । निर्मोही ‘अल्प-ज्ञान’ भी कीमती है, मोह-सहित अथाह ज्ञान की भी कोई कीमत नहीं है ।

आर्ष मार्ग के अनुसार शास्त्रों का अवलोकन अध्ययन उचित दृष्टि देने में समर्थ है । अक्रम-वद्ध किया हुआ अध्ययन मनुष्य को इष्ट स्थान में नहीं ले जा सकता । समयसार का नवा अध्याय है ‘मोक्षाधिकार’, इसमें कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ है तथा अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ हैं । यह मोक्षाधिकार है, इसका उद्देश्य है, आत्मा में ही, आत्म-आराधना में ही रत रहो क्योंकि इस अधिकार में मुमुक्षु-दृष्टि से विचार किया गया है । मोक्ष प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोग आत्म-आराधना की श्रेणी ही उपयोगी है । आख खोल कर बैठ गये तो झूट ही झूट है । इसलिये बाह्य-क्रियायें विषकुम्भ हैं,



क्रियाकाण्ड मोक्ष में पहुँचाने में सक्षम नहीं है। मोक्षाधिकार में पहुँचने पर फिर उसी के अनुसार क्रिया करनी होगी। जिस कक्षा में बैठे हो उसी के अनुसार परिश्रम व क्रिया, करनी होती है, तभी सफलता प्राप्त होती है। तो जो जीव, अजीव, आस्रव आदि के अधिकार से मोक्षाधिकार में पहुँच गया तो उसी के अनुसार क्रिया करनी होगी। आचार्य कहते हैं कि जब तक इष्ट की सिद्धि नहीं हो तब तक अपने में ही लीन बैठे रहो जैसे भगवान् बाहुवली बैठे थे। प्रतिक्रमण भी करते रहे और उसके साथ अपराध भी करते रहे तो ससार शृंखला का अन्त नहीं। इसलिये आत्माराधना में लीन रहे, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि निचली श्रेणी में भी पूजा पाठ प्रतिक्रमणादि न करें। जैसे नीची क्लास में रहकर ऊपर की क्लास की भावना रखते हैं नीची क्लास में उसी क्लास की शिक्षा भी ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार आत्माराधना की प्रारम्भिक श्रेणियों में पूजा पाठ प्रतिक्रमणादि करना चाहिए। यदि नाव में ही बैठे रहेंगे तो नदी में इधर उधर ही घूमते रहेंगे, किनारे लगकर नाव का आश्रय छोड़ देना चाहिये। मोक्षार्थी के लिये क्रियाकाण्ड को छोड़ शुद्ध-आत्माराधना में लीन होना सर्वोपरि है। निर्मल, निरपराध शुद्ध आत्मा ही आराधना में लीन होता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि प्रतिक्रमण ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, क्या इसी श्रेणी में रहना है? प्रतिक्रमण से ऊपर उठो। अच्छे व्यसनो को भी छोड़ो। एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति स्लेट से पढ़ना नहीं चाहता, वह स्लेट का साथ छोड़ देता है। इसी प्रकार मोक्षार्थी प्रतिक्रमणादि का साथ छोड़ आत्माराधना में लीन होता है।

गृहस्थी अपराध भी करता रहे और प्रतिक्रमण भी करता रहे यह उचित नहीं, अपराध व प्रतिक्रमण साथ-साथ नहीं चल सकते। एक म्यान में दो तलवारे कैसे रह सकती है? अपराधादि विपकुम्भ है इनको छोड़ना होगा। जैसे हाथी स्नान करके वापिस धूल-धूसरित हो जाता है वैसे ही हम भी अपराध करते रहे पूजा करते रहे तो कोई लाभ नहीं है यह सिलसिला अन्तहीन है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है “ससिद्धिराधसिद्ध” समयसार (६/१७) में ‘राध’ शब्द का अर्थ है शुद्ध आत्मा-आराधना में निरन्तर लीन रहना। जो आत्मा की आराधना छोड़े वह अपराधी है। अप + राध = अपराध। जितने अंश में आत्मा से रुचि बढ़ेगी उतनी ही सम्यग्दृष्टि बढ़ेगी और जितनी बहिरंग में रुचि बढ़ेगी उतनी ही मिथ्या-दृष्टि बढ़ेगी। हम भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देते हैं, क्यों? क्योंकि वे गृहस्थी की सारी क्रियाएँ करते थे, किन्तु आत्मा-



राधना को नहीं छोड़ते थे । एक बार वे अतिथि सविभाग के लिए द्वार पर खड़े थे । गोचरी के लिए आये दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज को उन्होंने पङ्गाहा और उन्हें महल के अन्दर लिवा ले चले । महल बहुत विशाल था, कभी इधर से गुजरे कभी उधर से गुजरे, कभी नीचे उतरना पड़ा, कभी ऊपर चढ़ना पड़ा, तब आहार व्यवस्था वाले कमरे में पहुँचे । तब भरत चक्रवर्ती बोले मुनिराज ! ये महल जिसमें मैं रहता हूँ यह इतना टेढ़ा है तो ससार कितना टेढ़ा होगा ? आज आपके पधारने से मेरा मन सरल हो गया । महाराज ! आप तो जानामृत का भोजन करने वाले हैं । इस भौतिक जगत के भोजन में आपको आनन्द ही नहीं आ रहा होगा । मैं आपको क्या खिलाऊँ ?” मुनिराज के आहार के पश्चात् जब भरत चक्रवर्ती स्वयं भोजन करने बैठे तो भोजन करते समय गरदन झुका आँख बन्द कर कुछ सोचने लगे । सबने समझा कि राजा को नींद आने लगी है । जब राजा ने आँख खोली तो परिजनो ने कहा क्या नींद आने लगी थी ? भरत चक्रवर्ती ने जवाब दिया नहीं ! मैं यह विचार कर रहा था कि यह भोजन तो शरीर के लिये है, आत्मा का भोजन तो ज्ञान है ‘ज्ञानामृत भोजन’, अर्थात् वे आत्मारामना नहीं भूलते थे । आराधना जिसका एकाग्र लक्ष्य है वह सिद्धि से ससिद्धि तक उसे नहीं छोड़ता ।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि— लक्ष्य कैसे बनाया जाये ? यह कैसे संभव हो कि उस लक्ष्य से भटका नहीं जावे ? उस व्यक्ति को दूसरे दिन किसी ने भोजन पर आमन्त्रित किया । थाली में नाना तरह के व्यंजन, अनेक विशिष्ट व्यंजन परोसे और भोजन के लिये बैठा दिया, साथ में कहा कि देखो भाई यह तुम्हारे ऊपर एक तलवार घोंडे के बाल से बाध रखी है, ध्यान रखना कि नीचे न गिर जाय । उस व्यक्ति ने भोजन कर लिया । तब मेजवान ने पूछा क्यों भाई ! भोजन कैसा लगा ? मेहमान ने कहा— “कैसा भोजन ! कौनसा-भोजन ! मुझे तो कोई आनन्द नहीं आया । मेरा तो ध्यान उस तलवार पर अटक रहा था, कहीं यह गिर नहीं जाये ।” इसी तरह आत्मारथी ससार के कार्य करते हुये भी उसमें लिप्त नहीं होते ।

इस ससार, पापादि में डूब नहीं जाये इसके लिये (पाप से बचने के लिये) आत्मा का ध्यान जरूरी है । सूत्रपाहुड मूलाचार में कहा है कि— सुई बहुत छोटी होती है, यदि उसमें धागा बधा हो तो वह गुम नहीं होती । इसी प्रकार इस आत्मा के धर्म ध्यान का सूत्र साथ लगा हो तो ससार में अधिक भटकेगा नहीं उसे शीघ्र ही इष्ट की प्राप्ति हो जायेगी ।

एक बुढ़िया थी, वह सिलाई कर रही थी । सिलाई करते समय उसकी

सुई गिर गई, बहुत दूँढा, सध्या हो गई पर सुई नहीं मिली । इतने में एक व्यक्ति वहाँ आया और बोला—क्या दूँढती है माई ? बुढ़िया बोली मेरी सुई गिर गई वह दूँढती हूँ । वह व्यक्ति बोला तो अघेरे में क्या दूँढती है, रोशनी में दूँढ, यह कह वह व्यक्ति चला गया । बुढ़िया उस व्यक्ति के कहे अनुसार भोपडी के बाहर रोशनी में दूँढने लगी, पर सुई तो नहीं मिली । इतने में एक दूसरा व्यक्ति आया और बोला माई क्या दूँढती है ? बुढ़िया बोली—बेटा सुई गिर गई थी, वही दूँढती हूँ । वह व्यक्ति बोला—सुई कहाँ गिरी थी ? बुढ़िया ने बताया कि सुई तो भोपडी में गिरी थी । जब भोपडी में सुई गिरी थी तो बाहर कैसे मिलेगी ? बुढ़िया बोली—तो पहले आने वाले व्यक्ति ने कहा रोशनी में दूँढ, इसीलिये मैं रोशनी में दूँढ रही थी । बुढ़िया को दूँढना तो रोशनी में ही चाहिये, पर जहाँ गिरी है वही पर रोशनी करेगी तब ही तो खोई हुई सुई मिलेगी, जहाँ सुई है ही नहीं, गिरी ही नहीं, वहाँ कैसे मिलेगी ? हम भी उस बुढ़िया को भाति अपनी आत्मा को शास्त्रों में दूँढते हैं । आत्मा अन्तर में है, रोशनी—ज्ञान आत्मा में है, शास्त्रों में नहीं । शास्त्र तो इसको प्रकाशित करने के प्राप्त करने के, साधन हैं ।

आत्माराम के लिये कही भी बैठकर क्षणभर के लिये ही सही, विकृत व नीच-विचार मन से दूर कर, यह ध्यान कर कि कही अशुद्ध में तो परिणति नहीं हो रही है, लीन हो जाना चाहिये । प० टोडरमलजी ने कहा है कि—(रहस्यपूर्ण चिट्ठी में) एक व्यक्ति कुछ भी क्रिया नहीं कर रहा पर आत्मा-परमात्मा की बात अत्यन्त श्रद्धा, रुचि के साथ सुन रहा है, शर्त है केवल श्रवण नहीं अत्यन्त श्रद्धा व रुचि भी साथ है, तो वह 'भव्य' है, भावी मोक्षगामी है । प्रगाढ़ श्रद्धा, रुचि भविष्य में मोक्षप्रदाता है । जो प्रतिदिन जिनेन्द्र-भगवान के दर्शन-पूजन, भक्ति करता है वह आसन्न-भव्य है । 'भव्य' नहीं होते तो भगवान की पूजादि में मन ही नहीं होता । नेमिचन्द्राचार्य ने यह बात कही कि जो प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान की पूजादि करता है वह आसन्न भव्य है, अन्यथा उसकी रुचि हो ही नहीं सकती थी, देव-दर्शन की भावना जागृत ही नहीं हो सकती थी ।

प० दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है—पशु, नर, नारक, सुर—सभी गतियों में मैं भ्रमण कर आया हूँ । अब काललब्धि आयी है तो आपके चरणों में आया हूँ । मन्दिर में भाड़ू मारने की नौकरी मिल गई हो पर बिना पुरुषार्थ, भक्ति व श्रद्धा के मन्दिर में जाना लाभप्रद नहीं है । जैसे विभिन्न व्यापारादि से पैसा कमाना ही ध्येय होता है उसी प्रकार, माला, स्वाध्याय, ध्यान, भजन, धर्म-भक्ति के पीछे कोई आकांक्षा नहीं, वीतराग-भाव है तो ये मोक्ष

के कारण हैं। विषापहार स्तोत्र में कहा है कि कोई माला जपता है, कोई कीर्तन करता है। सबको फल प्राप्त करना है, जैसे कि एक ही पेड़ से, अलग-अलग साधनों से (कोई पेड़ पर चढ़कर, तो कोई लकड़ी से, कोई पत्थर से तोड़कर) फल प्राप्त करते हैं। पर इन सब क्रियाओं में एकाग्रता होनी चाहिये, चिंतन होना चाहिये। आ० पूज्यपाद ने कहा है कि—श्रवण किये हुये सिद्धान्तों को अनुभव प्रतीति की दृष्टि से आत्मा के साथ सतत जुड़ाये रखना चाहिये। अग्नि पर दूध रखते हैं तो आँखों का सम्बन्ध उसके साथ जोड़कर रखते हैं कि कहीं उफन न जाये। आचार्य कहते हैं (सलिल-शान्तिक चैव) हे भगवन् ! आपने पूर्ण शीतलता प्राप्त करली है। जल भी शीतल गुण युक्त है। मैं भी आपकी जैसी पूर्ण शीतलता प्राप्त करना चाहता हूँ, उस पूर्ण शीतलता के प्रतीक का मैं जल चढ़ाता हूँ।

जल का स्वभाव शीतलता है, यह शीतलता कभी समाप्त नहीं होती, नष्ट नहीं होती,। जल गर्म होने पर भी अग्नि पर डालते हैं तो अग्नि बुझ जाती है, इसका तात्पर्य है कि उसमें शीतलता अभी भी है। ऐसे ही जीव नाना रग-रागादि में डूबने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता अन्तर केवल व्यक्त, अव्यक्त व पूर्णता का है।

‘अप’ शब्द जलवाचक है, जैनशास्त्रों में ‘अप’ ‘अप्पा’ शब्द को आत्म-वाचक अर्थ में प्रयुक्त किया है। यह जैनो का परिभाषिक शब्द है क्योंकि जैसे जल सदा प्रवाहमय है वैसे ही आत्मा ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग से सदा प्रवाहमय रहता है। इसीलिये जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के समय—जल निर्वपामिति स्वाहा’ कहते हैं कि जल चढ़ाने से स्वदोष शान्त हो जायें और अन्तरग में जल जैसी शीतलता उत्पन्न हो। परन्तु केवल जल चढ़ाने से शांति नहीं मिलेगी। समन्तभद्राचार्य ने कहा कि—जब अन्तर के स्वदोष शांत हो जायेंगे तभी आत्मा में जल जैसी प्रवाहमय शीतलता उत्पन्न होगी। स्वदोष शमन से ही शांति-स्वच्छता आयेगी।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक लेख में लिखा है कि—राजकुमार महावीर राजमहल में बैठे थे। तभी सिंह सेनापति वहाँ आये। वे बहुत चिन्तित दिखाई दे रहे थे। राजकुमार महावीर ने पूछा—तुम कैसे चिन्तित हो रहे हो? सिंह सेनापति ने कुछ कारण बताया और कहा कि तुम्हारे वचनों से कुछ शांति मिलेगी। राजकुमार महावीर ने कहा—मेरी वाणी से नहीं, तुम्हारे अन्तरग की स्वच्छता से ही शांति प्राप्त होगी।

स्व-दोष शमन से ही शांति प्राप्त होगी । जल चढ़ाना तो द्रव्य पूजा है । द्रव्यपूजा के साथ भावपूजा भी आवश्यक है । जब अपने भावों पर विजय प्राप्त कर लेंगे तभी शांति प्राप्त होगी । अपने मूल-भावों-परिणामों को प्राप्त कर उसी में लीन रहूँ, यही भावना होनी चाहिये । ज्ञान होना व स्वरूप में लीन होने में अन्तर है । क्रोध आ रहा है तो वह जान रहा है कि क्रोध आ रहा है पर उसे छोड़ नहीं पा रहा । शराब पीने वाला जानता है कि शराब हेय है, त्याज्य है, हानिकारक है, पर फिर भी उसको छोड़ नहीं रहा । इसलिये ज्ञान के साथ-साथ स्वरूपाचरण, चारित्र्य को भी अत्यन्त महत्त्व दिया है । स्व-भाव में लीन न होने पर ज्ञान कितना ही हो वह उपयोगी नहीं है । ज्ञान है पर उसके अनुसार क्रिया आचरण नहीं है तो वह उपयोगी नहीं । ज्ञान व क्रिया में अन्तर है । जहाँ क्रिया है वहाँ तो ज्ञान है पर यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ ज्ञान हो वहाँ क्रिया हो ही । गणेश प्रमादजी वर्णी ने कहा है — गल्पवादी में क्रियावादी अच्छा है क्योंकि वह मार्ग में लग गया है । तट पर बैठकर नदी की तरफ गिने, कल्पनायें करे कि मैं ऐसे निकल जाऊँगा, ऐसे तैरूँगा वह तट पर ही बैठा रहेगा और जो कूदकर तैरेगा वह नदी पार कर जायेगा । अल्प ही मही पर प्रामाणिक क्रिया है तो वह उपादेय है ।

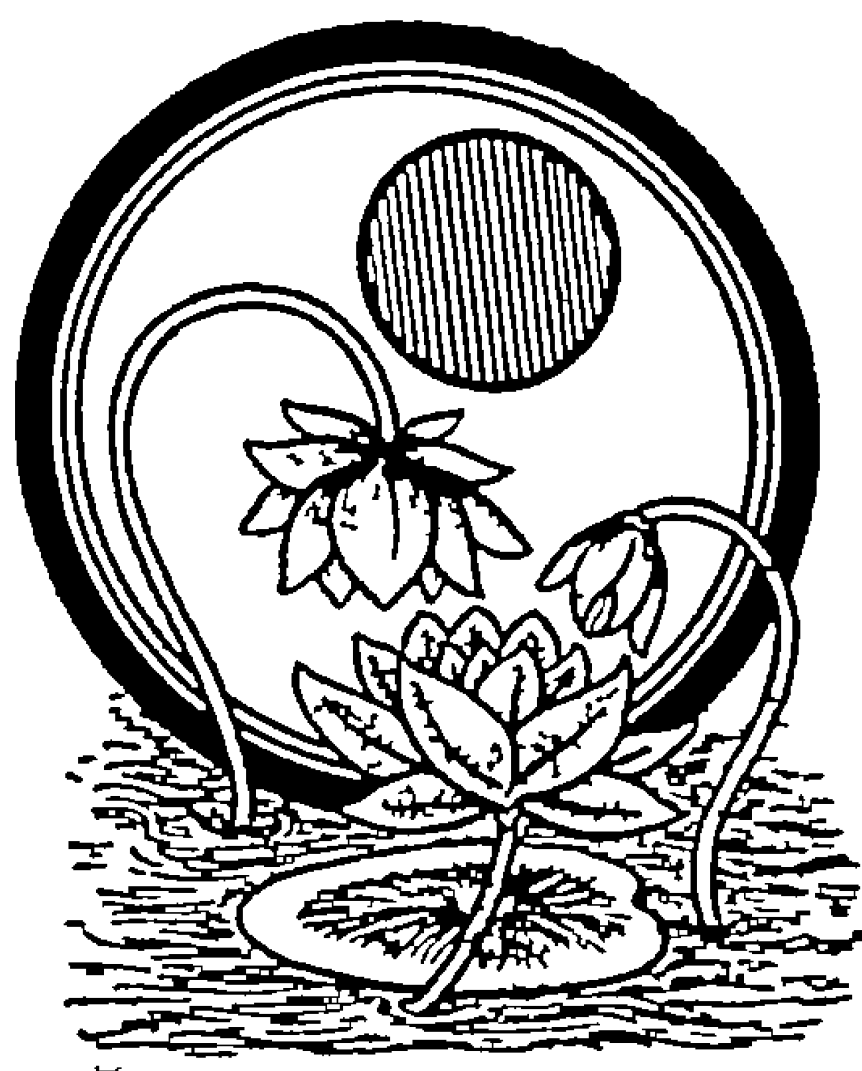
प्रमेय कमल मार्तण्ड में कहा है— दो छात्र विद्याभ्यन के लिये आये । गुरु ने पूछा कैसी शिक्षा ग्रहण करना चाहते हो ? एक ने कहा—‘दुर्जय’ कठिन से कठिन, दूसरे ने कहा ‘सुलभ’ अत्यन्त सरल शिक्षा चाहता हूँ । आचार्य ने कहा दोनों ही उपयुक्त नहीं हैं । कैसे ? आचार्य बोले—एक रोगी वैद्यजी के पास गया और बोला वैद्यजी मुझे तत्काल ठीक कर दो । वैद्यजी ने कहा कि—जाओ एक हजार वर्ष पुराने नागराज को ढूँढो और उसके मस्तक से मणि निकाल कर अपने मिर पर रखलो तत्काल ठीक हो जाओगे । मर्पराज को ढूँढना फिर उसके मस्तक से मणि निकालना अत्यन्त कठिन है, जब तक मर्प को ढूँढेगा तब तक तो रोगी ही मर जायेगा । वैद्यजी ने अत्यन्त सरल उपाय बताया जाओ कौवे के दात गिनो । कौवे के दात ही नहीं होते तो गिने क्या ? अतः तात्पर्य यह है कि दुर्जय कठिन के नाम में अप्राप्य की बात व सरल-सुलभ के नाम में अर्थ की बातें अर्थहीन हैं, व्यर्थ हैं । मार्ग ऐसा होना चाहिये जिसमें तत्त्व भी हो और आत्मा को लाभ भी हो ।

समार का कारण अल्पज्ञान नहीं है, बंध का कारण अल्पज्ञान नहीं है, निर्जरा का कारण अधिक ज्ञान नहीं है । समार व बंध में कारण है ‘मोह’ और निर्जरा का कारण है ‘निर्मोह’ । अल्पज्ञानी भी ‘निर्मोही’ हो तो वह मोक्ष

जा सकता है, पर बहुत बड़ा ज्ञानी भी मोही होगा तो वह ससार में ही भटकेगा, मोक्ष में नहीं जा सकेगा। अष्टपाहुड में कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि तुष-मास के अल्पज्ञान के साथ मोह-विहीनता से शिवभूति मोक्ष चला गया। ज्ञान की कीमत तभी है जब मोह कम हो।

भगवान् महावीर के समवशरण में गौतम के गणधर वनने पर मक्खलगोशाल ने सोचा कि वेद-वेदात का ज्ञाता गौतम को तो गणधर बनाया पर मैं नौ पूर्व का ज्ञाता, मुझे गणधर नहीं बनाया। इसका मतलब है कि अज्ञान से मोक्ष मिलता है ज्ञान से नहीं और उसने इसी मत का प्रचार किया। जबकि निर्मोही मोक्षमार्ग है, मोही ज्ञानी होने पर भी मोक्षगामी नहीं है। ज्ञान थोड़ासा भी हो पर मोह रहित हो। एक छोटी सी अग्नि की चिनगारी (सूखी) रूई के ढेर पर पड़ती है तो उसे भस्म कर देती है पर गीली लकड़ी पर पड़ती है तो बुझ जाती है, इसी प्रकार मोह से गीली आत्मा पर ज्ञान कुछ असर नहीं करेगा, पर मोहरहित आत्मा होगी तो वह अल्पज्ञान भी मोक्ष का कारण बन जायेगा।

ज्ञानार्जन करने में, शब्दों का भण्डार भरने से कुछ नहीं होगा यदि मोह का नाश न हुआ तो, निर्मोही-ज्ञान की कीमत है, मोह सहित अथाह-ज्ञान की भी कोई कीमत नहीं है।



## पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

कमिया, दोष सबमे है, कम या अधिक, व्यक्त या अव्यक्त । जिनके दोष व्यक्त हुये उन पर कानून के द्वारा मुकदमा चलता है । मनुष्य जन्म से गुणवान् है, सस्कार करते रहने से वह महापुरुष, महात्मा बन सकता है । मन ही बुराईयो की जड है तो मन ही बुराई दूर करने का साधन है ।

आजादी के बाद हमने अधिकारो का ज्ञान तो कर लिया पर कर्तव्यो का ज्ञान नहीं किया ।

कितनी भी सुविधायें हो पर वधन तो आखिर वधन है । जो अपराध हो गया उसका प्रायश्चित्त कीजिये । अपनी आत्मा पर, भगवान पर विश्वास कीजिये । स्वर्ग भी आपके हाथ में है, नरक भी आपके हाथ में है ।

मादक वस्तुओं का सेवन मत कीजिये, ये बुराई की जड है ।

यह ससार अनादि है । सब वस्तुयें अनादि हैं चाहे वे काटे हो चाहे फूल हो, चाहे ककर हो । पशु-पक्षी, कृमि-कीट, हाथी-घोड़ा जो भी जन्म लेते हैं वे खाते हैं, पीते हैं और मृत्यु की गोद में सो जाते हैं । जो जन्मा है वह मरेगा । जब आयु खत्म होने को आयेगी तो उसे कोई नहीं रोक सकेगा ।

भारत धर्म प्रधान देश है । इतिहासकारों ने भारत का जो इतिहास लिखा है उससे ज्ञात होता है कि भारत में ऐसा भी युग था जब लोग घरों में

ताले नहीं लगाते थे । मेगस्थनीज ने अपने चौसठ अध्यायी ग्रन्थ में चार छ अध्यायो में भारत का वर्णन किया है । उसमें लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में जनता को चोरी की आदत नहीं थी ।

हम जब हिमालय में गये थे तब वहाँ देखा कि वहाँ के लोग भी अपने घरों में ताले नहीं लगाते थे । छोटे छोटे बीस-पच्चीस घरों के गाँव थे । गायद वे ताले इसलिये न लगाते हो कि उनके पास कोई वैभव नहीं था, तो भी अन्न, कपड़ा, कुछ रुपये पैसे तो होते ही हैं । वहाँ के लोग कहते थे कि—जब तक हमारे गाँव वस सेवा से जुड़े हुये नहीं थे तब तक चोरी का नाम नहीं था, तब हम मुख्य सड़कों पर स्थित दुकानों पर भी ताले नहीं लगाते थे, केवल पशुओं से उनकी सुरक्षा हेतु रस्सी आदि से कुण्डी को बाध देते थे ।

एक भारतीय व्यक्ति बल्ब बनाने की तकनीक जानने हेतु जापान गया । वहाँ उसने एक बहुत कीमती घड़ी खरीदी । एक दिन वह किसी कार्यवश बाहर गया हुआ था । वहाँ एक रेस्टोरेंट में उसने जलपान किया । लौटकर जब वह अपने कार्यालय में आया तो ध्यान आया कि वह घड़ी रेस्टोरेंट में ही भूल आया । पास ही उसकी सहकर्मी एक जापानी लड़की बैठी हुई थी । उसने पूछा क्या हुआ ? भारतीय ने कहा—मैं वहाँ अपनी घड़ी भूल आया । क्या करूँ ? अब तो वह नहीं मिल पायेगी । लड़की बोली—क्यों नहीं मिल पायेगी ? भारतीय ने कहा—कोई भी उठा लेगा, इसलिये नहीं मिल पायेगी । यह सुन वह लड़की रोने लगी कि आपने मेरे देशवासियों को चोर समझ लिया, यह सोचकर मैं दुःखी हूँ, पर आप विश्वास कीजिये, आपकी घड़ी जहाँ पर रख कर आप भूल गये हैं वही पर ज्यों की त्यों रखी हुई मिलेगी । वह लड़की और भारतीय वहाँ पहुँचे, होटल मालिक से बात की । अन्दर जाकर देखा तो घड़ी उसी स्थान पर ज्यों की त्यों पड़ी हुई थी ।

ये सब इतिहास सम्मत बातें हैं । इतिहास पढ़ने में ज्ञात होता है कि पहले भारत भी सम्पन्न बहुत था, उस समय दुराचार, व्यसन, चोरी आदि भी नहीं होती थी ।

मनुष्य-भवं सर्वमे श्रेष्ठ है । ये कबूतर जेल में आते हैं, जाते हैं पर इनको यहाँ कोई बन्धन नहीं है । गली-मुहल्ले में कुत्ते भी यूँ ही घूमते रहते हैं, उन्हें कोई बन्धन नहीं है, पर यदि वे काटने लगते हैं तो उन्हें नगरपालिका की ओर से पकड़ लिया जाता है । यदि मनुष्य भी अपना जीवन दूसरे को



किसी भी प्रकार का कण्ट दिये बिना व्यतीत करता है तो उसको भी ससार में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। कमिया, दोष सबमें है, किमी में कम किसी में अधिक, किमी में व्यक्त हैं, किसी में अव्यक्त। जिनके दोष व्यक्त हो गये उन पर कानून द्वारा केस चलता है।

मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में गुणों का भंडार है, जन्म से ही गुणवान है, वह बड़ा होकर शिक्षा-संस्कार से और भी गुणवान बन सकता है। जैसे—लोहा, मिट्टी में पड़ा रहा तो जग लग जायेगी, यदि उसकी मुई बना दें तो उसकी कीमत आकी जाने लगेगी, ताला बना दें तो कीमत बढ़ जायेगी, और कोई आजार बना दिया तो वह और भी मूल्यवान हो जायेगा। अर्थात् जैसे जैसे उसमें संस्कार करते जायेंगे, वैसे वैसे उसकी कीमत बढ़ती जायेगी। उसी प्रकार हम भी अपनी आत्मा पर अच्छे-अच्छे संस्कार डालेंगे तो वह भी कीमती होता जायेगा। अच्छे संस्कारों के द्वारा आप भी अच्छे नागरिक बन सकते हैं। भारत आजाद हुआ, इस आजाद भारत में हमने अपने अधिकारों का ज्ञान तो कर लिया, अधिकारों की बात तो की, परन्तु कर्तव्यों की बात नहीं की, कर्तव्य का ज्ञान नहीं किया। जिस दिन हमारे स्कूलों-कालेजों में विद्यार्थियों को कर्तव्य-बोध की शिक्षा दी जायेगी तभी वे मनुष्य बनने योग्य होंगे।

गांधीजी एक बार स्विटजरलैण्ड गये, वहाँ विश्व नागरिक संगठन नामक संस्था के अध्यक्ष के घर गांधीजी ने आतिथ्य स्वीकार किया। बैठे-बैठे उनमें चर्चा हो रही थी। उस अध्यक्ष ने पूछा—एक मनुष्य बहुत अच्छा हो, मार्गदर्शक बने, इसके लिये उसमें कौन-कौन से गुण होने चाहिये, गांधीजी ने कहा—सत्य भी होना चाहिये, जील होना चाहिये, असंख्य गुण होने चाहिये पर संक्षिप्त में चौबीस घंटे मन में भगवान का स्मरण करे वह पुरुष आदर्श पुरुष है, वही स्वयं की उन्नति कर सकता है और साथ में देश की, समाज की, परिवार की भी उन्नति कर सकता है।

शिक्षा देना व ग्रहण करना दोनों ही मुश्किल हैं। एक ब्या ने एक बंदर को कहा—अरे तुम्हारे मनुष्यों के जैसे हाथ-पाव हैं तो क्यों ठंड में ठिठुर रहे हो, घर बनाकर क्यों नहीं रहते? बंदर क्रोधित हो उठा—मुझे भी शिक्षा देती है, अच्छा। यह कहकर उसने ब्या का घोंसला उजाड़ दिया। शिक्षा भी पात्र देखकर देनी चाहिये।



रत्नाकर कवि की कन्नड कविता का भावार्थ है—एक सोने का पिंजरा है जो अनेक मूल्यवान् हीरे-जवाहरातो से सुशोभित हो रहा है। उसमें एक तोता रहता है, उसे अनेक मिष्ठान्न, मेवा खिलाया जाता है, परन्तु उसे उस पिंजरे का वधन दुःखदायी महसूस होने लगता है। वह अपनी चोच से पिंजरे का दरवाजा खोलना चाहता है। उसे स्वच्छन्द उड़ानें—उन्मुक्त विहार याद आता है। जब एक तिर्यंच प्राणी भी वधन में रहना पसन्द नहीं करता तो मनुष्य कब पसन्द करेगा ?

ब्रिटेन में एक जेल है जिसमें प्रत्येक कमरे में टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, पुस्तकें, फ्रिज आदि की सुविधायें थीं। एक फ्रांस के व्यक्ति को उस जेल का निरीक्षण कराया गया। निरीक्षण के बाद अधिकारियों ने पूछा—आपको यह जेल कैसी लगी ? वह व्यक्ति मुस्कुराया और बोला—कितनी भी सुविधायें हों, वधन तो आखिर वधन ही है। इतनी सुविधायें देखकर उस फ्रांसिसी व्यक्ति ने एक कैदी को पूछा—क्यों भाई, तुम यहाँ कैसा अनुभव करते हो ? इतनी सुविधायें देख मेरी इच्छा हो रही है कि मैं भी जेल में आ जाऊँ। यहाँ कोई काम नहीं करना होगा, केवल सुविधायें ही सुविधायें हैं। तब कैदी ने उत्तर दिया—“सब सुविधायें हैं पर फिर भी रात में नीद नहीं आती क्योंकि आखिर तो हम वधन में हैं। अब तो यह निश्चय है कि दुबारा यहाँ नहीं आयेंगे।” इतनी सुविधायें होने पर वह तोता और वह व्यक्ति दोनों ही वधन का अनुभव करते हैं। वधन में सुख-शांति नहीं है। इसलिये आप भी मन, वचन, काय से यह सकल्प कीजिये कि जो अपराध हुआ है, यहाँ से छूटने के बाद उसे नहीं दोहरायेंगे। अपना जीवन आदर्शरूप से बितायेंगे। यदि यह आप भगवान का नाम स्मरण कर जीवन शांतिपूर्वक निभाते हैं तो आपका पिछला जो बुरा कर्म है वह भी मिट सकता है। यदि यहाँ से बाहर जाकर भी कोई परिवर्तन नहीं किया तो जीवन व्यर्थ है। अजन चोर, विद्युत चोर आदि बड़े बड़े चोर हुये हैं जिन्होंने अपना जीवन सुधार लिया और अजन चोर तो मुक्त भी हो गया। इसलिये आपसे जो भी अपराध हो गया है, उसके लिये प्रायश्चित्त कर सकल्प कीजिये, यहाँ भी आदर्श जीवन व्यतीत करें। यह मत सोचिये कि यहाँ से बाहर जाकर आदर्श जीवन बितायेंगे, भविष्य में नहीं वर्तमान में भी आदर्श बनिये। स्वर्ग भी आपके हाथ में है, नरक भी आपके हाथ में है। यदि यहाँ अच्छा जीवन बितायेंगे तो अच्छी आदतें हो जाने से बाहर जाकर स्वयमेव अच्छा जीवन बितायेंगे। यहाँ नहीं सुधरेगे तो बाहर जाकर कैसे सुधरेगे ? क्या आप नहीं चाहते कि अन्य लोगों की भाँति हम भी

## सन्त न होते संसार में तो... ...जल जाता संसार

धर्म के दो तट हैं—साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका । इनकी विच्छेति होगी तो धर्म तीर्थ का नाश हो जायेगा । समुद्र सिंधु है—विदुओ के योग से । यदि एक विदु सिंधु से पृथक् हो जाती है तो सूर्य उसे सुखा देता है । जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जायेगा ।

नित्य प्रति स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रबल निमित्त कारण है । प्रतिदिन एक-एक शब्द भी अर्थ सहित, भावसहित मनन करे तो मानव सरस्वती का भण्डार हो जाये, दस वर्ष में स्वयं समयसार बन जाये । वाचन से पाचन महान् है ।

वीतरागता के विना, मोहनीय को हटाये विना चारित्र्य स्थिर नहीं हो सकता ।

आहार-दान व आशीर्वाद के समय क्रमशः दाता का (गृहस्थ का) व साधु का हाथ ऊपर रहता है । जब तक यह सम्बन्ध है—तब तक समाज वधा हुआ है, दोनों का एक दूसरे पर अनुशासन है ।

किसी भी सिद्धान्त का, व्यवस्था का या चीज का मनोवैज्ञानिक ढंग से मनोयोगपूर्वक अन्वेषण नहीं करें, अनुसंधान नहीं करें तो वह प्रभावित नहीं करती । हमारे सामने दो दृष्टि हैं—(१) साधु व (२) समाज ।

ऋषभदेव तीर्थंकर से आज तक साधु व समाज की अव्यावाध, अविच्छिन्न रूप से परिपाटी चली आ रही है, कभी इसका ह्रास भी हुआ तो कभी उन्नति भी हुई। तिलोपपण्णति ग्रंथ में उल्लेख है कि चौबीस तीर्थंकरों के बीच मात्र बार मुनि दीक्षा का ह्रास हुआ, सात बार यह परिपाटी छूटी, इसलिये उस समय धर्म की व्युच्छिन्नता हुई, कुछ विकृतियाँ आ गई। जब तक दीक्षा-शिक्षा की परिपाटी समाज में चलती रहेगी, धर्म चलता रहेगा। समन्तभद्र ने कहा है 'न धर्मो धार्मिकैर्विना', धार्मिक के बिना धर्म नहीं है।

रविषेणाचार्य ने बहुत वैज्ञानिक ढंग से पद्मपुराण में कहा है कि धर्म की व्युच्छिन्नता कब क्यों और कैसे होती है? क्या दीक्षा बंद होने से धर्म नहीं रहेगा? धर्म तो अनादि है, अखण्ड है। वस्तु स्वभाव नष्ट नहीं होता, पर उसके द्वारा, उसके आचरण से मुक्त होने की, जीवन सफल बनाने की परिपाटी खत्म हो जाती है। तब प्रश्न है उसकी व्यवस्था पुनः कैसे हो?

जब-जब आचार-विचार में हीनता आने लगती है, दोष आने लगते हैं, आचार-विचार का विघात होने लगता है, तो मिथ्यादृष्टि जीवों का बाहुल्य होता है, मिथ्यादृष्टियों की संख्या बढ़ती है। धर्म में मलीनता आने लगती है, परिस्थितियाँ मलीन होने लगती हैं, समाज मलीन हो जाता है, धर्म में ग्लानि हो जाती है तब पुनरपि उसे प्रक्षालित करने हेतु तीर्थंकर का जन्म होता है। मुक्तात्मा तो वापस आ नहीं सकती, कोई भव्य महान्-पुरुष रूप में जन्म लेकर धर्म को प्रक्षालित करता है। अकलक देव ने कहा कि—अनुकम्पापूर्ण आचार्यों ने इस धर्मतीर्थ को चलाया।

तीर्थंकरों ने जिन सिद्धान्तों का, तत्त्वों का अनुभव किया और बताया, आचार्य ने उनका उपवृहण किया। आचार्य उनके बताये धर्म तीर्थ को आगे बढ़ाते हैं। जैसे—गाड़ी बनाने वाला और कोई होता है और चलाने वाला और कोई होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर धर्म तीर्थ के कथंचित् निर्माता हैं और आचार्य उसके चलाने वाले हैं। जैसे ड्राइवर के हाथ में गाड़ी की सुरक्षा है गाड़ी में बैठने वालों की सुरक्षा है, वैसे ही आचार्यों पर धर्म तीर्थ की व उस तीर्थ के सहारे चलने वाले समाज की सुरक्षा अवलंबित है।

समुद्र में सिंधु व बिंदु दो चीजें हैं। जब जल का भण्डार है तब सिंधु है। अनेक बिंदु हैं तभी सिंधु बनता है। यदि एक बिंदु सिंधु से पृथक् हो जाये तो सूर्य उसको सुखा देता है पर सिंधु के साथ रहने पर दो सूर्य भी उसे

स्वतन्त्र रहे, इच्छानुसार घूमे-फिरे, आदर का जीवन व्यतीत करे ? मरकार या हम कोई भी आपको कष्ट देना नहीं चाहते । सब में मानवीयता है । सब प्राणियों में से मनुष्य में स्वाभिमान होता है और किसी में नहीं होता । आप अपने स्वाभिमान को बनाये रखना चाहते हैं, आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो अपनी आत्मा पर भगवान पर विश्वास रखिये । आदर्श जीवन व्यतीत करने का सकल्प कीजिये । मादक पदार्थों का सेवन मत कीजिये, व्यसनो को छोड़िए, ये बुराई की जड़ है, इससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । शराब भी बुद्धि भ्रष्ट करती है, चोरी की भावना उत्पन्न कर देती है और उससे अन्य बुराईया उत्पन्न हो जायेंगी, क्योंकि एक व्यसन अनेक बुराईयो व कष्ट को आमन्त्रण देता है ।

आप कानून का पालन करे । मन से कानून का पालन करेंगे तो आदर्श जीवन व्यतीत कर सकेंगे । आप यहाँ हैं, आपका परिवार बाहर हैं सोचिये आपकी माँ को, भाई को, पत्नी को, बहिन को कितना दुःख होगा आपके इस जीवन से ।

एक फ्रामिसी कहानी है—एक अमीर का बेटा था । वह अत्यन्त व्यसनी था । माँ उसे बहुत प्यार करती थी । वह जो चाहता था, वही उसे मगाकर देती थी । कभी उसे किसी भी कार्य के लिये नहीं रोका । व्यसनो में फसे रहने के कारण सब सम्पत्ति खत्म हो गई । मकान जायदाद विक गई और वे माँ-बेटे एक भोपड़ी में रहने लगे । माँ ने तब कुछ नहीं कहा, न रोका । एक दिन उस लड़के की प्रेमिका बोली - तू यदि मुझे अपनी माँ का कलेजा लाकर दे, तभी मानू कि तू मेरा सच्चा प्रेमी है । वह गया और अपनी माँ से जाकर कहा । माँ ने कहा तेरी मरजी बेटा । बेटे ने माँ का कलेजा चीरा और ले चला अपनी प्रेमिका के पास । राह में शीघ्रता के कारण वह ठोकर खाकर गिर पड़ा । हाथ में जो कलेजा था उसमें से आवाज आई—बेटा ! तुझे कहीं चोट तो नहीं लगी ? सोचिये माँ का हृदय कैसा होता है । आपकी माँ को, परिवार के लोगो को, बन्धुजनो को कितना कष्ट होगा, कितना दुःख होगा । आप अन्दर यहाँ बैठे हो पर, बाहर वे सतोष से थोड़े बैठे होंगे । क्या आप अपने पारिवारिक-जनो को कष्ट देकर यहाँ आना पसन्द करते हैं । इस सब बातों पर व्यापक दृष्टिकोण से, दूरदर्शिता से विचार कीजिये व अन्तरंग से यह सकल्प कीजिये—(मैं कह रहा हूँ इसलिये नहीं,) कि अपनी इच्छा से, उद्योग कर प्यार में जीवनयापन करूँगा । कोई अपराध नहीं करूँगा । एक

अपराध के कारण यहा रहना पड रहा है, कष्ट भोगना पड रहा है, यही विचार उस अपराध का प्रायश्चित है ।

आप सोचिये कि हमे क्यो कोई यहा लाकर रखता है । यहा आना ही अपने आप मे अपराध है । सरकार कितनी भी सुविधाये दे पर बधन तो आखिर बधन ही है ।

आचार्य वादिवृषभ ने कहा है—बधन मे पडे रहने से मर जाना बेहतर है । सूखी रोटी खाकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है, बजाय सुविधायुक्त जेल के बन्धन मे रहने के ।

अत्यन्त वात्सल्य-भावना से आशीर्वाद देता हू कि पुन आपको यहा न आना पडे, बन्धन मे न फसना पडे, ऐसा आदर्श प्रस्तुत करने मे सक्षम होवे । आपका भावी जीवन अच्छा बीते । दूसरे को भी समझाइये कि अपराध न करे, आदर्श जीवन व्यतीत करे ।

जर्मन मे एक सगठन है जहा अपराध, आत्महत्या करने के इच्छुक फोन कर अपनी इच्छा बताते हैं । वे अपराधियो को, चोरी करने वालो को, आत्महत्या करने वालो को उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उन्हें ऐसा करने से रोकते है, समझाते हैं, उनका मन परिवर्तन करते हैं ।

यदि आप पढना जानते हो और यहा पढने की सुविधा प्राप्त हो तो आप महापुरुषो की जीवनिया पढिये, इससे मन स्वच्छ होगा । मन स्वच्छ होगा तो वचन भी स्वच्छ होगा । मन ही बुराइयो की जड है और मन ही इन बुराइयो को दूर करने का साधन है । यदि आप आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहते है तो सत्तू की भांति मन, वचन, काय से छानकर व्यवहार करें, विचार रखें, क्रिया करें । हमसे अच्छे पशु-पक्षी है जो लडते है तो कुछ क्षणो के लिये, द्वेष-पूर्वक कोई कार्य नही करते, ऐसी क्रियायें नही करते जिससे जेल भुगतनी पडे । मन को स्वच्छ बनाइये, वचन को स्वच्छ बनाइये ।

हम यहा यही सद्भावना लाये है कि आप आदर्श जीवन बिताये व आगे कोई बुरा कार्य न करें ।



## सन्त न होते संसार में तो... ...जल जाता संसार

धर्म के दो तट हैं—साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका । इनकी विच्छति होगी तो धर्म तीर्थ का नाश हो जायेगा । समुद्र सिधु है—विदुओ के योग से । यदि एक विदु सिधु से पृथक् हो जाती है तो सूर्य उसे सुखा देता है । जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जायेगा ।

नित्य प्रति स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रबल निमित्त कारण है । प्रतिदिन एक-एक शब्द भी अर्थ सहित, भावसहित मनन करे तो मानव सरस्वती का भण्डार हो जाये, दस वर्ष मे स्वय समयसार बन जाये । वाचन से पाचन महान् है ।

वीतरागता के विना, मोहनीय को हटायें विना चारित्र स्थिर नहीं हो सकता ।

आहार-दान व आशीर्वाद के समय क्रमश दाता का (गृहस्थ का) व साधु का हाथ ऊपर रहता है । जब तक यह सम्बन्ध है—तब तक समाज वधा हुआ है, दोनों का एक दूसरे पर अनुशासन है ।

किसी भी सिद्धान्त का, व्यवस्था का या चीज का मनोवैज्ञानिक ढंग ने मनोयोगपूर्वक अन्वेषण नहीं करें, अनुमान नहीं करें तो वह प्रभावित नहीं करती । हमारे नामने दो दृष्टि है—(१) साधु व (२) समाज ।

ऋषभदेव तीर्थंकर से आज तक साधु व समाज की अव्यावाध, अविच्छिन्न रूप से परिपाटी चली आ रही है, कभी इसका ह्रास भी हुआ तो कभी उन्नति भी हुई । तिलोपपण्णति ग्रंथ में उल्लेख है कि चौबीस तीर्थंकरों के बीच सात बार मुनि दीक्षा का ह्रास हुआ, सात बार यह परिपाटी छूटी, इसलिये उस समय धर्म की व्युच्छिन्नता हुई, कुछ विकृतियाँ आ गई । जब तक दीक्षा-शिक्षा की परिपाटी समाज में चलती रहेगी, धर्म चलता रहेगा । समन्तभद्र ने कहा है 'न धर्मो धार्मिकैर्विना', धार्मिक के बिना धर्म नहीं है ।

रविषेणाचार्य ने बहुत वैज्ञानिक ढंग से पद्मपुराण में कहा है कि धर्म की व्युच्छिन्नता कब कब और कैसे होती है ? क्या दीक्षा बंद होने से धर्म नहीं रहेगा ? धर्म तो अनादि है, अखण्ड है । वस्तु स्वभाव नष्ट नहीं होता, पर उसके द्वारा, उसके आचरण से मुक्त होने की, जीवन सफल बनाने की परिपाटी खत्म हो जाती है । तब प्रश्न है उसकी व्यवस्था पुनः कैसे हो ?

जब-जब आचार-विचार में हीनता आने लगती है, दोष आने लगते हैं, आचार-विचार का विघात होने लगता है, तो मिथ्यादृष्टि जीवों का बाहुल्य होता है, मिथ्यादृष्टियों की संख्या बढ़ती है । धर्म में मलीनता आने लगती है, परिस्थितियाँ मलीन होने लगती हैं, समाज मलीन हो जाता है, धर्म में ग्लानि हो जाती है तब पुनरपि उसे प्रक्षालित करने हेतु तीर्थंकर का जन्म होता है । मुक्तात्मा तो वापस आ नहीं सकती, कोई भव्य महान्-पुरुष रूप में जन्म लेकर धर्म को प्रक्षालित करता है । अकलक देव ने कहा कि—अनुकम्पापूर्ण आचार्यों ने इस धर्मतीर्थ को चलाया ।

तीर्थंकरों ने जिन सिद्धान्तों का, तत्त्वों का अनुभव किया और बताया, आचार्य ने उनका उपवृहण किया । आचार्य उनके बताये धर्म तीर्थ को आगे बढ़ाते हैं । जैसे—गाड़ी बनाने वाला और कोई होता है और चलाने वाला और कोई होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर धर्म तीर्थ के कथंचित् निर्माता हैं और आचार्य उसके चलाने वाले हैं । जैसे ड्राइवर के हाथ में गाड़ी की सुरक्षा है गाड़ी में बैठने वालों की सुरक्षा है, वैसे ही आचार्यों पर धर्म तीर्थ की व उस तीर्थ के सहारे चलने वाले समाज की सुरक्षा अवलंबित है ।

समुद्र में सिंधु व बिंदु दो चीजें हैं । जब जल का भण्डार है तब सिंधु है । अनेक बिंदु हैं तभी सिंधु बनता है । यदि एक बिंदु सिंधु से पृथक् हो जाये तो सूर्य उसको सुखा देता है पर सिंधु के साथ रहने पर दो सूर्य भी उसे

नहीं सुखा पाते । इसी प्रकार जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जायगा, चाहे वह कोई सामाजिक प्राणी हो, आध्यात्मिक प्राणी हो, तत्त्व-ज्ञानी हो, उसका अस्तित्व नहीं रहेगा ।

आचार्यों ने हमें परिपाटी दी है—साधु-अजिका श्रमण व श्रमणिका, इसका नाम चतुर्संध दिया । जहाँ ये चारों अस्तित्वशील हैं—धर्म तीर्थ प्रवाह-मय रहेगा । जैसे नदी दो तटों के बीच बहती हुई समुद्र तक चली जाती है वैसे ही धर्म के दो तट हैं (१) साधु-साध्वी, (२) श्रावक-श्राविका, इनके साथ प्रवाहित होता हुआ धर्म सिद्धालय तक पहुँच जाता है । जब इनकी विच्छेदित होगी, तो धर्म-तीर्थ का नाश हो जायेगा ।

मल्लिपेणाचार्य ने कहा कि साधु कौन है—

“देह निर्ममतात् गुरोर्विनयात् नित्य श्रुताभ्यासात् चारित्र्योज्ज्वलात् मोहोपशमात् ससारनिर्वेदनात् अन्तर्बाह्य-परिग्रह त्यजनात्—”

‘धर्मज्ञता साधुता साधो साधु जनस्य लक्षणमिदं ससार विच्छेदनं’ अर्थात्—जिनकी देह के प्रति निर्ममता हो । जैनाचार्यों ने जिन सिद्धान्तों का कथन किया प्रत्येक में तरतमता के भाव से लोकप्रमाण भेद हैं । देह निर्ममता के भी लोकप्रमाण तरतम भेद मिलते हैं । कोई निर्ग्रन्थ है, स्नातक है, यति है, मुनि है, अनागारी आदि । जैसे—क्षपक वह है जो एक दिन आहार ग्रहण करे व एक दिन का उपवास करते हुये तपस्या में लवलीन रहे । यति वह है जो क्षपक या उपशम श्रेणी चढ़े । यति कर्मों का क्षय करता है । अनगार—जिसका कोई आगार नहीं है और जो धर्म ध्यान में लीन है । मुनि—वह है जो तत्त्वज्ञान के मनन में जीवन व्यतीत करता है । निर्ग्रन्थ—वह है जो सैतालीस मिनट बाद अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञानी होने वाला हो । ऋषि—वह है जिसने कोई ऋद्धि प्राप्त करली हो ।

इन पारिभाषिक शब्दों व तरतमता के भेदों को न जानने के कारण अनेक भ्रम व भ्रान्त धारणायें उत्पन्न हो जाती हैं । साधुओं में तपत्याग से तरतम भाव बना रहता है, पर हैं सभी साधु । एक घर में पाँच सदस्य हैं, पाँचों घर का कार्य सम्भालते हैं, उद्योग करते हैं, पर कोई कम करता है कोई ज्यादा, क्योंकि सब अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं, पर उद्यमी तो सभी हैं । उसी प्रकार तपस्वियों में तरतमता से भेद है पर हैं तो सभी साधु ।



छोटे रूप में तप-त्याग करने वाला भी साधु है और सर्वोत्कृष्ट रूप में तद्भवमोक्षगामी साधु भी होते हैं ।

आचार्य शातिसागरजी महाराज श्रवण बेलगोला जाते समय राह में 'पुन्नुर' गुफा में ठहरे । वहाँ उनसे एक व्यक्ति ने पूछा—आप मासौपवासी हैं ? आचार्य ने कहा—नहीं । आप ऐसे हैं, वैसे हैं करके अनेक प्रश्न पूछे । मुनिराज ने कहा—नहीं । तब वह व्यक्ति बोला—तब आपको मुनिमहाराज कैसे मानें ? आचार्य ने कहा—हमने कब कहा कि मानो । पर उन्होंने सोचा कि यह भव्यजीव है, शका को लिये हुये है । इस शका का निवारण नहीं होगा तो यह गलत धारणा को ले बैठेगा । ऐसा सोचकर करुणामयी आचार्य ने पूछा—सामने यह काहे का वृक्ष है ? उस व्यक्ति ने कहा—यह आम का वृक्ष है । आचार्य ने कहा—जाओ उसमें से तीन-चार फल ले आओ । वह बोला—इस समय फल कैसे आ सकते हैं ? इस समय ऋतु ही नहीं है । तब आचार्य ने कहा—तो जब ऋतु आयेगी, काल आयेगा, समय आयेगा तभी वैसे साधु होंगे, तभी वज्रवृषभनाराच सहनन वाले मुनिराज होंगे ।

ससार में जैसे आम्रफल के तरतम भाव से अनेक भेद हैं, वस्तुओं के भेद हैं, वैसे ही साधु के निर्ग्रन्थ, स्नातक, यति, भदन्त अनेक भेद हैं और समाज में भी भेद हैं । भदन्त का अर्थ है—भगवन्, जिन्होंने पाँचों इन्द्रियों का दमन कर लिया है । भ=भगवन् व दन्त=पाँचों इन्द्रियों का दमन किया है जिसने, भदन्त इसका अत्यन्त सक्षिप्त रूप है । ऐसे अनेक पारि-भाषिक शब्द हैं जिनका शास्त्रों में वर्णन किया गया है ।

अतः जिनकी देह के प्रति निर्ममता है, निर्ममता में भी तरतमता है । किसी ने थोड़ा दान दिया, किसी ने अधिक और किसी ने बहुत अधिक, पर हैं तो सभी दानदाता, तरतम-भाव है । ममता के भी अनेक भेद हैं । कर्जा लेकर क्लेश से दान देना, व्रत करना, व्रत नहीं है, सहज-साध्य शक्तित्वाग करना ही व्रत है, तप है, त्याग है । देह के प्रति निर्ममता सभी में मौजूद है, पर तरतमता है । विवेकपूर्वक थोड़ा भी त्याग शास्त्र सम्मत है ।

गुरु की विनय-वादिवृषभाचार्य ने माता-पिता को भी गुरु बताया है । गुरु वह है जो शिक्षा दे, मार्ग बताये । माता-पिता लौकिक-व्यवहार के गुरु हैं तथा आचार्य-तीर्थंकर आदि आध्यात्मिक गुरु हैं । अन्तरंग-बहिरंग त्यागी भी गुरु हैं, इसलिये गुरु के प्रति विनय, आदर होना चाहिये । नित्य श्रुत का

अभ्यास—श्रुत ही आत्म—कल्याण का कारण है। प्रतिदिन शास्त्र का अर्थ सहित मनन करे। एक—एक पुस्तक से पुस्तकालय बनता है। प्रतिदिन एक—एक शब्द भी अर्थ सहित, भाव सहित मनन करे तो यह मानव सरस्वती का भंडार हो जाये। एक पाच साल का बच्चा पड़ोस से एक चाकू चुरा लाया, माँ ने कहा—शाबाश। माँ के इस प्रोत्साहन से बीस वर्ष बाद वह बालक क्या बनेगा ? डाकू। जब माँ के इतने से प्रोत्साहन से एक बालक डाकू बन सकता है तो जिनवाणी माता के प्रोत्साहन से सर्वज्ञ क्यों नहीं बन सकता, जबकि यह तो स्वभाव—परिणति है और वह विभाव—परिणति है। जिनवाणी की उपासना प्रतिदिन करनी चाहिये। नित्यप्रति स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रबल निमित्त कारण है। प्रति दिन शास्त्र स्वाध्याय शब्द—अर्थ—मनन सहित दृढ़ करे तो दस वर्ष में स्वयं ही समयसार बन जायें। श्रुत का प्रयोजन है—चारित्र—उज्ज्वलता।

चारित्र उज्ज्वलता—पढ़े हुये को आत्मसात् करना ही चारित्र है। जैसे—भोजन जब पचता है, तभी रक्तवर्धन होता है, पुष्टता आती है, वैसे ही स्वाध्याय से चारित्र—उज्ज्वल होता है। कुन्द—कुन्दाचार्य ने कहा है—वाचन से पाचन महान् है। ग्रंथ कितने पढ़े यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्व इस बात का है कि उनको कितना आत्मसात् किया, उन पर कितना आचरण किया। चारित्र तभी टिकेगा जब महोपशमता होगी।

महोपशमता—दर्शन—मोह व चारित्र—मोह का उपशम हो तब चारित्र स्थिर होगा। वीतरागता के बिना, मोहनीय को हटाये बिना चारित्र स्थिर नहीं हो सकता। ससार विरक्त—गृहस्थी में रह कर भी उसमें लिप्त न हो, ससार में रहकर भी उसमें लिप्त न हो, जैसे जल से भिन्न कमल रहता है।

अन्तरंग बाह्य—परिग्रह का त्याग—एक सरसो के दाने के बराबर भी राग की भावना न हो, वही श्रेष्ठतम है। दोनों परिग्रहों से पूर्णतया निःशेष त्याग की भावना होनी चाहिये तभी वह धर्मात्मा कहलायेगा व परमात्मा बन सकेगा।

आलस्य न करके पाच मिनट भी शब्द अर्थ—ज्ञान सहित केवल एक अक्षर भी मनन कर आत्मसात् कर लें तो कल्याण निश्चित है।

तीन सौ वर्ष पूर्व सिंधी—भापा के एक कवि हुये हैं। एक दिन मध्याह्न में वे सो रहे थे, थोड़ी देर बाद आँख खुली तो सुना कि बाहर एक

व्यक्ति 'सुआ-पालक-चुका' कहता हुआ जा रहा है। उन्होंने समझा यह मुझे कह रहा है सुआ=मैं सोया था, पालक=पल भर के लिये, चुका=खो चुका, यानी मैं जो पलभर सो गया था वह पल मेरे जीवन में व्यर्थ चला गया, मुझे कुछ कार्य करना चाहिये था। यही सोचकर उन्होंने ग्रंथ रचना प्रारम्भ की, उन्होंने अपने एक ग्रंथ में कविता लिखी है—'तू आँखों में रात सजग नित सो जाऊँ' भावार्थ है—चन्द्रमा रात में प्रकाश प्रदान करता है, सूर्य दिन में पर साधु चौबीस घंटे, दिन और रात रोशनी देते हैं। चांद-सूरज तो केवल बाहर ही रोशनी देते हैं, पर साधु तो दिल में प्रकाश फैलाते हैं।

मैं मेरठ में था, प्रातः वहाँ प्रवचन हुआ। प्रवचन के बाद कुछ देर एकान्त अध्ययन मनन करना चाहता था। एक महिला आई और एक शका-निवारण चाहने लगी। बाद में पूछने के लिये कहा, पर वह आग्रह करती रही तो मैंने कहा—'ससारी का सग न कीजे, दुख अपने को रोये, आप तो फिरे विपत्ति के मारे, यति धर्म क्यों खोये?' तब वह चतुर महिला बोली—अब एक दोहा मेरा भी मुन लीजिये—'सत न होते समार में, तो जल जाता समार।'।

कहने का तात्पर्य है कि जैसे सिंधु-विंदु का अविनाभावी सम्बन्ध है वैसे ही समाज व साधु का सम्बन्ध है। जहाँ साधु है, त्यागी हैं वह समाज आदर्श रूप होगा, वह देश को, संस्कृति को उन्नतिशील बनायेगा। इसलिये साधु का निर्माण करना चाहिये।

प० आशाधर सूरि ने सागरधर्मामृत में कहा है कि—सज्जन पुरुषों को, धर्मात्माओं को दीक्षा के लिये प्रेरित करो। जैसे-वश में वच्चा नहीं होता तो, वश को चलाने के लिये, व्यवस्था के लिये पुत्र को गोद लेते हैं, दत्तक बनाते हैं, इसी प्रकार समाज को चलाने के लिये, उसकी व्यवस्था बनाये रखने के लिये सज्जनों से त्यागी, साधु बनने की प्रार्थना कीजिये, उनकी पढाई आदि की व्यवस्था कीजिये, उनकी सेवा में तत्पर रहिये, यह समाज पर उपकार होगा। यदि समाज को आदर्शरूप देखना चाहते हैं तो कुछ समय घर का राग छोड़कर समाज की चिन्ता भी कीजिये, धर्म की चिन्ता कीजिये।

समाज व साधु का सिंधु व विंदु जैसा सम्बन्ध है। आचार्य

देता है । गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से पूछा—हमें केवलज्ञान कब प्राप्त होगा ? भगवान् ने जवाब दिया, जब तुम्हारी राग-प्रवृत्ति खत्म होगी तब तुम्हें केवलज्ञान प्राप्त होगा । जब तक राग मन में रहा तब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो सका । जिन शासन का आधार तत्त्वज्ञान है, वाह्य ससार से राग छोड़कर तत्त्व चिन्तन ही वीतरागता का तत्त्वज्ञान का मार्ग है । वीतरागता के लिए धर्म की आवश्यकता है । धर्म का परिपालन करने वालों के लिए दो मार्ग हैं—(१) गृहस्थ, (२) गृह-विरत । गृहस्थ-धर्म करने की भावना अथाह है पर शक्ति नहीं है । राग को शाश्वत नहीं माना पर कमजोरी के कारण राग का आश्रय ले रखा है ।

गृहविरत-गृहस्थी छोड़ पूर्णतया राग को निरस्त करने के लिये तपादि में मग्न है ।

समन्तभद्र ने कहा है 'निनायोनिर्दयीभस्मसात् ...' अर्थात् तपस्वी निर्दयी है । उन्होंने भगवान् ऋषभ देव को भी निर्दयी बताया । निर्दयी इस अर्थ में कि—उन्होंने राग का, परिवार के प्रति जो राग था, उसका नाश किया है । परिवार के प्रति दयावान् रहकर राग का नाश नहीं किया जा सकता । हम परिवार व पारिवारिक लोगों के प्रति दयावान् होने के कारण ससार में फस रहे हैं । भगवान् आदिनाथ ने बहिरग में निर्दयी बन राग का नाश किया और अन्तरग में निर्दयी बन कर्म शत्रुओं का नाश किया । हम ससार के प्रति राग के कारण दयावान् बनते हैं, समताभाव से दयावान् नहीं बनते, इसलिये जन्म-मरण में भटकते रहते हैं । सब का मूल राग है ।

वीतराग मार्ग दुर्लभ भी है और सुलभ भी । समाज की रचना का, श्रमण-संस्कृति का आधार तत्त्वज्ञान है और उस तत्त्वज्ञान के मूल में राग छोड़ने का भाव है । तत्त्वज्ञान राग छोड़ने के लिये ही है ।

आशाधर सूरि ने कहा है—जगत् का कोई बन्धु है तो वह वीतराग भगवान् है । घर-घर में दुनियादारी, सासारिक प्रपञ्च सिखाने वाले आचार्य तो मौजूद हैं पर उस प्रपञ्च में निकल आत्म कल्याण को बताने वाले केवल जिनेन्द्र भगवान् हैं । हमलिये उसको जगत् का बन्धु कहा । लौकिक-व्यवहार में कोई हम पर उपकार करता है तो हम कहते हैं यह हमारा बन्धु है । शरीर

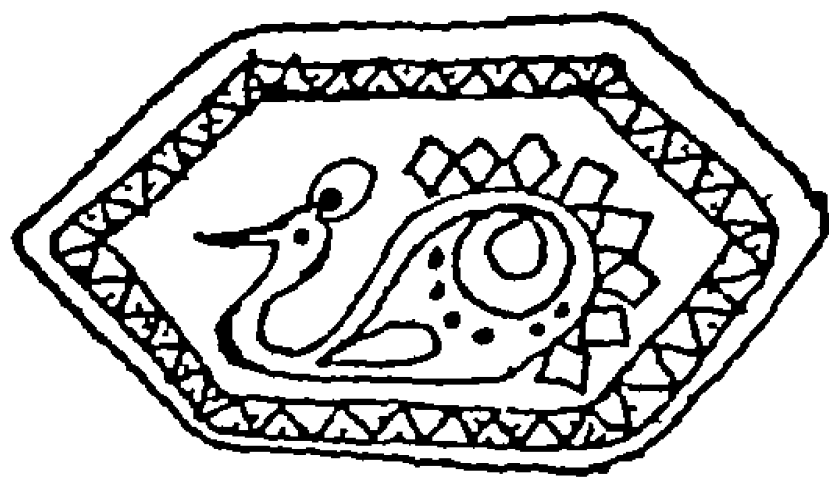
के प्रपञ्च चलाने के लिये कोई उपकारी है तो वह बन्धु कहलाता है और तो तीनलोक में जो मूल्यवान् आत्मा है उसके मुक्त होने के लिये मार्ग बताने वाला बन्धु क्यों नहीं है ? वह केवल जैनो का ही बन्धु नहीं है अपितु प्राणी मात्र का जगत् का बन्धु है । उनके सिद्धान्त मार्ग प्राणी मात्र के लिये हैं । तभी तो तत्त्वार्थसूत्र में कहा 'परस्पररोपग्रहो जीवानाम्' । जिनेन्द्र भगवान् का वीतराग धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति व मार्ग बताता है ।

किसी के घर में सतान नहीं होती तो वह चितित होता है, वश—वृद्धि के लिये बालक को गोद ले लेता है, वश को खत्म नहीं होने देता । इसी प्रकार आशाधर सूरि ने यतियों को कहा है कि जिनेन्द्र भगवान् का वश चलाना है तो तुम जिस गाव—शहर से जाओ वहाँ से सज्जनो को गोद लेते जाओ । गृहस्थो से कहा कि यदि इस मार्ग को बचाना है तो कुछ देर गृह—मोह छोड़ बुद्धिमानो, सज्जनो से साधु बनने की प्रार्थना करो । यतियों को जन्म देना गृहस्थियों का कर्तव्य है । उन यतियों के, साधुओं के ज्ञान—वृद्धि हेतु अध्ययन—मनन की व्यवस्था करो, उनकी सेवा करो । जैसे लाठी पकड़ने से स्वयं का लाभ होता है, वैसे साधु स्वकल्याण के साथ समाज के उपकारक होते हैं । जिस समाज में विद्वान्, त्यागी होंगे वह समाज उतना ही आदर्श होगा ।

एक यूरोपीय दार्शनिक को पेरिस शहर दिखाया गया । शहर दिखाने के बाद उससे शहर के बारे में राय पूछी । दार्शनिक ने कहा—जिस देश में, शहर में धन, सुन्दर भवन, बलवान लोग, लडाकू सेना हो वह देश महान् नहीं है । मैं तो उस देश को आदर्श, महान् व श्रेष्ठ मानता हूँ जहाँ त्यागी, दानी, सच्चरित्र, परोपकारी सेवाभावी लोग रहते हों ।

अपना समाज आज तक जीवित है वह इसलिये कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पच्चीस सौ वर्ष पश्चात् भी त्यागी वर्ग मौजूद है । जैसे बाड़ो में पशुओं को रखा जाता है, वे बाड़ लाधकर कहीं नहीं जा सकते इसी प्रकार धर्मरूपी बाड़ में ही पशुवृत्ति वाले मानव जीवित रह सकते हैं । मानव केवल अन्न खाने से जीवित नहीं रहता, अन्न तो पशु—पक्षी भी खाते हैं, पर शांति—सहित वह जीता है उसका आधार है तत्त्वज्ञान । आचार्यों ने तत्त्व का, ज्ञान का जितना भंडार दिया उसका अंश भी ग्रहण करले तो उद्धार हो जायेगा । ज्ञान भी परिपक्व होना चाहिये, केवल पढ़ने से, प्रवीण होने से कुछ नहीं होगा । ज्ञान को आत्मसात् करना होगा, जीवन में उतारना

शातिसागरजी कहते थे कि साधु व समाज का कंसा सम्बन्ध होता है—आहार ग्रहण करते समय साधु का हाथ नीचे होता है, दाता का ऊपर। आहार-ग्रहण के बाद दाता गृहस्थी का हाथ नीचे व साधु का आशीर्वाद रूप में ऊपर रहता है, कभी दाता का हाथ ऊपर तो कभी साधु का हाथ ऊपर, जब तक यह सम्बन्ध है तब तक समाज बधा हुआ है, दोनों का एक दूसरे पर अनुशासन है। जब इसका सम्बन्ध टूट जायेगा तो समाज बिखर जायेगा। आदर्श का अर्थ है दर्पण, जब दर्पण स्वच्छ होगा तो चेहरा साफ दिखाई देगा। साधु सस्था पवित्र होगी तो समाज आदर्श बनेगा समाज व धर्म को आदर्श बनाने हेतु गृहस्थ चिन्तन करे, इसी भावना से आज मैंने उपरोक्त तथ्य समझाये हैं, आप एक आदर्श समाज का निर्माण करने में सफल हो यही भावना है।



#### पठनक्रम :

सुत्तत्थो खलु पढमो, दुदिओ णिज्जुत्ति मिस्सिदो भणिदो ।  
तिदिओ य णिरवसेसो, एसविहि होदि अणुजोगो ॥

#### अर्थ :

सर्वप्रथम सूत्र पाठ और अर्थ का सामान्य कथन करना, बाद में निर्युक्ति मिश्र अर्थ, तदनन्तर सर्व अर्थ का कथन करने की बात पठनक्रम में कही गई है। यही अनुयोग के सम्बन्ध में विधि-आर्ष पद्धति है। केवल सूत्रार्थ का प्रतिपादन करना, इसका नाम अनुयोग है। तात्पर्य यह है कि अनुयोगाचार्यों (श्रुतगुरु) को प्रथम सूत्रों का सामान्य अर्थावलोकन मात्र कथन रूप ही अनुयोग करना चाहिये। यही पहला अनुयोग कहलाता है।

## जगत् का बन्धु—वीतराग भगवान्

राग—आग है । अनन्त काल से आत्मा के साथ राग लगा हुआ है, वह खत्म नहीं होता, वह ही इसे जर्जरित करता है । बाह्य ससार से राग छोड़कर तत्त्व-चिंतन ही वीतरागता का, तत्त्वज्ञान का मार्ग है । मात्र पढ़ने व प्रवीण होने से कुछ नहीं होगा । तत्त्वज्ञान को आत्मसात करना होगा ।

आत्मा, न स्त्री है, न पुरुष है, न अमीर है, न गरीब है, न काला है, न गोरा है, आत्मा—आत्मा है, वही परमात्मा है ।

ससार में जितने भी पदार्थ हैं उनको सर्वज्ञ—भगवान् ने प्रत्यक्ष देखा है । उनका ज्ञान अनन्त है, उस अनन्त ज्ञान में ससार के समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष झलकते हैं, सर्वज्ञ उन्हें प्रत्यक्ष देखते भी हैं व उनके स्वभाव को जानते भी हैं । उन वस्तुओं के स्वभाव को जानकर सर्वज्ञ ने मनुष्य को वीतरागता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त किया है ।

ससार में दुःख की जड़ मूल राग है । राग से ही दुनिया में दुःख उपजते हैं और विनश्वर हैं । राम ने स्वर्ण मृग पर राग किया तो सीता को खोया और दुःख पाया । सीता ने भी स्वर्णमृग पर राग करने के कारण पति—विछोह आदि कष्ट पाये, रावण ने पराई—स्त्री सीता पर राग किया इसलिये मारा गया । राग—आग है, दुनिया में इसके समान आग नहीं है, आग तो फिर भी क्षणिक है, थोड़ी देर में खत्म हो जाती है पर अनन्त काल से आत्मा के साथ राग है, वह खत्म नहीं होता । यह मानव को जर्जरित कर

देता है । गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से पूछा—हमें केवलज्ञान कब प्राप्त होगा ? भगवान् ने जवाब दिया, जब तुम्हारा राग—प्रवृत्ति खत्म होगी तब तुम्हें केवलज्ञान प्राप्त होगा । जब तक राग मन में रहा तब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो सका । जिन शासन का आधार तत्त्वज्ञान है, बाह्य मसार से राग छोड़कर तत्त्व चिन्तन ही वीतरागता का तत्त्वज्ञान का मार्ग है । वीतरागता के लिए वर्म की आवश्यकता है । वर्म का परिपालन करने वालों के लिए दो मार्ग हैं—(१) गृहस्थ, (२) गृह-विरत । गृहस्थ—वर्म करने की भावना अथाह है पर शक्ति नहीं है । राग को शाश्वत नहीं माना पर कमजोरी के कारण राग का आश्रय ले रखा है ।

गृहविरत—गृहस्थी छोड़ पूर्णतया राग को निरस्त करने के लिये तपादि में मग्न है ।

समन्तभद्र ने कहा है 'निनायोनिर्दयीभस्मसात् ...' अर्थात् तपस्वी निर्दयी है । उन्होंने भगवान् ऋषभ देव को भी निर्दयी बताया । निर्दयी इस अर्थ में कि—उन्होंने राग का, परिवार के प्रति जो राग था, उसका नाश किया है । परिवार के प्रति दयावान् रहकर राग का नाश नहीं किया जा सकता । हम परिवार व पारिवारिक लोगों के प्रति दयावान् होने के कारण समार में फँस रहे हैं । भगवान् आदिनाथ ने वहिराग में निर्दयी बन राग का नाश किया और अन्तराग में निर्दयी बन कर्म शत्रुओं का नाश किया । हम मसार के प्रति राग के कारण दयावान् बनते हैं, समताभाव में दयावान् नहीं बनते, इसलिये जन्म—मरण में भटकते रहते हैं । सब का मूल राग है ।

वीतराग मार्ग दुर्लभ भी है और सुलभ भी । समाज की रचना का, अमण—संस्कृति का आधार तत्त्वज्ञान है और उस तत्त्वज्ञान के मूल में राग छोड़ने का भाव है । तत्त्वज्ञान राग छोड़ने के लिये ही है ।

आशावर मुरि ने कहा है—जगत् का कोई बन्धु है तो वह वीतराग भगवान् है । घर—घर में दुनियादारी, सामाजिक प्रपञ्च सिखाने वाले आचार्य तो मौजूद हैं पर उस प्रपञ्च से निकल आत्म कल्याण को बताने वाले केवल जिनेन्द्र भगवान् हैं । इसलिये उसको जगत् का बन्धु कहा । लौकिक—व्यवहार में कोई हम पर उपकार करता है तो हम कहते हैं यह हमारा बन्धु है । शरीर



के प्रपञ्च चलाने के लिये कोई उपकारी है तो वह बन्धु कहलाता है और तो तीनलोक में जो मूल्यवान् आत्मा है उसके मुक्त होने के लिये मार्ग बताने वाला बन्धु क्यों नहीं है ? वह केवल जैनो का ही बन्धु नहीं है अपितु प्राणी मात्र का जगत् का बन्धु है । उनके सिद्धान्त मार्ग प्राणी मात्र के लिये हैं । तभी तो तत्त्वार्थसूत्र में कहा 'परस्परौपगमो जीवानाम्' । जिनेन्द्र भगवान् का वीतराग धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति व मार्ग बताता है ।

किसी के घर में सतान नहीं होती तो वह चितित होता है, वश-वृद्धि के लिये बालक को गोद ले लेता है, वश को खत्म नहीं होने देता । इसी प्रकार आशाधर सूरि ने यतियों को कहा है कि जिनेन्द्र भगवान् का वश चलाना है तो तुम जिस गाव-शहर से जाओ वहाँ से सज्जनो को गोद लेते जाओ । गृहस्थों से कहा कि यदि इस मार्ग को बचाना है तो कुछ देर गृह-मोह छोड़ बुद्धिमानों, सज्जनो से साधु बनने की प्रार्थना करो । यतियों को जन्म देना गृहस्थियों का कर्तव्य है । उन यतियों के, साधुओं के ज्ञान-वृद्धि हेतु अध्ययन-मनन की व्यवस्था करो, उनकी सेवा करो । जैसे लाठी पकड़ने से स्वयं का लाभ होता है, वैसे साधु स्वकल्याण के साथ समाज के उपकारक होते हैं । जिस समाज में विद्वान्, त्यागी होंगे वह समाज उतना ही आदर्श होगा ।

एक यूरोपीय दार्शनिक को पेरिस शहर दिखाया गया । शहर दिखाने के बाद उससे शहर के बारे में राय पूछी । दार्शनिक ने कहा—जिस देश में, शहर में धन, सुन्दर भवन, बलवान लोग, लडाकू सेना हो वह देश महान् नहीं है । मैं तो उस देश को आदर्श, महान् व श्रेष्ठ मानता हूँ जहाँ त्यागी, दानी, सच्चरित्र, परोपकारी सेवाभावी लोग रहते हों ।

अपना समाज आज तक जीवित है वह इसलिये कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पच्चीस सौ वर्ष पश्चात् भी त्यागी वर्ग मौजूद है । जैसे बाढ़ में पशुओं को रखा जाता है, वे बाढ़ लाधकर कहीं नहीं जा सकते इसी प्रकार धर्मरूपी बाढ़ में ही पशुवृत्ति वाले मानव जीवित रह सकते हैं । मानव केवल अन्न खाने से जीवित नहीं रहता, अन्न तो पशु-पक्षी भी खाते हैं, पर शांति-सहित वह जीता है उसका आधार है तत्त्वज्ञान । आचार्यों ने तत्त्व का, ज्ञान का जितना भंडार दिया उसका अंश भी ग्रहण कर लें तो उद्धार हो जायेगा । ज्ञान भी परिपक्व होना चाहिये, केवल पढ़ने से, प्रवीण होने से कुछ नहीं होगा । ज्ञान को आत्मसात् करना होगा, जीवन में उतारना

होगा तभी ज्ञान की कीमत होगी । आचार—विचार और चारित्र्य तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं । विना चारित्र्य के ज्ञान का भी कोई महत्त्व नहीं है ।

हमें भगवान् महावीर की परम्परा को अविच्छिन्न रूप से चलाने के लिये प्रयासशील होना चाहिये । इक्ष्वाकुवंश की परम्परा थी कि—बाल्यकाल में विद्याध्ययन, थोड़े काल के लिये पिता के ऋण से मुक्ति पाने के लिये गृहस्थावस्था धारण करते और वृद्धावस्था आने से पूर्व ही सन्यास ले लेते थे । ऐसा कवि कालिदास ने भी वर्णन किया है, और जब मृत्यु आ जाये तो भगवान् का स्मरण करते हुये उस हड्डी के ढाँचे को यमराज को सौंप जाते थे । हमें भी अपने जीवन का कुछ निश्चित भाग तो अवश्य ही धर्म—ध्यान में लगाना चाहिए ।

भगवान् महावीर ने धर्म में स्त्री—पुरुष के भेद को नहीं माना । आत्मा न स्त्री है न पुरुष है, न गरीब है, न अमीर है, न काला है न गोरा है । आत्मा—आत्मा है, वही परमात्मा है । भगवान् महावीर ने केवल आत्मा को देखने के लिये कहा । मेढक भी भक्ति—भाव से तिर गया, धर्म ने उसके शरीर को नहीं देखा, आत्मा को देखा । भगवान् पार्श्वनाथ ने सर्प का शरीर, उसका जहरीलापन नहीं देखा, केवल उसकी आत्मा को देखा । हमारा मार्ग उदार दृष्टिकोण व वात्सल्य से वचेगा । एक कट्टर आर्य समाजी व्यक्ति (इन्दौर) ने बाबू छोटेलाल स्मृति ग्रन्थ में लिखा है कि—यदि कोई जैन, त्याग कर आगे बढ़े तो जैनधर्म, राष्ट्रधर्म—विश्वधर्म बन सकता है । विश्वधर्म बनने की शक्ति केवल जैनधर्म में ही है, किसी अन्य धर्म में नहीं है । उसमें इसके कारण भी प्रस्तुत किये हैं कि यह धर्म व्यक्ति—परक, ग्रन्थ—परक, विशिष्ट—कालपरक नहीं है, तीर्थंकर परम्परा अनादि से चली आ रही है, यह सार्वभौम धर्म है । इसके अनेकान्त आदि सिद्धान्त सबको अपनी छत्रछाया में रहने का अधिकार देते हैं । जैसे वृक्ष विना किसी भेद—भाव के पशु—पक्षी, मानव सभी के लिये फल—प्रदाता है, वैसे ही जैनधर्म भी वीतराग भाव से विना किसी भेद—भाव के प्राणीमात्र के लिये फल—प्रदाता है ।

आप सभी की बुद्धि धर्म—ध्यान में लगी रहे यही मेरी भावना है । साथ ही विचक्षण श्री जी की भाँति समाज में अनेक विदुषियाँ हो, समाज को राह दिखायें । विचक्षण श्री जी के उपकारों को समाज भूल नहीं सकता, आप अपने इष्ट को प्राप्त करें यही मेरी भावना है ।

♦ ♦ ♦

## सत्गुरु सहज स्वभाव सुझायो

सासारिक क्रियाये टेढ़ी है, कोई सीधी नहीं है ।  
अन्तरंग मे परमात्मा का ध्यान है तो सब सीधे है, सरल  
हैं, सहज हैं । मजबूरी से, लालच से, थोपने से, किया  
गया त्याग धर्म नहीं है ।

शांति पर-पदार्थ मे नहीं है । इच्छाये-वृत्तिया,  
लालच-लोभ व आकांक्षा का अन्त नहीं है, उनके बढ़ने से  
ही अशांति बढ़ती है ।

ज्ञान, जल की भांति प्रवाहमय है, दीपक की  
भांति स्व-पर प्रकाशक है । सयम भावपूजा व द्रव्यपूजा के  
बिना मन मे स्वच्छता-शुद्धता नहीं आ सकेगी । स्वयं  
का पुरुषार्थ व भाग्य ही उपयोगी है ।

अनन्तकाल से, जितनी भी मुक्तात्मायें हुयी, उनमे स्वभावतः भेद नहीं  
है । जैसे खान से जितना सोना निकला उसके हजारों आभूषण बने, उन  
आभूषणों के आकार मे तो भेद है, कोई अगूठी है तो कोई माला है पर खास  
सोने मे कोई फर्क नहीं है, उसी प्रकार जितनी सिद्ध-मुक्तात्मायें हैं उनके जीवन  
चारित्र्य, व्यावहारिक बातों मे फर्क है, पर मुक्तात्माओं की वीतरागता मे,  
परमात्मत्व मे, स्वरूप मे कोई फर्क नहीं है । उनके जन्म स्थान आदि मे तो  
फर्क है, जैसे कृष्ण का जन्म कारागृह मे हुआ, तो हनुमान का जंगल मे, बीच  
के जीवनक्रम मे फर्क और हो सकता है, जैसे सोने के आभूषणों के आकारों मे  
है, पर उसकी कांति में कोई फर्क नहीं है । वैसे ही वीतरागी आत्माओं व  
भगवानों मे स्वरूपगत कोई भेद नहीं है ।

एक गुजराती कहावत है—धी खिचडी एक, पापड तमाशा देख । अर्थात् खाना कितना ही बढ़िया हो, यदि साथ में पापड हो तो खाने का आनन्द द्विगुणित हो जाता है । भोजन को रुचिकर बनाने के लिये ही चटनी-पापड का प्रयोग किया जाता है । दवा यदि कड़वी होती है तो कुशल चिकित्सक उम दवा को शर्करागुठन के साथ देते हैं । इसी प्रकार कुशल साहित्यकार, विद्वान्, पंडित भी दुरुह सिद्धान्तों को आलंकारिक भाषा से रुचिकर बनाते हैं । आलंकारिक भाषा, मानवों को सीधे-सरल रूप में सिद्धान्तों को समझा देती है । आजकल व्यावहारिक रूप में कहा जाता है कि—सीधे-पन का जमाना नहीं है । यह पूर्णतः मृत्यु नहीं । सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चंपू में लिखा है कि मृत्यु सीधेपन और सरलता का ही है । जंगल में टेढ़े पेड़ों को काटकर कोयला बनाया जाता है और सीधे पेड़ों से मुन्दर-मुन्दर चीकिया, आलमारिया अन्य वस्तुयें बनती हैं । मोचिये, सीधा बनना चाहिये या टेढ़ा ? मोक्षमार्ग सीधा है । मोक्ष-स्व-भाव है, ससार विभाव है । सर्प जब अपने बिल में घुमता है तो सीधा होकर और जब वही सर्प बाहर चलता है तो टेढ़ा होकर । ससार में जितनी क्रियायें हैं सब टेढ़ी हैं, कोई सीधी है ही नहीं, अन्तरंग में परमात्मा का ध्यान है तो सब सीधे हैं, सरल हैं, सहज हैं ।

जो अभी उपासना मार्ग में हैं, वे जैन हैं, 'जिन' नहीं हैं । उपासक व उपास्य भाव के लिये आचार्य पूज्यपाद ने कहा है नदी में नहाने वाले, जल के द्वारा जल में ही, जल को ही तर्पण करते हैं । सूरज के उपामक दीपक में तर्पण करते हैं, रोशनी से रोशनी को तर्पण, इसलिये एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि-भगवन् ! जब तक क्रोधाग्नि नहीं होगी कर्म कैसे जलेंगे ? उत्तर में कहा गया—हेमन्त ऋतु में हिम गिरने से पेड़ के पत्ते-झड़ जाते हैं, वैसे ही क्षमा-भाव के कारण अन्तरंग में शीतलता आती है, हिम गिरता है तो अन्तर के कर्मरूपी पत्ते भी झड़ जाते हैं । आत्मा का शीतल-शान्त स्वभाव कर्मों का नाश करने में समर्थ है । इसलिये शीतल जल उम शान्त स्वभाव के प्रतीकरूप में चढ़ाते हैं । शीत भी उपकारक है । 'अप' शब्द जल वाचक है, अप से ही 'अप्पा' बना है, शीतलता के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, यह पारिभाषिक शब्द है । जल की भाँति ज्ञान भी प्रवाहमय है, स्वप्न में भी उसका प्रवाह चलता रहता है, एक क्षण को भी उसका प्रवाह, परिणामन नहीं रुकता । मन्दिर में भी वह एकाग्रस्थिर नहीं हो पाता । राजवार्तिक में अकलक देव ने कहा है कि जितनी देर सहजता में मन एकाग्र हो, उतनी ही देर ध्यान कीजिये, फिर अभ्यास में उसका समय धीरे-धीरे बढ़ाइये । धर्म

सहज-साध्य है, हठधर्म नहीं है । किसी भी प्रकार से हठ पकड़ने वाले की तो लोक में भी निन्दा होती है । सहजता की ही प्रशंसा होती है । जब लोक में भी सहजता प्रशंसनीय है तो आध्यात्म में क्यों नहीं है ? किसी के देखा-देखी झूठी प्रशंसा के लोभ में नाना-वेदनाओं के साथ दस उपवास करना और एक पूजापाठ, आनन्द, स्वाध्याय के साथ व्रत करने में अन्तर है । भावना के साथ शक्ति त्याग ही उपयोगी है । प्रवचन-सार में एक जगह लिखा है कि—एक व्यक्ति पेट भर के एक बार भोजन कर लेता है और फिर पूजा-पाठ में निमग्न हो जाता है, दूसरे दिन तक भोजन का विकल्प भी उसके मन में नहीं उठता, एक व्यक्ति दिन भर उपवास करता है, किसी प्रकार रात कटती है, भोर से ही बार-बार खिड़की खोलकर देखता है कि सूर्य निकल गया हो तो पारणा कर लूँ, बड़ी भूख लग रही है, नाना विकल्प उसके मन में हैं, तो वह शरीर से भूखा है, उसका उपवास नहीं है । इन दोनों के व्रत में कितना अन्तर है ? उपवास किया है तो बिना किसी प्रकार के (भोजन के बारे में) विकल्प के पूजा-पाठ, स्वाध्याय में ही मन लगाना चाहिये । धर्म सहज साध्य है, इसमें विचित्रतायें जटिलतायें ढूँढ़ने की आवश्यकता क्या है ?

तीन व्यक्ति भूखे हैं । एक व्यक्ति ने स्वेच्छा से चौबीस घंटे निर्जल-व्रत की प्रतिज्ञा की है और पूजा-पाठ में लीन है । दूसरा जो अत्यन्त साधन सम्पन्न है किन्तु रोगी है, इसलिये चिकित्सक ने भोजन के लिये मना किया है, केवल औषधि पर ही रखा है, अतः भूखा है । तीसरी एक पीसनहारी है, अत्यन्त गरीब, उसके पास भोजन ही नहीं है, इसलिये वह भी भूखी है । इन तीनों में से किसका त्याग-त्याग है और महान् है ? प्रथम व्यक्ति जिसने स्वेच्छा से त्याग किया है, वही धर्म है, क्योंकि स्वेच्छा से त्याग किया है । शेष दो ने मजबूरी से त्याग किया है । मजबूरी से किया गया त्याग धर्म नहीं है । कुन्दकुन्दाचार्य ने अचलिका में कहा है, कि—मैं अन्तरंग से, स्वेच्छा से पूजापाठ कर रहा हूँ, किसी के दबाव में आकर नहीं कर रहा हूँ । अन्तरंग व स्वेच्छा से ही धर्म होता है, लालच से, थोपने से नहीं होता ।

पूजा में जल चढ़ाते हैं उसमें उद्देश्य है कि—सलिल की, जल की शीतलता की भाँति मेरी आत्मा को भी शीतलता प्राप्त हो, उसमें क्षमा प्रकट हो । मेरी आत्मा में उत्तम क्षमा अभिव्यक्त नहीं है । वह आप में (भगवान्) अभिव्यक्त है । क्षमा-शीतलता के प्रतीक रूप में पूजा के प्रारम्भ में जल चढ़ाते हैं और पूजा के अन्त में शांतिधारा में जल चढ़ाते हैं ।

जल के पश्चात् 'अक्षत' चढाते हैं अर्थात् चावल जो क्षत नहीं है । जैसे चावल व उसका छिलका भिन्न होता है उसी प्रकार यह आत्मा व अनात्मा (देह आदि समस्त पदार्थ) के भेद ज्ञान के लिये, कर्म शत्रुओं की पृथक्ता का ज्ञान होने के लिए तथा उनको पृथक् करने के प्रतीकरूप में चावल- 'अक्षत' चढाते हैं । दीपक स्व-पर प्रकाशक है । आपका ज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है मुझे भी ऐसे ज्ञान की प्राप्ति हो इसके प्रतीक के रूप में दीपक चढाते हैं । दीपावली को भी इसी प्रतीक रूप में दीपक जलते हैं । धूप, अष्ट कर्म नष्ट हो, आत्मा परिशुद्ध हो, इसलिये चढाते हैं । धूप तो मनो जलादी, पर परिणामों में शुद्धि नहीं आई तो वह व्यर्थ है, वह केवल द्रव्यपूजा है । भावपूजा में, अन्तरंग में आठो कर्म निवारण हो, यही भावना है । पूजा उत्तम फल की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हेतु की जाती है । यदि पूजा करने जितना समय आज के वैज्ञानिक युग में किसी के पास नहीं है तो कम से कम अर्घ्य तो चढाना चाहिये, पर एकाग्रता से, मन को दबाकर नहीं । पूजा के पश्चात् शांतिधारा प्रवाहित करते हैं, वह किसलिये ? इसलिये कि—मेरी पूजा का फल मुझे ही नहीं, जगत् को प्राप्त हो इससे जगत् को शांति प्राप्त हो । तीनों लोक के प्राणियों को शांति प्राप्त हो, इस भावना में देखिये कि पूजक की विचारधारा कितनी विशाल हो जाती है ।

पूजा स्वयं में एक प्रक्रिया है । द्रव्यपूजा, चंचलमन को रोकने के लिये है ।

बच्चा चंचल होता है, उसकी चंचलता को रोकने के लिये उसके पास खिलौना रख देते हैं, वह उसमें रम जाता है । इसलिये जिनका मन चंचल हो उनके लिये द्रव्य-पूजा की आवश्यकता है । आत्मानुशासन में कहा है कि—बंदर उसी पेड़ पर रमते हैं जिस पर फल-फूल पत्ते हो । फल-फूल पत्ते विहीन पेड़ पर खेल-कूद लेते हैं, पर रमते नहीं हैं । शास्त्र, स्वाध्याय, श्रुत में जो रम जाता है, वह आत्मा परमात्मत्व के मार्ग को पा सकता है । जैसे फल-फूल वाले पेड़ पर बंदर की क्षुधा भी शान्त हो जाती है, वैसे ही शास्त्र-स्वाध्याय में ज्ञान-मुमुक्षु आत्मा की भूख शान्त होती है । इसलिये श्रुत-शास्त्र में ही रमें, तत्त्वज्ञान में एकाग्र हो, इसी में शांति है । बाजार से, हजार रुपये देकर भी शांति प्राप्त नहीं की जा सकती है । शांति स्वयं में अपने में मौजूद है । दुनिया में अशांति है, स्वयं में शांति है । शांति पर पदार्थ में नहीं है । इच्छायें-वृत्तियाँ बढ़ने से अशांति बढ़ती है, ये नाखून की भाँति स्वयं के लिये ही घातक है, इनको बढ़ने नहीं देना है, काटना

है, इनको, व्यर्थ के विचारों को काटने के लिये पूजा-पाठ आदि हैं ।

द्रव्य-पूजा साधन है । एक व्यक्ति ने एक महात्मा से कहा—महात्मन् । मैं पूजा करना चाहता हूँ, पर मैं भगवान् को चढ़ाऊँ क्या ? यदि फूल चढ़ाता हूँ, तो वह भोरे का भूँठा है, दूध-बछड़े का भूँठा है, चन्दन सर्प का भूँठा है, महात्मा ने कुछ पदार्थ बताये, उन सबको उस व्यक्ति ने भूँठा सिद्ध कर दिया । अन्त में महात्मा ने कहा—जा तेरा मन ही भगवान् को चढ़ा दे । वह व्यक्ति बोला—पर उस मन में तो क्रोध, मान, माया, लोभ की गन्दगी भरी हुई है, उसे कैसे चढ़ाऊँ । अर्थात् स्वच्छ मन से, शुद्ध-भाव से की गई द्रव्य पूजा व भाव पूजा ही सिद्धिदायक है । हाथ से सिलाई करते समय धागे के अन्त में गाँठ लगाकर या वैसे ही उसे रोक नहीं ले, तो सारा दिन पच जाये पर सिलाई नहीं हो सकेगी उसी प्रकार सयम के बिना मन में स्वच्छता-शुद्धता नहीं आ पायेगी । यहाँ दृष्टान्त में गाँठ केवल रोकने के अर्थ में कही गई है । सयम में द्रव्य सयम भी होना चाहिये और भाव सयम भी । द्रव्य सयम—खान-पान, भक्ष्या-भक्ष्य के लिये और भाव सयम में विकल्पो को रोके, भावों की कही तो सीमा बाध ले । दूसरे के वैभवादि को देख स्वयं भी भावनाओं में उठाने भरना उपयोगी नहीं है । दूसरे का दैव व पुरुषार्थ हमारे लिये कारगर नहीं है वह हमारे लिये शाश्वत नहीं है ।

जैसे एक व्यक्ति अपने दामाद को खूब धन देता ही जाता है, पर पुरुषार्थ के बिना अथवा भाग्य में न होने से दामाद फिर भी धनी न बन सका । स्वयं का पुरुषार्थ व भाग्य ही उपयोगी है । स्वयं के पुरुषार्थ के बिना, ऐसे प्राप्त धन का मूल्य भी कोई नहीं समझता । एक पिता तो भूखा रह कर, कष्ट उठाकर, पसीना बहाकर धन कमाता है, किन्तु बच्चे, उसके पीछे जो तपस्या है, उसका मूल्य न समझ पाने के कारण, उसकी कीमत नहीं समझ पाते और उसे गवा बैठते हैं ।

दुनिया की चकाचौंध में नहीं फसना चाहिये । स्वपुरुष से ही लाभ है । लालच में स्वयं दहेज लें और जब देने का समय आये तो आन्दोलन करें, कहा तक उचित है ? क्या दहेज से प्राप्त धन, किसी के द्वारा प्रदत्त धन सारी उम्र चल सकता है आज आप दहेज मागते हैं, पर आपका भी समय आयेगा, आपसे भी मागा जायेगा ।

एक वृद्ध व्यक्ति था । उसकी पुत्रवधू एक दिन अपने पति से बोली—मुझसे तुम्हारे बूढ़े पिता की सेवा नहीं होती, इनको गंगा नदी में डुवो आओ ।



पुत्र ने मना किया, हिचकिचाया, पर पत्नी के बार-बार आग्रह व जिद पर वह मान गया। पिता को गंगा-स्नान के बहाने ले गया। वह नदी में अन्दर चलता गया। पिता ने कहा—बेटा और आगे मत बढ़, पानी गहरा है डूब जायेगा, मैं डूब गया तो कोई बात नहीं, पर तुझे कैसे डूबने दूंगा। पिता की ऐसी स्नेहसिक्त बात सुनकर पुत्र रोने लगा। पिता ने रोने का कारण पूछा। पुत्र ने सारा वृत्तान्त कह दिया, तब पिता बोले—जैसा तुम मेरे साथ करोगे, तुम्हें भी वैसा ही भोगना होगा, तुम्हारे पुत्र भी तुम्हारे साथ ऐसा ही व्यवहार करेंगे। इसलिये दुर्भावनायें, कुटिलतायें, हठ छोड़कर व्यवहार-जगत् में भी सहजता को अपनाना चाहिये।

बड़ी विचित्र बात है, हम एक कुरीति को हटाते हैं और दो कुरीति सामने आ जाती है, बढ़ जाती है। हमारे देश के महापुरुषों ने, आचार्य शातिसागरजी आदि ने मृत्युभोज व सती प्रथा जैसी भयानक कुरीतियाँ हटायी तो दहेज की कुरीति पैदा हो गई। व्यावहारिक-जीवन में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं।

पूजा-पाठ के साथ व्यावहारिक जीवन में, समाज में जो विकृतियाँ फैल रही हैं, उनको रोकना चाहिये। जीवन को सहज रखना चाहिये। वैभव शाश्वत नहीं है। आत्म-कल्याण का मार्ग, धर्म ही श्रेष्ठ है। इतिहास साक्षी है कि जो त्यागते गये वे पूज्य होते गये, जो जोड़ते गये वे डूबते गये। राम ने राज्य त्याग दिया अपना अधिकार दिया। कोई अपने फटे कपड़े भी सहजता से नहीं त्यागता। उनके त्याग ने उन्हें अजर-अमर व महान् बना दिया, वे आदर्श बन गये। लक्ष्मण के द्वारा इमका विरोध करने पर राम ने कहा कि—यह सिंहासन शाश्वत नहीं, यह अमरता नहीं देगा। तू शाश्वत को चाहता है या नश्वर को? शाश्वत को चाहता है तो मेरे साथ आ जा। राम ने त्याग से इतिहास में एक आदर्श प्रस्तुत किया। त्याग में शांति है। लालच-लोभ, आकांक्षा में शांति नहीं, इनका कोई अन्त नहीं है।

भारत धर्म-प्रदान देश है। यहाँ कुरीतियाँ नहीं होनी चाहिये। धार्मिक भावना होगी, तो कुरीतियाँ नहीं हो सकती। वैभव पर शाश्वत विश्वास मत कीजिये। बेटा-दामाद को नश्वर धन के स्थान पर आत्म-कल्याण का, शाश्वतता का मार्ग बताने हेतु धर्म-ग्रन्थ दीजिये। दहेज मागना सामाजिक अपराध है। क्या धन कभी किसी का हुआ है? वह तो चंचल है।



एक व्यक्ति की जेब से एक नोट गिर गया । वह व्यक्ति उसे उठाने लगा कि यह तो मेरा है । यह सुनकर वह नोट हँस पड़ा और कहने लगा कि मैं हजारों लाखों लोगों के पास होकर आ रहा हूँ, सबने मुझे अपना बताया है, पर मैंने किसी को अपना नहीं माना । सत्य है, लक्ष्मी शाश्वत नहीं है, इसके लिये धर्म को, ईमान को मत छोड़िये । ईमान-धर्म व स्वपुरुषार्थ से धन प्राप्त करना भी सामाजिक पूजा है ।

नय निश्चय एकातथी, आमा नथी कहेल ।

एकाते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल । १३२।

अर्थ—यहा एकान्त से निश्चयनय को नहीं कहा, अथवा एकान्त से व्यवहारनय को भी नहीं कहा । दोनों ही जहा-जहा जिस-जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं ।

उपादाननु नाम लई, ए जे तजे निमित्त ।

पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे आतिमा स्थित । १३६।

अर्थ—सद्गुरु की आज्ञा आदि आत्म-साधन के निमित्तकारण हैं और आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि उसके उपादान कारण हैं—ऐसा शास्त्र में कहा है । इससे उपादान का नाम लेकर जो कोई उस निमित्त का त्याग करेगा वह सिद्धत्व को नहीं पा सकता और वह आति में ही रहा करेगा । क्योंकि शास्त्र में उस उपादान की व्याख्या सच्चे निमित्त के निषेध कहने के लिये नहीं कही । परन्तु शास्त्रकार की कही हुई उस व्याख्या का यही परमार्थ है कि उपादान के अजाग्रत रखने से सच्चा निमित्त मिलने पर भी काम न होगा, इसलिये सद्-निमित्त मिलने पर उस निमित्त का भी अवलम्बन लेकर उपादान को सम्मुख रखना चाहिये और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये ।

—श्रीमद् राजचन्द्र (आत्म प्रसिद्धि)

## •••• वन्दे तद्गुण लब्धये !

प्रपञ्च की 'चकाचौघ' से घबराकर हमें श्रद्धा में लौटना होता है, शान्ति के लिये अन्यत्र स्थान नहीं है। मंदिर व मूर्ति साकार से निराकार की ओर जाने के लिये साधन है। पूजा का आधार गुण है। हमारे परिणामों की रक्षा हेतु मूर्ति साधन है। मन-वचन-काय की एक क्षण की एकाग्रता से असंख्यात् कर्मों की निर्जरा होती है।

मनुष्य इस दुनिया में जन्मता है तो वह पहले पालने में खेलता है, पालने से निकलकर कमरे में खेलता है, कमरे से निकलकर सड़क, गली, मोहल्ले में खेलता है, पृथ्वी और विशाल आकाश की ओर चक्षु खोलकर दृष्टिपात करता है। उस विशालता की ओर देखकर चिन्तन की धारा शुरू हो जाती है। चिन्तन की धारा जब सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुँचती है, वह उनका अवलोकन करता है, उनका अनुभव करता है, तब उसकी दृष्टि से सकीर्णता, छोटे-बड़े का भेद-भाव, कूप-मण्डूकता भी निकलती जाती है।

एक बाग में एक सुन्दर कली फूटी। वही जमीन पर एक पत्थर का टुकड़ा पड़ा था। किसी आने जाने वाले से उस पत्थर की ठोकर लग गई। यह देखकर वह कली हँस पड़ी—तुझे देख सब खुश होते हैं और तुझे सब ठोकर लगाते हैं। दैवयोग से एक कारीगर वहाँ आया और पत्थर के उस टुकड़े को ले गया, उसकी एक मूर्ति बनवाकर मन्दिर में प्रतिष्ठित करा दी। वह कली फूल बन गयी, उसे किसी व्यक्ति ने तोड़कर उस मूर्ति के सामने भेंट कर दिया। तब उस मूर्ति ने कहा—अरे, तू तो मेरी हँसी उड़ाती थी, आज यहाँ मेरे चरणों में आकर कैसे बैठ गई। तब उस फूल ने कहा—सच है, कभी भी किसी के प्रति घृणा-भाव नहीं रखना चाहिये।

जब चिन्तन की धारा विकसित हो जाती है तो कोई छोटा- बड़ा नहीं रहता । प्रत्येक पदार्थ में अनन्तगुण हैं, वे अनन्त गुणों के भंडार हैं । उन गुणों को देखने की दृष्टि विशालता से ही प्राप्त हो सकती है ।

मनुष्य गृहस्थ जीवन में अनेक कठिनाइयों, परिश्रमों के कारण थक जाता है, उस थकान को उतारने के लिये कोई मनोरंजक कार्य में मग्न हो जाता है, कोई खेल खेलता है । वह मनोरंजन तत्क्षण के लिये ही उपयोगी होता है । बच्चा खिलौने से खेलता है किन्तु जब भूख लगती है तो वह भी उस खिलौने को छोड़ देता है अर्थात् खेल की, मनोरंजन की भी सीमा है, पर अध्यात्म की सीमा नहीं है, वह असीम है । तत्त्वज्ञान, शास्त्र-स्वाध्याय, सत्संग-योग, पूजा-पाठ आदि आत्म-विशुद्धि के भाव हैं । आत्म-विशुद्धि के मूल में दुःखों से मुक्ति के भाव हैं । मनोरंजन तात्कालिक है, उनके पीछे थकान उतारने की भावना है । थकान उतर गई तो उस मनोरंजन की उपादेयता खत्म, पर अध्यात्म का सम्बन्ध तब तक है जब तक वह दुःखों से पूर्णतः मुक्त न हो जाये, इसीलिये आध्यात्मिकता के विकास स्रोत मन्दिरों का निर्माण हुआ है । मनोवैज्ञानिक चिन्तन के बिना, दृष्टि के बिना, मन्दिरों का महत्त्व समझ में नहीं आता । कुछ आधुनिक लोग मन्दिरों का महत्त्व न समझकर इनकी आलोचना करते हैं । जैनाचार्यों ने दो शब्द दिये—चैत्य और चैत्यालय । चैत्य=जिनविंब, साकार-मूर्ति; चैत्यालय=वह आलय है जिसमें मूर्ति-चैत्य विराजमान हो । चित्त की उपासना करने से चैत्य शब्द बना है ।

चैत्य में मूर्ति की पूजा में हम मूर्तिमान् की पूजा करते हैं । कहा है—  
'वन्दे तद्गुण लब्धये'—उनके से गुण हमें भी प्राप्त हो इसलिये हम वन्दना करते हैं । मूर्ति के पीछे मूर्तिमान् की, गुणों की पूजा है । जैसे किसी की अच्छी वस्तु को देखकर विचार आता है कि हमें भी यह वस्तु मिलनी चाहिये । वैसे ही आचार्य कहते हैं कि भगवान् पूर्ण गुणवान् हैं उनके से गुण जो मुझमें भी हैं, पर प्रकट नहीं हैं, वे मुझमें भी प्रकट हो जायें । इसलिए कहा है कि—

मोक्षमार्गस्य नेतार, भेत्तार कर्मभूमृतां ।

ज्ञातार विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अभिप्राय पत्थर की, पाषाण की पूजा नहीं है, मूर्तिमान् के गुणों की पूजा है ।

एक व्यक्ति बार-बार मूर्ति को नमस्कार कर रहा था, दूसरा व्यक्ति एक बार नमस्कार करके बैठ गया। उसने देखा कि यह बार-बार क्यों नमस्कार कर रहा है ? उसने पूछा—तुम उस पत्थर को क्यों बार-बार नमस्कार कर रहे हो ? तब नमस्कार करने वाले व्यक्ति ने कहा कि—पत्थर को तुम पूज रहे हो, मैं तो इसे सर्वज्ञ के प्रतीक के रूप में पूज रहा हूँ, अप्रत्यक्ष रूप में उस सर्वज्ञ को पूज रहा हूँ। दृष्टि भावों पर आधारित है।

एक मन्दिर था, जिसमें सोने की, चाँदी की मूर्ति थी। मन्दिर में एक सुनार व उसका पुत्र दशन करने गये। वे उस मूर्ति में सोने को ही देख रहे थे, उसमें कितना टचका सोना है, कितना सोना है ? वस यही विचार उनके मन में था। उस सुनार के जाने के पश्चात् एक सराफ उस मन्दिर में गया। उसने उस सोने-चाँदी का, बाजार-भाव से मूल्य आका। उसके बाद एक कलाकार पहुँचा। वह उसमें कला की दृष्टि से त्रुटियाँ देख रहा था। फिर एक व्यक्ति आया वह भक्त था न वह स्वर्ण की शुद्धता परख रहा था न वह उनकी कीमत आक रहा था, न कला परख रहा था, उसको उस मूर्ति में वीतराग भाव नजर आ रहे थे, उसको तिल-तुप मात्र भी राग नहीं था। उसे मूर्ति में गुण ही गुण दिखाई दे रहे थे, क्योंकि वह भक्त था। मूर्ति में गुणों की पूजा है, सोने-चाँदी-कला की पूजा नहीं है।

कलाकार तो हर वस्तु में त्रुटि निकालता है। पृथ्वी मण्डल में जितने पदार्थ हैं, उनमें सबमें कोई न कोई कमी है। स्वर्ण अत्यन्त मूल्यवान्, विनिमय-शक्तियुक्त है कि जहाँ चाहे वहाँ इसके बदले वस्तुएँ खरीद सकते हैं। उम्र भी बहुत है पर इसमें गंध नहीं है। जिसमें गंध है उस फूल की उम्र बहुत कम है। स्वर्ण में सुगन्ध होती तो फूल, पुष्प को कौन पूछता। किन्तु सुगन्ध रहित स्वर्ण भी पूज्य है, साधन है—क्योंकि उसमें अन्य कई गुण हैं। मूर्ति में भी मूर्तिमान के गुणों की पूजा है। मन्दिर व मूर्ति साकार से निराकार की ओर जाने के लिये साधन हैं। साधन के पीछे साध्य के भाव होते हैं। तराजू पैसा नहीं कमाता है, जिम्मे उसे पकड़ रखा है, उसकी अकल पैसा कमाती है। इसी प्रकार साकार में निराकार की ओर जाने के लिये, साकार (अक्षरादि के, मूर्ति आदि के) पीछे भाव हैं, पदार्थों के पीछे निराकार भाव हैं। हम फूल के रूप रंग का वर्णन करते हैं, फिर फूल की गंध-खुशबू का वर्णन करते हैं, वह उसका गुण है, क्या वह दिखाई दे रहा है ? गंध दिखाई नहीं देती तब भी उसका वर्णन कर रहे हैं, केवल अनुभव के आधार पर। इसी प्रकार भगवान्

के गुण दिखाई नहीं देते तो भी अनुभवगम्य होने से वर्णन करते हैं ।  
भक्तामर-स्तोत्र-अर्थात् जो भक्त पढ़े, वही अमर हो जाये, मे लिखा है—

सोह तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,  
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ।  
प्रोत्पात्मवीर्यमविचार्यं मृगीमृगेन्द्रं,  
नाभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थं । ५ ।

भावार्थ—हे भगवान् ! हिरणी के बच्चे को जब शेर पकड़ लेता है, शेर से मुकाबला करने के योग्य न होते हुये भी वह हिरणी अपने बच्चे को छुड़ाने के लिये मोह के कारण उससे (शेर से) जूझ पड़ती है, वैसे ही मैं भी आपके गुणों को गिनाने, बताने योग्य नहीं हूँ, किन्तु फिर भी भक्तिवश आपके गुणों को मापने चला हूँ ।

प्रत्येक स्थान पर गुणों की स्तुति है, गुणों की पूजा है । मानव गुणों का पूजक है । लौकिक-व्यवहार में भी जब भी कोई वस्तु खरीदते हैं तो पहले उसके गुणों पर नजर रखते हैं, गुण परखते हैं, तभी खरीदते हैं । इसी प्रकार उस सर्वज्ञ के गुणों की ही पूजा करते हैं । पूजा में, गुण आधार-शिला है । भगवान के, वीतराग के गुणों को नापना ऐसे ही है जैसे—एक मिट्टी का ढेला समुद्र की गहराई मापने चले अथवा हिमालय की उत्तुंगता नापने के लिये बढे । हम उसके अनन्त गुणों में से कुछ गुणों की स्तुति या वर्णन कर सकते हैं, तभी तो आचार्यों ने उन्हें अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि वचनों से गुणों को नहीं माप सकते, वे तो अनुभव करने योग्य हैं, अनुभव से जाने जा सकते हैं । कोई गुड के स्वाद का कितना ही वर्णन करे, पर बिना चखे उसके स्वाद का, मीठेपन का ज्ञान हो ही नहीं सकता । वैसे ही दूसरे के द्वारा बताये गये आत्मानुभव को हम नहीं जान सकते जब तक कि हम स्वयं उसको अनुभूति न कर लें । दूसरों के अनुभव पर विश्वास भी करेंगे तो वह क्षणिक होगा । स्वयं की अनुभूति ही सर्वोपरि है । दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव कोई व्यक्ति नहीं कर सकता ।

राजस्थान में एक बैलगाड़ी जा रही थी । उसमें बहुत सारा भूसा रस्सियों-नाडों द्वारा बंधा हुआ था । राह में एक व्यक्ति मिला वह उस गाड़ी में बैठकर आगे जाना चाहता था । गाड़ीवान ने उसे भूसे के ऊपर बैठा दिया चलते-चलते मार्ग में असमतलता के कारण गाड़ी में बंधा घास-भूसा ढीला

होकर हिलने लगा । वह व्यक्ति बोला—अरे गाडीवान ! मैं गिर जाऊंगा । गाडीवान ने कहा कि तुम नाडा पकड़ लो, फिर नहीं गिरोगे । उस व्यक्ति ने अपने पायजामे का नाडा पकड़ लिया । थोड़ी ही दूर पर एक गड्ढा आया, उसके उछाल से वह व्यक्ति गिर गया । गाडीवान ने कहा—तुमने नाडा नहीं पकड़ रखा था क्या ? वह व्यक्ति बोला—कैसे नहीं पकड़ा था, देखो मैंने अभी भी पकड़ रखा है । उसने वक्ता के नाडा शब्द का अभिप्राय न समझकर अपनी समझ के अनुसार अपने पायजामे का नाडा पकड़ लिया । इसी प्रकार पाषाण-पूजक की बात करने वाले हमारे अभिप्राय को नहीं समझ पाये । हम उस पाषाण के नहीं गुणों के पूजक हैं, उस गुणवान को उस मूर्ति में स्थापना कर आदर्श रूप में पूजते हैं, हम भी वैसे बनें, इसलिये पूजते हैं । जैसे व्यवहार में हम सामान्य वस्तुओं को भी गुणों के आधार पर मूल्य प्रदान करते हैं वैसे ही वीतराग परमात्मा के गुणों की पूजा करते हैं । जो स्वयं गुणवान है, वह प्रत्येक वस्तु में गुण ही देखता है, उस वस्तु के रूप-रंग को देखकर महत्त्व नहीं देता । गाय चाहे काली हो, लाल हो, सफेद हो, दूध सदैव सफेद होता है ।

एक सन्त हुए हैं, जिनका नाम एकनाथ था । उनका प्रतिदिन गंगास्नान का नियम था । उनके क्षमाभाव, त्याग आदि की नगर में बहुत चर्चा थी । उस नगर में एक पठान भी रहता था, उसने एक बार उनकी परीक्षा लेने का विचार किया । उसका घर उसी मार्ग पर था जिस पर से वे सन्त गंगा स्नान के लिये आते जाते थे । दूसरे दिन जब सन्त एकनाथ उधर से गंगा स्नान कर लौट रहे थे, उस पठान ने ऊपर से पान का पीक थूक दिया, जिसके छीटे उन सन्त महोदय के शरीर पर उछल गये । सन्त पुनः गंगास्नान के लिये चले गये, लौटते समय उस पठान ने फिर पान थूक दिया सन्त पुनः गंगास्नान के लिये चल दिये । इस प्रकार यह क्रम सौ बार चला । जब एक सौ एक बार स्नान करके सन्त लौट रहे थे, तब वह पठान अपने मकान से नीचे उतरकर आया और उनके चरणों में गिरकर रोने लगा तथा अपनी धूर्तता की, गलती की क्षमा चाहने लगा । सन्त एकनाथ ने कहा—भाई मैं तो तुम्हारा उपकार मानता हूँ । क्योंकि प्रतिदिन मैं केवल एक बार गंगास्नान करता था, किन्तु आज मेरा भाग्य उदय था कि मुझे एक सौ एक बार गंगास्नान का अवसर प्राप्त हुआ ।

बुद्धिमान मानव प्रत्येक वस्तु घटना आदि में से गुण ही ग्रहण करता है । गुण ही प्रेरणादायक होते हैं । जगत में कोई वस्तु गुण-विहीन नहीं है,

सबमें कोई न कोई गुण अवश्य है और जिसमें सम्पूर्ण गुण है वही वीतराग भगवान है । अकलकदेव ने कहा है कि—हम नाम के फेर में नहीं पड़ते, हम तो गुणों के पूजक हैं । कोई दूध को 'मिल्क' कहता है, कोई 'क्षीर', तामिल-भाषी 'पाल' कहते हैं, कन्नड भाषा में 'हाल' कहते हैं । कोई शक्कर को 'शूगर' कहते हैं, मराठी में 'साखर' कहते हैं, रशियन भाषा में 'साखार', कन्नड भाषा में 'सकरे'—इतने विभिन्न उच्चारणों व नामों से क्या उसके मीठापन में दूध के स्वरूप में क्या कोई अन्तर आया ? वे सब पदार्थ वैसे ही गुणवान हैं । तीन लोक के समस्त पदार्थ द्रव्य गुण-पर्याय सहित जिनकी आत्मा में भलक रहे हैं, जिन्हें वे स्वयं भी जानते हैं और दूसरे को बताने में भी समर्थ हैं, जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हैं, पुनरपि जिनका जन्म नहीं है, वे ससार समुद्र से पार हो गये । जिनके वचन पूर्वापर विरोध से मुक्त हैं, (वीतराग के वचन में कोई दोष नहीं है) जिनके उपदेश प्राणिमात्र के कल्याण के लिये हैं । समस्त भव्य जीव जिनके उपदेशों से तिर जाते हैं, जिनकी वाणी में सकीर्णता, सकुचितता नहीं है ऐसे वीतराग भगवान के मुख से अमृत भरता है । इन गुणों के कारण वे ही हमारे पूज्य हैं । सब सुहित कर, सब अहित हर . . . . .

पानी सबकी प्यास बुझाता है, शांति प्रदान करता है, तृप्त करता है । वीतराग की वाणी आत्मा को शांति प्रदान कर परमात्मत्व की ओर ले जाती है । उनके वचनों के लिये कोई उपमा नहीं है । वे निष्कलक हैं । वे न पूजक से खुश हैं न निन्दक से नाराज । दर्पण में मुह टेढ़ा करके देखने से न वह नाराज होता है । न खुश होता है, दर्पण में अग्नि दिखाई देती है तो भी दर्पण जलता नहीं है, दर्पण में जल दिखाई देता है तो भी वह गीला नहीं होता । वीतराग भगवान निराकार हैं, ससार के समस्त देव जिनके चरणों में वन्दना करते हैं । आचार्य अमितगति ने कहा है—वे भगवान मेरे हृदय में हैं जिन्हें ससार के समस्त इन्द्र-मनुष्य नमन करते हैं व ग्रन्थों में जिनकी स्तुति की है, जिनके पास सम्पूर्ण गुण मौजूद हैं, जिन्होंने समस्त दोषों का नाश कर दिया है, प्रक्षालित कर दिया है । नाम कोई भी हो, परन्तु उनमें उपर्युक्त गुण हैं तो वे भी पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं ।

गुण ही मनुष्य की श्रेष्ठता के परिचायक हैं । गुणवान मनुष्य दूसरे में भी गुण ही देखता है । गुणों के आधार से ही पूजा की रचना हुई है ।



इस प्रपंच की चकार्चवि से घबराकर हमें श्रद्धा में ही लौटकर आना होता है, शांति के लिये और कहीं स्थान नहीं है। साधनावस्था में आत्मा, परमात्मा में श्रद्धा करता है, जब स्वयं परमात्मा हो जावे तब श्रद्धा की आवश्यकता नहीं होती। वच्चा जब चलना सीखता है तभी अंगुली पकड़कर चलता है, जब बड़ा हो जाता है, चलना सीख चुकता है, तब वह किसी की अंगुली का सहारा नहीं लेता। जब तक परमात्मा की आराधना में एकाग्र हो स्वयं में नहीं समा जाते, तब तक परमात्मा का साधन का आश्रय लेते हैं। साकार (मूर्ति) की पूजा निराकार की प्राप्ति के लिये है। साकार का आश्रय तब छोड़ते हैं जब इष्ट की प्राप्ति हो जाये। नसैनी को तभी छोड़ते हैं जब छत पर पहुँच जायें, बीच मार्ग में छोड़ देंगे तो गिर जायेंगे। किनारे पहुँचने से पूर्व नाव छोड़ देंगे तो डूब जायेंगे। साध्य प्राप्त होते ही साधन स्वयंमेव छूट जाते हैं, खत्म हो जाते हैं। पर यदि कोई बीच में ही साधन को छोड़ दे तो इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती।

धर्मध्यान व आत्म-कल्याण के लिये—स्वाध्याय, चिंतन के लिये—साकार मूर्ति, और सत्संग के लिये विद्वान्-व्रती त्यागी साधन हैं। मंदिर की आवश्यकता पर आचार्यों ने बहुत बल दिया है। हमारा मन क्षणभर भी एकाग्र नहीं हो पाता पर साकार—मूर्ति के अवलंबन से एकाग्र नहीं हो सकता है व हो जाता है। वही क्षण मूल्यवान है। मन-वचन-काय की एक क्षण की एकाग्रता में अमख्यात कर्मों की निर्जरा होती है।

परमात्म-प्रकाश में लिखा है कि—चाहे आख खोलकर बैठो, चाहे बंद करके, चाहे खड़े रहो, ये सब तो बहिरंग हैं, इसका इतना महत्त्व नहीं है, महत्त्व इसका है कि मन एकाग्र कितना है। आचार्यों ने कहा है कि—एक लाख पत्तों को सुई से छेद दीजिये। एक पत्ते में दूसरे पत्ते को छेदने में, तीसरे पत्ते को छेदने में जो समय लगा उसका हिसाब लगाना कठिन है, एक क्षण में एक लाख पत्तों को छेदा जा सकता है। वैसे ही एक क्षण में अनन्त कर्मों को छेदा जा सकता है। दुकान पर सारा दिन बैठने पर भी कोई ग्राहक न आया तो भी कोई दुकान बन्द करके चला नहीं जाता, कुछ देर बैठने से भी मन एकाग्र न हो तो भी विश्वास मत छोड़ो, दृढ़ता रखो, अभ्यास जारी रखो, मन अवश्य एकाग्र होगा।

प्रतिदिन कुछ समय धर्मध्यान में व्यतीत करना चाहिये। हमें भगवान की पूजा, अर्चना, श्रद्धा, वीतरागभाव, उपासना में लौटना होगा। इससे लाभ



ही है । कोई हानि नहीं है । क्योंकि पूजा में हम स्वयं की आत्मा का प्रक्षाल करते हैं, भगवान की पूजा-प्रक्षाल तो साधन बना लिये है । लाठी को पकड़कर चलते हैं तो लाठी पर उपकार नहीं है, उसका हम पर उपकार है, वह हमें गिरने से बचाती है, वैसे ही हमारे परिणामों की रक्षा करने के लिये ही मूर्ति-साधन है, उससे स्वयं का लाभ है, उपकार है ।

पर-पदार्थ का अन्त नहीं है । सब बात स्वयं को पहचानने के लिये बनी है । निदान बाधकर लौकिक इष्ट की प्राप्ति के ध्येय से पूजा-पाठ नहीं करना चाहिये, वीतराग की इस प्रकार से पूजा करना तो ऐसा ही होगा मानो हीरे की दुकान पर जाकर काच की फरमाइश कर रहे हों । वीतराग के पास तो हमें प्रशस्त भाव, आत्मा से परमात्मा बनने का भाव रखना चाहिये, इसी में हित है, कल्याण है, वही धर्म है और धार्मिक है ।




---

न चाणुमात्रो न कणप्रमाणो नाप्येवमगुष्ठसमप्रमाण ।

न योजनात्मा न च लोकमात्रो देही सदा देहपरिप्रमाण ॥

अर्थ—आत्मा अणुमात्र भी नहीं है, एक कणमात्र भी नहीं है, एक अगुष्ठ समान प्रमाणवाला भी नहीं है और न इसका प्रमाण योजन का है, न लोकव्यापी है । आत्मा सदा अपने देह के प्रमाण वाला अखण्ड है ।

• उग्रादित्याचार्य, कल्याणकारक ७/५.

---

## विभाव का कारण है— 'विकारी भाव'

निर्मोही अल्पज्ञानी है तो भी मुक्तिगामी है और प्रकाण्डज्ञानी मोह सहित है, तो वह मिथ्यावादी है। परमाणु-परिमाण राग भी जहर है, घातक है, वह शुद्ध सम्यक्त्व नहीं देता। जिसके राग है, वह ससारी है, प्रपची है।

विकारी भाव स्वयं के है, उनसे पुद्गल कर्म वधते है और उन कर्मों के उदय से ससार-भ्रमण होता है।

सत्य अखण्ड है, अव्याबाध है। पूर्ण-सत्य अनिर्वचनीय है। नय आशिक ज्ञान कराता है, वह पूर्ण-सत्य नहीं, पर सर्वथा असत्य भी नहीं है।

आचार्यों ने तत्त्वज्ञान को धर्म-ग्रन्थों में विभिन्न रूपों में समझाया है, किसी शास्त्र में सूत्र रूप में, किसी शास्त्र में गाथा रूप में, किसी शास्त्र में पद्य में तो किसी शास्त्र में गद्य रूप में। सूत्रमय भाषा में तो मानो राई में छेद कर सागर भर दिये गये हैं, छोटे-छोटे सूत्रों में अत्यन्त गूढ़ अर्थ भर दिये हैं। जयध्वला के प्रारम्भ में आचार्य वीरसेन ने कहा 'अल्पाक्षरो', अर्थात् सूत्र उसको कहते हैं जिसमें अल्प अक्षर हो, सार हो, तथ्य हो, जो निर्दोष हो, गूढ़ अर्थ वाले हो व असदिग्ध हो। अनागार धर्ममृत में कहा है कि कई शब्द अपने में दो विरोधी धर्मों को लिये हुये हैं। जब हम दूध की बात करें तो एक दूध आकड़े के पेड़ का जो जहर है, आख में डाल दें तो आख अंधी हो जाये और एक गाय का दूध—वह अमृत है। ऐसे ही धर्म को लें तो कुछ

लोग बलि आदि को धर्म मानें और कोई अहिंसा को धर्म मानें । इस प्रकार एक ही शब्द को दो विरोधी अर्थ में प्रयोग होने के कारण असदिग्धता नहीं रहती, जबकि आचार्यों ने कहा कि असदिग्धता रहनी चाहिये । शब्दों को, अर्थों को असदिग्ध रूप में समझने के लिये पचपरावर्तन को समझना आवश्यक है ।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि जगत्, उसका कार्य, उसका स्वभाव, ये वैराग्य उत्पत्ति के लिये आवश्यक हैं । ससार के प्रपञ्च से विरक्त होने के लिये इनका स्वरूप—स्वभाव समझना चाहिये । जगत् व कार्य को समझने के बाद ही मनुष्य में उसके प्रति जो मिथ्या आसक्ति है कि—मैं इस प्रपञ्च के साथ एकाकार हूँ, वह दूर होने लगेगी । लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये छः द्रव्य हैं । कुछ दार्शनिकों ने उन छहों द्रव्यों को एकाकार, एक ही वस्तु माना, तो कुछ दार्शनिकों ने पृथक्—पृथक् माना । अमृतचन्द्राचार्य ने कलश के द्वारा कहा है कि इस जीव ने अब तक कहाँ जन्म नहीं लिया, कौन में विचार नहीं विचारे । पर जो अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता के प्रति दृढ़ है, वही यति है, त्यागी है, वैरागी है । अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न कलश देकर समझाया कि—

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-  
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्  
मोहैककदोऽध्यवसाय एव  
नास्तीह येषा यतयस्त एव । १७२।

—विश्व के पदार्थों के साथ सम्बन्ध जोड़कर एकाकार रूप देख रहा है, मैं विश्व में हूँ और विश्वमय हूँ । जब तक अपनी आत्मा को स्वतन्त्र अनुभव नहीं करता, समस्त पदार्थों से विभक्त रूप में, मोह से वह जकड़ा है तो पचपरावर्तन में परिभ्रमण करता रहता है । अपनी आत्मा को देखिये । पेट में दर्द आपके हो रहा है और दवा कोई और लेले तो क्या आपका दर्द समाप्त हो जायेगा ? व्यावहारिक रूप में भी ऐसा सम्भव नहीं, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य, प्राणी स्वयं शुभाशुभ लिये हुए है । प्राणी पचपरावर्तन के अन्दर मिथ्या धारणाओं, एकान्त के कारण भ्रमण कर रहा है । पचा-  
ध्ययी में विश्व के समस्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाले को आत्मघाती कहा है । समस्त पदार्थों से अपने को जोड़ने वाला जीव अत्यन्त मोही है और वह अनन्त ससार तक भ्रमण करेगा । जब तक रोग का निदान न हो

तब तक इलाज कैसे होगा ? पहले यह मानना होगा कि पंचपरावर्तन में जीव मिथ्यात्व के कारण भ्रमण करता है । हम कहते हैं —अकेले मत जाना, साथ ले जाना । जन्मते वक्त व मरते वक्त तो किसी को साथ नहीं रखा था तो बीच में किसी को साथ क्यों ले जाते हो ? जब एक पदार्थ के साथ सयोग व वियोग देखते हो तब समस्त प्रपञ्च के द्रव्यों के साथ एकाकार कैसे होते हो ?

प्रत्येक आत्मा अपने आप में पूर्ण एवं अखण्ड है । वह विश्व में रहते हुये भी उससे पृथक् है—विभक्त है ।

पञ्चास्तिकाय में कहा है—

अणोणं पविसता दिता ओगासमणमणस्स ।

मेलता विय णिच्चं सग सभावं ण विजह ति ।७।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अवगाहना देते हैं, आत्मा अनात्मा को अवगाहना देता है किन्तु फिर भी अपनी पृथक् सत्ता को लिये हुये हैं ।

एक पानी का गिलास है, उसमें एक चम्मच चीनी डाल दी, एक चम्मच नमक डाल दिया, तीनों को मिला दिया किन्तु जब चखते हैं तो नमक अपना स्वाद बताता है तो चीनी का भी स्वाद आता है, अर्थात् दोनों पुद्गल हैं, वे भी अपनी-अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् बताते हैं, एक होते हुये भी अपना पृथक्-पृथक् गुण बताते हैं तो यह चैतन्य आत्मा कैसे अपना अस्तित्व मिटा सकता है, वह कैसे प्रपञ्च की वस्तुओं से एकाकार हो सकता है ? उस गिलास में शीतलता जल की, मीठापन चीनी का, खारापन नमक का सब अपना पृथक्-पृथक्, स्वाद-स्पर्श बताते हैं, द्रव्य दृष्टि से सब पुद्गल हैं पर पर्याय दृष्टि से भेद हैं, तब भी सब अपनी विशिष्टता पृथक् बताते हैं । इस ससार में छहो द्रव्य पृथक् हैं, साथ रहते हुये भी वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते । छहो द्रव्य में से चार द्रव्य तो अनादि से स्वभाव में हैं पर जीव व पुद्गल स्वभाव में भी हैं और विभाव में भी हैं, इसलिये जीव, ससारी व मुक्त के भेद में दो प्रकार के हैं । ससारी जीव व पुद्गल ये दो क्रियावती शक्ति युक्त हैं । इनका सयोग अनादि से है, किसी काल विशिष्ट से सयोग नहीं हुआ है । कर्मों ने आत्मा को पकड़ रखा है या आत्मा ने कर्मों को पकड़ रखा है ? यदि कर्मों ने आत्मा को पकड़ रखा है तो वह फिर कभी छूट ही नहीं सकता, वह जड़



पूछा गया कि—तुम्हें कैसे पता चलता है ? उसने कहा कि—मैं भी तो देखता हूँ - अर्थात् दोनों ही एक दूसरे की ओर देखते थे । इसलिये न केवल पुद्गल ही अपराधी है न केवल जीव ही अपराधी है, इसने वध किया तो पुद्गल इसको छोड़ेगा नहीं, इसे उन कर्मों को भोगना होगा ।

परम पारणामिक भाव में निष्क्रियता आ जाती है । जीव कूटस्थ नित्य नहीं है तब निष्क्रियता में क्या तात्पर्य ? निष्क्रियता का अर्थ है—कर्म के ग्रहण करने की क्रिया छूट गई है । जब तक कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया चल रही है, उसके मूल में पारणामिक भाव होते हुये भी वह उदय में नहीं है और वह जीव भ्रमण कर रहा है । परमाणु प्रमाण राग भी जहर है वह घातक है, वह शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होने देता । जिसके इतना मा भी राग है वह ससारी है, प्रपची है, मुक्तात्मा नहीं है ।

आचार्य ने लिखा है कि—यह निश्चित है कि क्रियायें द्रव्य के अनुसार ही होंगी पर वह बाह्य कारण को लिये हुये भी होंगी । विना बाह्य कारण के यह प्रपञ्च नहीं चल रहा है । इन दोनों का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते तो अनेकान्त खत्म हो जायेगा ।

अकलक ने प्रमाण मप्तभगी, नय मप्तभगी बताये हैं । उन्होंने सिद्धि-विनिश्चय टीका में लिखा है—‘कपिवृक्ष संयोग’ अर्थात् बन्दर पेड़ पर बैठा है यह प्रमाण है, नय की दृष्टि में देखें तो बन्दर तो एक टहनी पर बैठा है पूरे पेड़ पर नहीं बैठा । उदाहरण दिया है कि—ग्राम में मुर्गा बोल रहा है यह प्रमाण है पर नय दृष्टि से वह किसी विशिष्ट भाग में बोल रहा है, पूरे गाव में नहीं बोल रहा । व्यवहार में बोलते हैं कि यह सड़क वहाँ जाती है पर सड़क कहीं नहीं जाती सड़क पर चलने वाला व्यक्ति आता है और जाता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्य के दस भेद बताये हैं व्यवहार सत्य, सभावना सत्य, सम्मत सत्य, जनपद सत्य आदि । जैसे दूध को मिल्क, हाल, क्षीर आदि कहते हैं वह जनपद सत्य है । किसी मिद्धान्त का पूर्णतः अवलोकन करने के लिये उसके किसी पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकते । सत्य एक अखण्ड है, अव्यावाध है पर सत्य के पहलू अनेक हैं, जिस पहलू को लेकर चल रहे हैं वह आशिक सत्य है, वह पूर्ण सत्य नहीं है । इस दृष्टि को न समझ पाने के कारण स्याद्वाद पर अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं । पूर्ण को ‘अनिर्वचनीय’ कहा, क्योंकि हम पूर्ण सत्य को एक साथ शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते ।

इसलिये दिव्यध्वनि भी सापेक्ष व सप्तभगीनय से निकलती है। तीर्थकर का ज्ञान अनन्त है पर वे कथन एक अश का ही करते हैं, पूर्ण कथन नहीं करते।

एक ही पदार्थ में 'है' व 'नहीं है' इसको बिना स्याद्वाद के कैसे स्वीकार किया जा सकता है। 'यह स्त्री है, पुरुष नहीं है' इसमें 'है' और 'नहीं है' इन दो परस्पर विरोधी धर्मों को आचार्यों ने वस्तुओं में एक साथ स्वीकार किये हैं। इन धर्मों को युगपत् कहने के लिये 'अनिर्वचनीय' कहा। अनेक लोगो ने इसे न समझ पाने के कारण आपत्तियाँ की हैं, चावकि ने एकान्त के कारण आपत्ति उठाई, ब्रह्मसूत्र में भी 'अनिर्वचनीय' में एक में दो धर्म कैसे हो सकते हैं इसलिये आपत्ति की गई। पदार्थ का कथन भी किया और उसको अवक्तव्य भी कहा, ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं यदि वह अवक्तव्य है तो कथन कैसे किया जा सकता है? वास्तव में मनुष्य की बुद्धि सीमित है इसके लिये सन्मति-सूत्र में कहा है कि—जुवान से निकला हुआ एक वाक्य नय बन जायेगा, इसलिये नय अनन्त हैं। ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहा है, नय आशिक ज्ञान कराता है, वह आशिक ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं है, पर सर्वथा असत्य भी नहीं है। एक व्यावहारिक नय है और दूसरा द्रव्यार्थिक नय है। पर्यायार्थिक नय, व्यवहार-नय पर्याय का कथन करता है। मनुष्य पर्याय है इसका कथन पर्यायार्थिक नय से ही तो करेंगे।

जीव अपने विकारी-भावों में भ्रमण कर रहा है, इसको चाहे तो कहलें कि अज्ञान के कारण घूम रहा है पर सिद्धान्त एक ही है। एक सूरदास है, वह राजमहल में जाना चाहता है, परकोटे को पकड़ कर जा रहा था, जब दरवाजा आया तो किसी कारणवश उससे दीवार पर से हाथ हट गया, दरवाजा निकल गया और वह फिर पूरे परकोटे का चक्कर लगाता रहा। इसी प्रकार चौरासी लाख योनियों में घूमने के बाद यह मनुष्य भव मिला है, इसमें भी यदि इन्द्रिय लालच में लग गया तो फिर पंचपरावर्तन में घूमना होगा। इस त्रस नाडी में एक प्रदेश भी ऐसा नहीं बचा जहाँ इसने (जीवन ने) जन्म न लिया हो, न मरा हो, शुभ-अशुभ भाव भी समस्त विचार लिये। कोई भाव नहीं बचा। ससार में जितने भी पुद्गल परमाणु हैं उन सबको यह भोग चुका। अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु का सेवन कर लिया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि इस जीव के क्षणभर के लिये भी एकाग्र होने का कारण है कि इससे मध्य के आठ प्रदेश अचल हैं शेष चंचल हैं। सिद्धों के सारे आत्म-प्रदेश अचल हैं। जब ससारी आत्मा के सारे प्रदेश

अचल हो जायेंगे तब वह शुद्ध हो जायेगा । मन-वचन-काय की एकाग्रता से चचलता रुकेगी । आत्मव का मुख्य कारण चचलता है । कर्मों का आत्मव रोकने के लिये अचल होना होगा, आठ प्रदेश तो अचल हैं, पर सारे प्रदेशों को अचल बनाना होगा ।

अचल से तीन अर्थ निकलते हैं । (१) चारों गतियों में चलायमान न होना । (२) आत्मा के प्रदेशों में चचलता न होना और (३) व्यवहार में जमीन जायदाद को अचल सम्पत्ति कहना । परन्तु अचल सम्पत्ति आत्मा है, बाह्य सम्पत्ति जमीन जायदाद जिसे हम अचल कहते हैं, वह असार है । जब आत्मा के सारे प्रदेश अचल हो जायेंगे तब वही शाश्वत सम्पत्ति होगी, उसमें कभी पुन कोई विकार उत्पन्न होने वाला नहीं है । आत्मा की अचल सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये समस्त आचार्यों ने ग्रन्थों की, आगमों की, व्याख्या की है । चचलता का मूल कारण 'आधि' है, 'चिन्ता' है, यह अनादि से आत्मा के साथ चली आ रही है । 'चिन्ता' को दूर करना 'मन-वचन-काय' की गुप्ति के बिना असम्भव है ।

राजस्थानी अपभ्रंश के कवि ढोलामारू ने अपने काव्य में लिखा है—  
चिन्ता ने सबको बाध रखा है, चौरासी लाख योनियों में कोई भी जीव बिना चिन्ता के नहीं है । जिसको कोई चिन्ता नहीं है, जिसके पास तिल-तुष मात्र भी चिन्ता नहीं है, जिसने इससे मुक्ति पाली, मैं उसी को सिद्ध मानता हूँ, वही सिद्ध है ।

सारे ग्रन्थों का अवलोकन, आत्मा में उठने वाले विकल्पों को दूर करने के लिये, औपघरूप में है । 'निर्विकल्प' अवस्था प्राप्त करनी है, वही शाश्वत है, अचल सम्पत्ति है । पाठ-पूजा तीर्थ यात्रा, शास्त्र, ये सब इसकी प्राप्ति के साधन हैं । पर याद रखना, ये भी आधि-व्याधि उपाधि हैं, यदि इसके साथ मोह है । आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—निर्मोही अल्पजानी भी मुक्ति-गामी है और प्रकाडजानी मोह सहित है तो वह मिथ्यावादी है । तत्त्व-चर्चाओं का इतना महत्त्व नहीं, महत्त्व इसका है कि मोह कितना कम किया है ।

♦ ♦ ♦



## सव्वे शुद्धा शुद्धनया ..... ..

धर्म का प्रारम्भ चैतन्य से है। जो आत्मा को जानता है, वह स्व-व पर को जानता है। ज्ञान और क्रिया एक दूसरे के बिना निरर्थक है। धर्म विशाल है, सकीर्ण नहीं। सकीर्णता को छोड़े बिना राग-द्वेष, भेद-भाव नहीं छूटते, मिथ्यादृष्टि नहीं छूटती।

त्रियोगात्मक विकारी भाव ही कर्मवध का कारण है। यह जीव व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से क्रोधादि भाव कर्मों का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चय-नय से शुद्ध-भावों का कर्त्ता है।

अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को सतत् प्रज्ज्वलित करो, बहिरंग में इसके साधन रूप दान-पूजा आदि करो, यही धर्म है।

ससार में धर्म की आधार-शिला तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान अत्यन्त व्यापक है, अनन्तधर्मात्मक है। वह अनन्त धर्मात्मक तत्त्वज्ञान अपनी आत्मा में मौजूद है। इस भारत-भूमि पर अनेक महापुरुषों ने तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त की है। इतिहासकारों ने लिखा है कि भारत विश्व का अध्यात्म गुरु रहा है। जैसे भारत से अन्य चीजों का निर्यात होता है, वैसे यहाँ से धर्म का निर्यात हुआ है।

कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर एक बार चीन गये। वहाँ उनकी दाढ़ी व वेशभूषा को देखकर लोगो ने उनके पैर चूम लिये। उन्होंने कहा—मैं कोई साधु नहीं हूँ। उन लोगो ने कहा—हम तो हर भारतीय व्यक्ति को साधु समझते हैं। यहाँ के आचार विचार में बहुत पवित्रता थी और अडोस-पडोस में इसका व्यापक प्रभाव था। लोग हर भारतीय को आदर की दृष्टि से देखते थे।

जैनाचार्यों ने तत्त्वज्ञान का चिन्तन व विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। इसलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक शांति प्रसाद अत्रेय ने अपनी 'मनो-विज्ञान' नामक पुस्तक में मन की चिकित्सा के बारे में लिखते हुये यह भी उल्लेख किया है कि—मन की सूक्ष्मतम बातों को जानने के लिये जैन शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। मन के सम्बन्ध में इतनी सूक्ष्म चर्चा अन्य किसी साहित्य में नहीं मिलेगी।

हमारे मन की स्थिति बड़ी विचित्र है। सभी यह कहते सुनाई पड़ते हैं कि—मन एकाग्र नहीं होता, कोशिशों के बावजूद चंचलता रूकती नहीं है। मन को ठीक करने के लिये हमारे पास कोई जड़ी-बूटी नहीं है, पर तत्त्वज्ञान मन को स्वच्छ व निर्मल बना सकता है। मन में अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया लोभ आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। आचार्यों ने इनकी चिकित्सा के लिये तत्त्वों की सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल चर्चा की है। मनोविज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक भी मन की सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हैं, उन्होंने खोज की कि मनुष्य क्रोधी क्यों होता है? हमारे आचार्यों ने कर्म के सिद्धान्त के आधार से कहा कि—कर्म के द्वारा विकारी भाव उत्पन्न होते हैं व क्रोध उत्पन्न होता है। इसके लिये मन व कर्म दोनों जिम्मेदार हैं। वृहद् द्रव्य-संग्रह में लिखा है कि जैसे-हल्दी व चूना मिलाकर लाल रंग उत्पन्न करते हैं, लाल रंग न चूने का है न हल्दी का है। फिर यह लाल रंग कहाँ से आया? दोनों के संयोग से, मेल से लाल रंग आया। इसी प्रकार ये क्रोधादि भाव किसके हैं? ये न कर्मों के, न आत्मा के हैं। यदि ये सर्वथा आत्मा के भाव हैं तो फिर तो सिद्धों के भी होने चाहिये और यदि सर्वथा पुद्गल के हैं तो फिर लकड़ी पत्थर आदि सबमें भी होने चाहिये। ऐसा नहीं है। समयसार की गाथा अस्सी में बताया है कि दोनों के निमित्त सम्बन्ध से ये भाव उत्पन्न हुये। पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव ससार में भ्रमण कर रहा है और जीव के विकारी भावों के निमित्त से कर्म बंध रहे हैं। दोनों का जब तक सम्बन्ध है, पुद्गल-पुद्गल पर प्रभावक नहीं है व आत्मा—आत्मा पर प्रभावक नहीं है। आत्मा व पुद्गल का एक विचित्र सम्बन्ध है। शराब बोतल में भरी हुई है पर वह वहाँ असरकारी नहीं है, न मृतदेह पर उसका कोई असर है। पर जीवित मानव पर उसका प्रभाव पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुद्गल पर नहीं, जीव पर उसका प्रभाव निमित्त कारण बन जाता है। इसलिये आचार्यों ने कहा कि—भक्ष्याभक्ष्य का ख्याल रखो। भक्ष्य को भी मर्यादा के साथ ही खाओ, यह नहीं कहा कि भक्ष्य है तो खाये ही जाओ, उसमें भी मर्यादा रखो, ऊनोदर रखो, उपवास करो। जीव के अनादिकाल से कर्म साथ है। जीव ने कर्म बाध लिये, वे ही कर्म उदय में

आकर फल देने का कारण बन रहे हैं । कर्म आत्मा को सर्वथा नहीं पकड़ते । इसके लिये अमृतचन्द्राचार्य ने कलश में कहा है—

न कर्म बहुल जगत् चलनात्मकं कर्म वा  
न नैककरणानि वा न चिदचिद्विधो बंधकृत् ।  
यदैक्यमुपयोगम् समुपयाति रागादिभि  
स एव किल केवल भवति बधहेतुर्नृणाम् ॥ १६४ ॥

हाथ हिलाने से, मन हिलाने से कर्म बध नहीं होता, इससे लोक में ठसाठस भरी हुई कार्माणवर्गणायें आपको नहीं पकड़ती, न इससे चेतन अचेतन को बाधा पहुंचने के कारण बध होता है । जब मन-वचन-काय में रागादि विकारी-भाव उत्पन्न होते हैं, इनमें इन तीनों का एक्य होता है, तभी कर्म बधन होता है । राग-द्वेषात्मक भाव ही कर्म बध का कारण है ।

द्रव्य सग्रह की एक ही गाथा (सख्या आठ) का अवलोकन करले तो आगम मार्ग से विचलित नहीं हो सकते । इसमें कहा गया है कि—व्यवहार नय से यह जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है, अशुद्धनिश्चय नय से क्रोधादि भाव-कर्मों का कर्त्ता है और शुद्ध-निश्चय नय से शुद्ध-भाव का कर्त्ता है । शुद्ध दृष्टि से तो निगोदकाय का जीव भी शुद्ध है । यदि मूल में शुद्धता न हो तो सिद्ध कैसे बन सकेगा । व्यवहार से कर्मों का कर्त्ता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसने कर्मों का निर्माण किया है, परन्तु अपने भावकर्म से द्रव्यकर्म को बाध लिया यही कर्त्तापिन है । हम चलते समय किसी चीज से, पत्थर से ठोकर खा गये, इसमें हम व पत्थर दोनों ही कारण हैं । हमारी भूल से, पत्थर से चोट लग गई, दोनों का सम्बन्ध है । इसी तरह व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा यह पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है और शुद्धनय की दृष्टि से सारे जीव शुद्ध हैं । जो द्रव्य-दृष्टि से, शुद्धदृष्टि से समस्त पृथ्वी मण्डल की आत्माओं को देखता है वही समताभावी है, सम्यग्दृष्टि है । द्रव्य दृष्टि से सब शुद्ध हैं, तब छोटे-बड़े का भेद ही नहीं बैठता ।

मेढक हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया । आचार्य समन्तभद्र ने शास्त्रों में उसे स्थान दिया, महानुभाव कहा, तो क्या वे उसके हड्डी-चमड़े-ढाँचे को देख रहे थे उस समय ? नहीं ! उसकी आत्मा को देख रहे थे । हम तो आत्मवादी हैं । जैनाचार्य आत्मवादी हैं, प्रत्येक प्राणी में उनको शुद्धात्मा दिखाई देती है । सम्यग्दृष्टि को प्रत्येक जीव में शुद्ध आत्मा दिखाई देती है, क्योंकि उसकी स्वयं की आत्मा स्वच्छ व निर्मल होती है । मिथ्यादृष्टि जीव बहिरंग

मे काला-पीला देखकर उसको ही जीव का स्वभाव मान लेता है । तीर्थकर पार्श्वनाथ, तद्भवमोक्ष-गामी ने नाग को एमोकार मंत्र सुनाया क्योंकि वे सब जीवों में आत्मा के दर्शन करते थे । धर्म का प्रारम्भ ही चैतन्य से, आत्मा से है, जो आत्मा को जानता है वह स्व को व पर को जानता है । धर्मात्मा वही है, जिसकी दृष्टि समस्त पृथ्वी मण्डल की आत्माओं में शुद्धता देखे । यह दृष्टि समताभाव से उत्पन्न होती है । समताभाव व्यवहार में, मन्दिर में, दुकान में सब जगह होना चाहिये । मन्दिर में पूजा-पाठ कर चावल चढावे व घर में राग-द्वेष, भेद-भाव का व्यवहार करे तो वह कैसे समताभावी, सम्यग्दृष्टि हो सकता है । हमारे आचार्यों ने जीवन में उतारने की बात पर बल दिया है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य इन तीनों में कोई भेद नहीं है; ज्ञान के साथ चारित्र्य है, चारित्र्य के साथ ज्ञान है । चारित्र्य कुछ और हो और ज्ञान कुछ और हो तो सम्यक्त्व कैसे सम्भव है ? जैसे अग्नि के ताप व प्रकाश साथ रहते हैं, वैसे ही ज्ञान-चारित्र्य साथ है ।

द्रव्य दृष्टि से शुद्धता नव आत्मा में है, पर वह विकसित कितना है यही मूल्यवान है, प्रेक्षणीय है । अकलक देव ने राजवार्तिक के प्रारम्भ में ही कहा है 'हत ज्ञान क्रियाहीन' । ज्ञान है और क्रिया नहीं तो वह ज्ञान व्यर्थ है और यदि क्रिया है पर ज्ञान नहीं तो वह क्रिया भी निरर्थक है । उन्होंने दृष्टान्त दिया है कि जैसे एक मकान में आग लग गई । एक सूरदास वहाँ बैठा है, वह उससे बचने के लिये भागता है क्रिया करता है, पर उसको किस दिशा में जाना चाहिये इसका ज्ञान नहीं है तो वह वही पर घूमता रहता है और जल जाता है । दूसरा व्यक्ति वहाँ पगु है । वह देख रहा है कि आग लग गई, उसे ज्ञान है कि किम दिशा में जाने से बचा जा सकता है, पर वह क्रिया नहीं कर सक रहा इसलिये वह भी जल जाता है । यदि दोनों का संयोग हो जाये, दोनों को एक दूसरे का सहारा हो तो वे बच सकते हैं, अर्थात् क्रिया व ज्ञान होगा तभी इष्ट की प्राप्ति हो सकती है । ज्ञान वही है जो चारित्र्य के साथ एकाकार हो ।

धर्म दो नहीं है—एक ज्ञान के लिये और एक चारित्र्य के लिए । मन्दिर में शास्त्र पढ़े कि झूठ मत बोलो और दुकान में उसका आचरण न कर झूठ बोलें तो क्या ये दोनों धर्म हैं ? यह कैसे धर्म हो सकता है ? धर्म कोई चार पंक्ति पढ़ने मात्र से या बाहरी वेश से नहीं होता, ज्ञान व चारित्र्य के संयोग से—एकता से होगा, इनमें से एक की कमी दूसरे को निरर्थक बना देती है ।

अमृत चन्द्राचार्य से किमी ने दो पंक्तियों में जैनधर्म पूछा उन्होंने बताया—

**आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव  
दान-तपो-जिन पूजा विद्यातिथय जिनधर्म ।**

—अन्तरंग मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सतत प्रज्ज्वलित करो, बहिरंग मे इसके साधन रूप मे दान—पूजा आदि करो, यही जैनधर्म है । पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि पूजापाठ सम्यक्त्व-वर्धिनी क्रियाये हैं । इसलिये कहा है कि दान-पूजा अन्तरंग कारण शुद्धि के लिये होनी चाहिये । ज्ञान थोडा सा भी हो पर वह स्वच्छ, निर्मल, यथार्थ होना चाहिये ।

ज्ञाता के तथ्य को जैसा है वैसा ही मानना चाहिये । सशय, विपर्यय-अनध्यवसाय इन तीनों से रहित ज्ञान ही सम्यक् है । सम्यक्-दर्शन-ज्ञान चारित्र ये पृथक-पृथक नहीं है । आग के तीनों गुणों (दाहकत्व, ताप और प्रकाशत्व) की भाँति ये भी अभेद अखण्ड रूप हैं केवल विवक्षा की दृष्टि से तीन हैं ।

सम्यग्दर्शन को घात करने वाली सात प्रकृतियाँ बताई—अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व । इनमे प्रथम छ को छोड़कर सातवीं सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात नहीं करती, पर वह चल, मलिन और अगाढ़ दोषों को उत्पन्न कर देती है । जैसे किसी ने व्याख्या की कि भगवान के छत्र चढाना मिथ्यात्व है । इन्द्र ने भी भगवान के मुकुट चढाया था, क्या वह भी मिथ्यात्वी था ? छत्र का चढाना सम्यग्दर्शन का अतिचार तो है पर इससे सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता । व्यवहार मे डाक्टर, वकील के पास जाने से, झूठी गवाहिया देने से सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता, पर वीतराग भगवान के छत्र चढाने से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, यह कैसी विचित्रता है ? शूद्र की, चमार की रोटी खा लेने से हम शूद्र बन जाते हैं, चमार बन जाते हैं पर हमारी रोटी खाने से कोई जैन नहीं बनता, क्यों ? इसका मतलब हमारी रोटी मे कमजोरी है ।

जैनधर्म द्वादशांग से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग इन चारों को लिये हुये हैं । छद्मस्थों के ज्ञान का केवली के ज्ञान के आगे कोई मूल्य नहीं है । 'केवली कहा सो प्रमाण, अन्यथा नहीं,' 'केवली पण्णत्तो धम्मो मंगल' हमारा मंगलमय धर्म केवली द्वारा प्रणीत है, इसे कसौटी से कसकर ही सोना खरीद सकते हैं, केवल उसके पीलेपन को देखकर खरीदे तो कभी पीतल भी धोखे से खरीद सकते हैं । दुनिया मे सब चीजें सुलभ हैं, यथार्थ ज्ञान ही दुर्लभ है । यथार्थज्ञान आत्मा मे मौजूद है । यथार्थ ज्ञानधारी तीर्थंकर की वाणी से अनन्तान्त प्राणियों का कल्याण हुआ है । टोडरमलजी ने लिखा है

कि वे तीर्थंकर मिथ्यादृष्टि पर उपकार करते हैं। सत्य है, सम्यग्दृष्टि पर वे क्या उपकार करेंगे ? उनके लिए उपकार शब्द का प्रयोग क्यों किया ? रेल में हमें कोई बैठने का स्थान दे देता है, कोई भूले हुये को रास्ता बताता है, हम उसका उपकार मानते हैं, तो उस तीर्थंकर ने आत्मकल्याण का मार्ग बताया है, तो क्या उसकी कृतज्ञता को न मानें ?

धर्म विशाल है। दृष्टि को विशाल बनाकर ही हम इसे समझ सकते हैं, सकीर्णता से नहीं। सम्यग्दर्शन किसी की वपौती नहीं है। यह प्राणी मात्र को, तिर्यच को, नारकी को, सबको हो सकता है। हम आत्मवादी हैं तभी तो हमारे आचार्यों ने 'परस्परोपग्रहो, जीवानाम्' कहा है। एक जीव दूसरे जीव का उपकार करता है। तीर्थंकर निगोदकाय के जीवों को आश्वासन देते हैं कि द्रव्यदृष्टि से तुम भी शुद्ध हो, हमारे समान हो, तुम भी मोक्ष जा सकते हो। पर हम अपने पड़ोसी के बीच की दीवार खड़ी कर लेते हैं, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है, सम्यग्दृष्टि का नहीं।

जैनधर्म के सिद्धांत सार्वभौम हैं, व्यापक हैं, प्राणीमात्र के लिये हैं, वे व्यक्ति विशेष के लिये नहीं हैं। सकीर्णता को छोड़े बिना मिथ्यादृष्टि को नहीं छोड़ सकते। वही वीतरागी बन सकता है जिसके ज्ञान में तीनों लोक के समस्त प्राणी समान हो, उनके प्रति कोई भेद-भाव, राग द्वेष न हो। सोलह कारण भावना में तीर्थंकर-प्रकृति वध के लिये समताभाव भी एक कारण है। हमारा धर्म आत्मवादी है, हम आत्मवादी हैं। हमें सब आत्माओं में समताभाव रखना चाहिये। आत्मा-आत्मा में कोई भेद नहीं है, फर्क नहीं है। श्रीमद्-राज-चन्द्र ने कहा है कि—सर्व धर्मों का आधार आत्मा है, केवल मान्यताओं में फर्क है, समझने में, विकास में, फर्क है।

ज्ञान व चारित्र्य का संयोग होगा तभी जन्म-मरण से मुक्त होंगे। एकान्त से मुक्त नहीं हो सकते। छाया, धर्म, सिद्धान्त सबके लिए कल्याणकारी होते हैं, उनमें भेद-भाव नहीं होता। वृक्ष, स्वयं के रोपण करने वाले को भी छाया देता है, स्वयं को काटने वाले को भी छाया देता है। सिद्धान्त सबके लिये उपकारी है। तीनों लोक के सब जीव शुद्ध हैं, पेड़ पौधे भी शुद्धात्मा हैं, सबमें समानता देखने पर ही हमारा कल्याण है।



# पुरुषार्थ ही मुक्ति की आधारशिला है

धर्म पर भक्ति होने मात्र से कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नहीं हो जाता, सिद्धान्त का ज्ञाता होने से पारगत नहीं हो जाता, पारगत होने से अर्थ साक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार हो जावे, यह अनिवार्य नहीं है।

आगम जैसा है, उसे वैसा ही रखो। उसमें अपना मत रखकर मिलावट करना गलत है। जिस दृष्टि से कथन किया गया है, उसी दृष्टि से उसे समझना चाहिये; उसके सन्दर्भादि का विचार न करना अज्ञानता है। ग्रंथ साधन है, साध्य तो आत्मानुभव है।

केवल दैववाद को मानना एकान्त है। मोक्ष पुरुषार्थ से ही मिलेगा।

तत्त्वज्ञान विशाल है, इसका अन्त नहीं है, इसलिये महावीर ने किसी एक तत्त्व को एकान्त रूप से, सर्वथा पूर्ण सत्य नहीं माना। पूर्ण सत्य अखण्ड है। कोई भी वाक्य आशिक सत्य को लिये हुये हो सकता है, पर पूर्ण सत्य नहीं। आचार्यों ने जो कुछ कहा उसके पीछे एक दृष्टि है। पूज्यपाद आचार्य ने लिखा है कि हे भगवान् ! आपका चरण सान्निध्य न मिले यह इतना घातक नहीं है, जितना कि गलत राह पर चलना है। यदि बालक किसी कारणवश मंदिर में देव-दर्शन के लिये नहीं जा पा रहा है तो यह इतना घातक नहीं, पर यदि वह व्यसनो आदि में, गृहीतमिथ्यात्व आदि में फस जायेगा तो यह बहुत घातक होगा। बालक धन नहीं कमाता यह तो सहन कर लिया जायेगा, पर वह दुर्व्यसनो में फस जाये यह सहन नहीं किया जायेगा। छोटा बच्चा खेलता रहता है तब मा निश्चिन्त है, पर उसको यह ध्यान रखना होता है कि वह कहीं मिट्टी न खा जाये। यहाँ एक दृष्टि विशेष से बात की जा रही

है, उपर्युक्त कथनों का तात्पर्य यह नहीं है कि वह देव-दर्शन के लिए प्रयत्न ही न करे, जावे ही नहीं, धन कमावे ही नहीं या खेले ही नहीं। चर्चा को समझते समय उनकी दृष्टि को पहचानें, उसे पूर्ण सत्य न मानें।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।  
 णादं जिणेण णियद जम्मं वा ग्रहव मरणं वा ।३२१।  
 तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेन तम्मि कालम्मि ।  
 को सक्कदि वारेदु इंदो वा तह जिणोदो वा ।३२२।

इसका अर्थ है—जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिन देव ने नियत रूप से जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकने में समर्थ है ?

परन्तु समझना यह है कि उपर्युक्त गाथा का सन्दर्भ क्या है ? इसके पूर्व की गाथा है—

भत्तोएँ पुज्जमाणो वितर देवो वि देदि जदि लच्छी ।  
 तो किं घम्मे कीरदि एवं चित्तेई सद्धिठी ।३२०।

अर्थात् लोग अर्थाकाक्षी हैं। वे चाहते हैं कि किसी भी तरह उन्हें व्रत की प्राप्ति हो। इसके लिये वे उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का विचार नहीं करते। वे चाहते हैं कि उनके इस अन्याय में देवी-देवता भी मदद करें। वरम वे देवता की पूजा करते हैं, बोल कबूल चढ़ाते हैं। यदि व्यन्तर देवी-देवता वगैरह लक्ष्मी आदिक देते हैं तो फिर वमचिरण करना व्यर्थ है।

अर्थात् "जं जस्म जम्मि . . . . . भत्तीये पुज्जमाणो" के सन्दर्भ में कहा है कि गगी-द्वेपी देवताओं के पास रोगादि में छुटकारा, वनादि की प्राप्ति के लिये जो जाते हैं, वे समझें कि इन गलत आश्रयों में कुछ नहीं होगा। गृहीत-मिथ्यात्व को हटाने के लिये 'ज जम्म जम्मि' कहा है, गृहीत-मिथ्यात्व मसार को बढाने वाला है। हमें सन्दर्भ समझना चाहिये। आचार्यों ने कहा है—

‘मणि मन्त्र तन्त्र बहू होई, मरते न बचावे कोई’ ।



इतना पढ़कर क्या हम रोगी होने पर श्रौषध सेवन नहीं करते ? क्या ममस्त पुरुषार्थ बन्द कर देते हैं ?

जैन धर्म पुरुषार्थहीन नहीं है, इसकी आधारशिला ही पुरुषार्थ है । महावीर पुरुषार्थ से कर्म श्रृंखलाओं को काटकर मुक्त हो गये । प्राय सभी दार्शनिकों ने उद्यमी होने के लिये, पुरुषार्थी बनने के लिये कहा है । पर दैववाद देखिये कि— दीपावली पर कागज की, लक्ष्मी की पूजा कर तिजोरी खोलकर बैठेंगे, सारी रात दरवाजा खुला रखेंगे । क्या इससे ही धन प्राप्त हो जायेगा ? विना पुरुषार्थ कैसे धन प्राप्त कर सकते हैं ?

‘जो होना है, वह होगा’ ऐसा विचारना पुरुषार्थहीन बनाता है । हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहिये, जो होना होगा वह हो जायेगा ।

नहीं, हमें पुरुषार्थहीन नहीं होना । जैन धर्म तो पुरुषार्थ प्रधान है । प० टोडरमलजी ने कहा है—होनहार काल लब्धि कुछ नहीं, जो होवे और जो करे सो काललब्धि है, होनहार है । जो हमने किया है, वही होनहार है, काललब्धि है ।

सोता हुआ मानव एक तो स्वयं ही जग जावे अथवा कोई उसे जगावे । आग लग रही है और कहे कि मत उठावो, इसको जब उठना होगा यह तभी उठेगा, अपने आप उठ जायेगा । क्या यह ठीक है, वह जल जायेगा ।

एकान्त को लेकर, एक ही बात को लेकर बैठना, केवल उसी को सही मानना, उसके सन्दर्भादि का विचार न करना उचित नहीं है, यह अज्ञानता का प्रतीक है । अनेकान्त व्यापक दृष्टिकोण है उसके केवल एक अंश को लेकर ही चलें, वही पूर्ण सत्य है, यह एकान्त है । उपर्युक्त ‘ज जस्स जम्मि ... ..’, गृहीतमिथ्यात्व को छुड़ाने की दृष्टि से कहा है । सारे ग्रंथ में से केवल एक बात को बिना सन्दर्भ के, उसमें निहित दृष्टिकोण के बिना मान लेना उचित नहीं है ।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहा कि—धर्म पर भक्ति होने मात्र से कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नहीं हो जाता, सिद्धान्त का ज्ञाता होने से वह पारगत नहीं हो जाता और पारगत होने से अर्थ साक्षात्कार ही जावे यह अनिवार्य नहीं है । तत्त्वचर्चा, अनुभव, स्वाध्याय, ये सब भिन्न हैं ।

एक व्यक्ति अर्थशास्त्र की बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखता है—अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञाता है किन्तु फिर भी है गरीब का गरीब, और एक व्यक्ति बहुत कम पढ़ा लिखा है, कोई बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ उसके पास नहीं हैं, पर फिर भी बहुत बड़ा उद्योगपति है। अर्थात् ग्रंथों को पढ़ने मात्र से ज्ञाता, पारंगत नहीं माना गया, इसको महत्त्व नहीं दिया गया, आत्मानुभव को महत्त्व दिया गया है। शिवभूति सेठ द्रव्यश्रुतज्ञान के बिना स्व-पर के भेद ज्ञान से मोक्ष चला गया। एक अनपढ़ व्यक्ति भक्तिभाव से पूजादि करने वाला भी सम्यग्-दृष्टि हो सकता है और अनेक ग्रंथ पढ़ने वाला प्रकाण्ड पण्डित सम्यग्दृष्टि न हो और ससार में ही भ्रमण करता रहे। अन्तरंग में मिथ्यात्व का क्षयोपशम कितना किया, यह मूल्यवान है। जैन कुल में जन्म लिया है इसलिये मोक्ष में ही जावे यह आवश्यक नहीं है। निगोद तक की आत्मा में मोक्ष में जा सकती है। जिसके जैसे परिणाम होंगे, कर्मवध होंगे वे उसे भोगने होंगे। भगवान् बाहुबलि, तीर्थंकर आदिनाथ से पूर्व मोक्ष चले गये। भगवान् आदिनाथ ने जितने जो वध किये उनको भोगने के पश्चात् ही वे मोक्ष गये।

सिद्धान्त एकान्त नहीं, तत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। केवल एक ही दृष्टि से एक ही बात को लेकर बैठ जाना कि यही ठीक है बाकी सब गलत हैं, उचित नहीं है।

धर्म कैसे होता है? आचार्य कुन्दकुन्द ने अचलिका में लिखा है—धर्म इच्छा से होता है, किसी के दबाव से किसी के भय से नहीं होता। धर्म किसी पर थोपा नहीं जा सकता। समयसार की दूसरी गाथा में यह स्पष्ट किया है कि स्व-समय में आत्मा में तू स्वयं ही निमग्न हो सकता है। कोई दूसरा उसमें निमग्न नहीं करा सकता। कोई दूसरा ज्ञान नहीं भर सकता, केवल साधन बन सकता है। शास्त्र ज्ञान जगाने के लिये हैं, वे ज्ञान भर नहीं सकते, ज्ञान स्वयं में ही प्रसून होगा और तभी सर्वज्ञ बन जायेंगे। जैसे एक अध्यापक सबको पढ़ाता है—उनमें से कोई प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है और कोई अनुत्तीर्ण हो जाता है, तो अध्यापक किसी में ज्ञान भरता नहीं है। धर्मग्रंथों में ज्ञान प्राप्त करने की विधि बताई गई है। ज्ञान साधन है, ग्रंथ भी साधन है, साध्य नहीं है, साध्य तो आत्मानुभव है। ग्रंथ में सर्वज्ञों का पूर्ण ज्ञान नहीं आ सकता। आत्मा में अनन्त ज्ञान मौजूद है, ग्रंथ में अनन्तज्ञान नहीं समा सकता। ग्रंथ तो साधन है, हम तो अनन्तज्ञान के उपासक हैं। चेहरे पर लगे काले दाग को दर्पण दिखा सकता है पर उसको साफ नहीं कर सकता, साफ स्वयं को

करना होता है। वैसे ही ग्रंथ की सहायता से आत्मा पर लगे कर्म-मैल का ज्ञान होता है उसको हटाना तो स्वयं को ही पड़ेगा।

ससार में फैल रहे एकान्त को मिटाने के लिये महावीर ने अनेकान्त दृष्टिकोण दिया। एकान्त दृष्टिकोण से मिथ्यात्व उपजता है। कथन में सापेक्षता होती है, एक दृष्टिकोण विशेष होता है। अतः उस दृष्टि से वह कथन सत्य होता है, पर उस दृष्टि से आगे पहुँच जायेंगे तो अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे। छद्मस्थ के मति, श्रुत, अत्रि एव मन पर्यय ज्ञान हो सकते हैं, पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान सर्वज्ञ को है। अनेकान्त सम्यक्त्व का मूल कारण है।

शास्त्र में जिस दृष्टि से कथन किया है, उसी दृष्टि से उसे समझना चाहिये, उसमें अपना मत रखकर उसमें मिलावट करना गलत है। सिद्धान्त अकाट्य हैं, बिना परिवर्तन के ही उनको ग्रहण करना चाहिये, तभी वे आत्म-कल्याण के कारण होंगे।

एक व्यक्ति ने औषधालय स्थापित किया। उसका एक ट्रस्ट भी बना दिया। कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। औषधालय का कार्यभार कुछ ट्रस्टियों ने सभाल लिया। कुछ समय बाद ट्रस्टियों ने सोचा कि इस ट्रस्ट से औषधालय के स्थान पर एक कॉलेज स्थापित कर लिया जाये तो अच्छा हो। सब ट्रस्टियों ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उस मृतक की पत्नी ने उन पर मुकदमा चलाया। कुछ न्यायाधीशों ने कहा कि औषधालय में परोपकार की भावना थी और कॉलेज में भी परोपकार की भावना है, अतः यह कॉलेज में परिवर्तित किया जा सकता है। पर अन्त में बैरिस्टर चम्पतरायजी ने न्यायाधीश से एक प्रश्न पूछा—ट्रस्टी मृतात्मा के भावों के रक्षक हैं, क्या ये उसमें परिवर्तन कर सकते हैं? नहीं कर सकते। इसी आधार पर वह औषधालय परिवर्तन से बच गया।

इसी प्रकार हम भी भगवान की, आचार्य की वाणी को, उसमें निहित भावों को नहीं बदल सकते, उसमें मिलावट नहीं कर सकते। कार्तिकेयानुप्रेक्षा का भावार्थ है कि आप अपना आत्मविश्वास मत खोइये, ये रागी देवी-देवता आपके रोग को ठीक कर आपको अभीष्ट की प्राप्ति नहीं करा सकते। पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि दवा आदि भी मत लो उसके लिये (रोग निवारण आदि के लिये) प्रयत्न भी मत करो? क्योंकि जो होना होगा वही होगा, फिर उपशम, क्षयोपशम काहे के लिये हैं? कर्म उपशम कैसे हो सकता

है ? प्रयत्न करने से रोग मुक्त भी होते हैं । सर्वथा एकान्त नहीं चल सकता । आगम में फेर-बदल नहीं कर सकते, उसकी शुद्धता बनाई रखनी होगी, भगवान की, आचार्यों की वाणी में मिलावट करने का किसी को अधिकार नहीं है । मिलावट से सब वस्तुएँ विगड़ जाती हैं । पेट्रोल में मिलावट कर देते हैं तो गाड़ी खराब हो जाती है । आगम में मिलावट नहीं चल सकती । आचार्य समन्तभद्र ने कहा कि 'यथातथ्य' आगम जैसा है उसे वैसा ही रखो । कार्ति-केयानुप्रेक्षा की ये कारिकाएँ गृहीतमिथ्यात्व छुड़ाने के लिये कही गई हैं । इसी को सार्वभौम न मानें ।

भवितव्य निश्चित है तो पुरुषार्थ क्यों करते हो ? भगवान् देख रहा है ऐसा ही होगा, इतना विश्वास हो तो सबके प्रति समताभाव उत्पन्न हो जाना चाहिये, अनुकूल-प्रतिकूल में तटस्थ रहना चाहिये । फिर मन्दिर, पूजा, स्वाध्याय, व्रत, नियम काहे के लिये करते हैं ? फिर भी यही विश्वास रखो कि भगवान् देख रहे हैं, हमारा भवितव्य निश्चित है । वे देख रहे हैं वैसा ही होना है या जैसा होना है वैसा ही वे देख रहे हैं ? हमारी पर्याय हमारे में है, उनकी पर्याय उनमें है । हमारा ज्ञान हम में है, उनका ज्ञान उनमें है । भगवान् देख रहे हैं इसलिये वैसा ही होगा हठवाद है, आग्रहवाद है । वीतराग भगवान् के मार्ग में हठ, आग्रह नहीं चलता । भगवान् ने तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का मार्ग दिया है, एक दृष्टि दी है इसका स्वाद आत्मानुभूति से मिलेगा । शास्त्र आदि से तो दृष्टि मिलती है । आत्मा की उपलब्धि के लिये स्वयं पुरुषार्थ करना होगा । पुरुषार्थ चार हैं । धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष । अर्थ व काम तो व्यावहारिक हैं, मोक्ष ही लक्ष्य है । धर्म आत्मा में है वह बाहर नहीं है, वही उसे प्रकट करना है । तुल्य-मास भिन्न है इससे एक व्यक्ति मोक्ष चला गया, पर यह अपवाद है, सार्वभौम नहीं हो सकता ।

थर्मामीटर, बुखार कितना है यह बता देता है, पर वह बुखार उतार नहीं सकता, उसे दवा देकर कुछ प्रयत्न करके उतारना है या नहीं ? भगवान् जान रहे हैं, क्या इससे हमारा भव-रोग निवारण हो जायेगा ? हमारा भव-रोग निवारण अपनी आत्मिक शक्ति से, स्व चारित्र से होगा । इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र को जानें व स्वयं में प्रकट करें । यही मुक्ति का मार्ग है, दूसरा नहीं है, दूसरे एक दृष्टिकोण से, एक अपेक्षा से कहे गये हैं इसलिये आशिक हैं ।

आत्मा की अनुभूति निखिलोपमा रहित है । सर्वज्ञ की उपमा सर्वज्ञ ही है, किसी भी वस्तु से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती ।

उसकी उपमा को जानने के लिये स्वयं को सर्वज्ञ बनना होगा । अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—यह गिनना कि महावीर मोक्ष गये, पार्श्वनाथ मोक्ष गये, ठीक है, पर तुमने स्वयं के लिये क्या किया, यह बताओ ? तुम अकारण ही (ससार के) इस कोलाहल में पड़े हो, विराम में पड़ो, अभ्यास करो, चारित्र्य में रमो । मोक्ष में जाने वालों की संख्या गिनने से ही कुछ नहीं होगा, स्वयं भी क्रिया करो, स्वयं को खोजो, स्वयं का अनुभव करो तभी मोक्ष मिलेगा । यह सोचकर कि भवितव्य निश्चित है, हो जायेगा, बैठे रहे तो कुछ नहीं होने वाला है । मैं पुनः ५० टोडरमलजी के विचार दोहराता हूँ—“होनहार, काललब्धि कुछ नहीं होवे, जो करे सोही काललब्धि है, होनहार है ।” उन्होंने सोने वालों को जगाया, कहा—कुछ करो, जो करोगे वही होनहार है । यह धर्म पुरुषार्थवादी है, दैववाद तो आशिक है । पुरुषार्थ से इस देश को आजाद किया गया है । आत्मा को भी पुरुषार्थ से ही कर्मों से मुक्त, आजाद कर सकते हैं ।

नियतिवाद, क्रमवद्धपर्याय व दैववाद में कोई अन्तर नहीं है । केवल दैववाद को मानना एकान्त है, पुरुषार्थ को नकारना है । मोक्ष पुरुषार्थ से ही मिलेगा ।

---

मोक्षमार्ग में विहार कर—

मोक्खँपहे अण्णाण ठवेहि चेदयहि भाहि त चेव ।  
तत्थेव बिहर णिच्चं मा बिहरसु अण्णदव्वेसु ।४२१।

‘समयसार’

अर्थ—(हे भव्य) मोक्ष-पथ में अपनी आत्मा को तू स्थापित कर, उसी का अनुभव कर और उसी का ध्यान कर, वही पर सदा विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ।

---

## देह विनाशी, मैं अविनाशी

अनेकान्त, स्याद्वाद के विना मनुष्य की दृष्टि विशाल नहीं बन सकती । तत्त्व के मूल में पहुँचकर उसकी गहराई को समझने से ही सकीर्णता दूर होती है ।

धर्म में कोई विभाजन नहीं है । स्वयं की दृष्टि में दोष होने से विभाजन होता है । समस्त आत्माओं को जो समता भाव से देखता है, वही सम्यग्दृष्टि है । वह सदैव उदार होता है ।

ससार में अनन्त आत्माएँ हैं, पर वे किसी के आशीर्वाद से मुक्त नहीं हो सकती, उसके लिये पुरुषार्थ करना होगा ।

रूढ़िवादी मत बनो । अप्रमत्त होवो । भावपूजा को महत्त्व दो । मूर्ति साधन है—आत्मा साध्य है ।

भगवान् महावीर ने अपने समय में इस देश में बिखर रही विविध विचारधाराओं को एक माला में पिरोया, उसके लिये 'अनेकान्त' के नाम से एक सुन्दर सिद्धान्त दुनिया को दिया । दुनिया के सिद्धान्तों में परस्पर टकराव उत्पन्न न हो, इसके लिये यह अनुपम सिद्धान्त है । हम जिसको वस्त्र कहते हैं, उस वस्त्र में कोई कमीज बनाली जाती है, उसे कमीज कहने लगते हैं, उससे पानी छानने लगते हैं तो छन्ना कहते हैं, उसमें से ही टोपी, रुमाल न जाने क्या क्या कहने लगते हैं । तो वह चीज कपड़ा है, छन्ना है या टोपी है, वह है क्या ? मिल में निर्मित थान के टुकड़े हुये और उसके नाम बदलने लगे, पर फिर भी सब कपड़े हैं, समानता सबमें है । इसी प्रकार चौरासी लाख योनियों के जीवों में चीटी, हाथी, घोड़ा, जैन, मुसलमान, ये सब जीव-जाति के विभिन्न

रूप हैं, पर सब चैतन्यगुण युक्त है, पृथक् स्वतन्त्र सत्ता लिये हुये है, पर गुण समान हैं, उनके चैतन्य में कोई अन्तर नहीं है ।

महावीर ने एकांतो को गूंथकर अनेकान्त की माला बनाई । ससार में अनन्त आत्मायें हैं, वे अपने द्रव्यगुण पर्याय सहित अपनी स्वतन्त्र सत्ता लिये हुये हैं, पर चैतन्य तो सबमें है । जीवमात्र में दर्शन-ज्ञान चारित्र्य है, पर कहीं वे मिथ्या तो नहीं यह जाचकरना है, जिससे मिथ्यादृष्टि बनकर चौरासी लाख योनियों में न भटकना पड़े । महावीर ने बताया कि यदि विपरीत श्रद्धान, विपरीत ज्ञान व विपरीत आचरण है तो मिथ्या-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है और ससार में भ्रमण का कारण है—मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि ससारमार्गं । यदि श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र्य सही है, यथार्थ है, तो सम्यक् दर्शन-ज्ञान व चारित्र्य है और यह मोक्षमार्ग है । कोई गलत रास्ते जा रहा हो और उसे कोई सही रास्ता बतादे, वैसे ही महावीर ने मिथ्या रास्ते जाने वाले को सम्यक् राह बताया, सही मार्ग बताया । साथ ही यह भी बताया कि मोक्षमार्ग में जाने का ही मार्ग है, पुन लौट कर आने का मार्ग नहीं है, यह एक तरफा है, One way है, क्योंकि सिद्धालय जाकर लौट नहीं सकते । इस प्रकार महावीर ने कहा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्ष मार्ग है, एक बोर्ड लगाया कि मोक्ष का एक तरफा रास्ता है, परिनिर्वाण का बोर्ड लगाया । निर्वाण तो मृत्यु को भी कहते हैं, पर परिनिर्वाण मोक्ष को कहते हैं और मुक्तात्मा कभी ससार में लौट कर नहीं आ सकती । तीसरा बोर्ड ससार में, चतुर्गति में लगाया कि यहाँ आवागमन है, अर्थात् यहाँ आ भी सकते हैं, यहाँ से जा भी सकते हैं, घूम भी सकते हैं । जन्म-मरण किसका ? आत्मा तो अजर-अमर है, वह न जन्मता है, न मरता है, यह द्रव्यदृष्टि से सत्य है, पर जन्म-मरण शारीरिक धर्म है । शरीर जन्मता है, शरीर मरता है, यह व्यवहारदृष्टि है, जन्म-मरण शरीर से संबंधित हैं ।

गौतमबुद्ध के कुछ शिष्य धर्म प्रचार के लिये विदेश जा रहे थे । बुद्ध ने उनसे पूछा—तुम्हें वहाँ कोई चाटा मार देगा तो तुम क्या करोगे ? शिष्य ने उत्तर दिया—सोचूँगा चोट तो नहीं आई । बुद्ध ने कहा—चोट आएगी तो क्या करोगे ? तो हम समझेंगे हमारी हड्डी तो नहीं टूटी, शिष्य ने कहा । बुद्ध ने फिर पूछा—हड्डी टूट गई तो क्या करोगे ? सोचूँगा जान तो नहीं गई । फिर पूछा—यदि जान ले लेंगे तो क्या करोगे ? शिष्य ने जवाब दिया—वे मेरी आत्मा का तो नाश नहीं कर सकते, जान चली जाये पर धर्म प्रचार

करता रहूँगा, यह नहीं छोड़ूँगा । निष्कलक ने धर्म के लिये सिर कटवा दिया पर धर्म नहीं छोड़ा ।

भगवान् महावीर ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एक नया शब्द दिया 'उपयोग' । समस्त आत्मा में उपयोग मौजूद है जो चैतन्य है, आत्मा है उसके उपयोग है । चैतन्य व उपयोग, आत्मा के मूल लक्षण हैं । इसके दो उपलक्षण हैं—ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग । देखने की ओर उपयोग लगाना दर्शनोपयोग है व उसको मन, वचन, काय से एकाग्र होकर जानना ज्ञानोपयोग है । दर्शन (देखना) निराकार है और ज्ञान साकार है, आकार सहित है । छद्मस्थ का ज्ञान अल्प है, सीमित है, मर्यादित है । अतः वह सप्तमगी नय, अनेकान्त का आश्रय लेता है । जो तैरना नहीं जानते, वे नाव का आश्रय लेते हैं । अनेकान्त म्याद्वाद के आश्रय के बिना मनुष्य की दृष्टि विशाल नहीं बन सकती । दृष्टि तो सबके पास है, पर वह सम्यक् भी हो सकती है व मिथ्या भी हो सकती है । जिसकी दृष्टि में सकीर्णता नहीं है, समस्त ससार की आत्माओं को समता भाव से चैतन्य देखता है, वही सम्यग्दृष्टि है ।

महावीर की दृष्टि में जीवमात्र के प्रति समता भाव था, किसी के प्रति भेद-भाव नहीं था । उन्होंने पशु-पक्षी, गरीब-अमीर सबको उपदेश दिया । राम ने शूद्र कन्या श्वरी का आतिथ्य स्वीकार किया, उसके घर में फल खाये । क्या फल में श्वरी घुस गई थी ? वास्तव में जो तत्त्व के मूल में पहुँचता है, उसकी गहराई को समझता है, तो सकीर्णता दूर हो जाती है । दुनिया में कोई वस्तु शुद्ध नहीं है पर यदि द्रव्यदृष्टि से बात करें तो सभी शुद्ध हैं । पवित्रता की क्या बात करें ? गंगा नदी में मेढक-मछलियाँ रहते हैं, वहाँ वे खाते-पीते हैं, मल-मूत्र भी त्यागते हैं, उसी जल को पवित्र मानकर, मंत्रोच्चारण के साथ अभिषेक करते हैं व गदोवक के रूप में सिर पर चढ़ाते हैं । मंत्र के द्वारा वह शुद्ध मान लिया जाता है । धर्म सहज है पर हम उसको जटिल बनाते गये । एक ओर तो कहा कि 'अपवित्रो पवित्रो वा' ... अर्थात् सोने, उठते, बैठते अपवित्र स्थिति में भी, रेल में, श्मशान में, कहीं भी, किसी भी स्थिति में अन्तरंग में भगवान का स्मरण करो, इससे पाप नष्ट होंगे और दूसरी ओर वर्जनाएँ भी लगा दी कि इसको छूने ही धर्म डूब जायेगा । बड़ी विचित्रता है । व्यवहार में तो अनेक भेद हैं वे चलते रहेंगे । बाहरी भेदों को कोई नहीं मिटा सकता । हमें तो आत्मा की ओर देखना चाहिये, व्यावहारिक भेदों की ओर नहीं । दुनिया में असख्यात परिपाटियाँ हैं, वे चलती रहेंगी,



उन्हे कोई नहीं रोक सका, पर हमें तो यह देखना है कि आत्मा-परमात्मा कैसे बने ? व्यावहारिक जीवन में रहन-सहन, कानून, वेशभूषा, व्यापार के तौर-तरीके में न उलझें, ये सब परिवर्तित होते रहने हैं, पर धर्म कभी नहीं बदला । अग्नि ने कभी भी अपना दाहकत्व धर्म नहीं छोड़ा, न बदला । आत्मा का धर्म भी अपरिवर्तनीय है, जो भव्य उसे धारण करेगा अवश्य परमात्मा बनेगा । पशु भी सम्यग्दृष्टि बन सकता है । दुनिया के किसी धर्म ने पशु को अजरता-अमरता का सिद्धान्त नहीं दिया, पर जैन धर्म के अनुसार निगोदकाय के जीव भी पुरुषार्थ में, काल-लब्धि से मोक्ष जा सकते हैं । निगोदकाय का जीव (ज्ञानादि की दृष्टि से) पवित्र जीव है और सिद्धालय के जीव सबसे उत्कृष्ट कोटि के जीव हैं, उनसे बढ़कर कोई शुद्ध व ज्ञानी नहीं । ध्वला, गोम्मटमार में कहा है कि द्रव्यदृष्टि से सब शुद्ध है, निगोदकाय में भी पूर्ण सभावना देखी है । ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना में तीन भेद हैं दो इन्द्रिय में कर्म चेतना प्रारंभ होती है, चतुर्थ गुणस्थान वाले के चेतना होती है जो चौदहवें गुणस्थान तक रहती है । हम कर्म फल चेतना में ही मग्न हैं । एक ओर तो निगोदकाय में भी मुक्त होने की सभावना देखे और दूसरी ओर सकीर्णता रखे कि मेरे पास आते हो तो सम्यग्दृष्टि हो और दूसरे के पाम जाते हो तो मिथ्यादृष्टि हो । धर्म में यह कैसी गुलामी ?

स्वयं की दृष्टि में दोष होने से विभाजन होता है । धर्म में कोई विभाजन नहीं है । महावीर ने प्राणीमात्र के उद्धार के लिये मार्ग बताया । प्रत्येक मुक्तात्मा ने ऐसा ही बताया है, चाहे महावीर हो, चाहे राम हो । राम ने शूद्र शवरी का आतिथ्य स्वीकार किया और उसे अजर-अमर होने का आशीर्वाद दिया फिर कैसे धर्म में स्त्री को नीचा माना जा सकता है ?

हमारे शास्त्र, पुराण व विचार बिखरे हुये हैं उन्हें अनेकान्त दृष्टि से देखना है, अनेकान्त की अनेक खिडकियाँ हैं, जिसमें सबको आने के लिये रास्ता है । अनेकान्त सिद्धान्त में दुनिया के सब सिद्धान्त समा जाते हैं, जैसे समुद्र में सब नदियाँ ममा जाती हैं । सब सिद्धान्त, तत्त्व समझाने के कारण तो महावीर सर्वज्ञ हैं । यह सर्वज्ञ के द्वारा अनुभूति के आधार पर दिया हुआ सिद्धान्त है । अनेकान्त की दूरदर्शिता से ही हमारे मतभेद दूर हो सकते हैं ।

ससार में अनन्त आत्माएँ हैं पर वे किसी के आशीर्वाद से मुक्त नहीं हो सकती । उसके लिये स्वयं को पुरुषार्थ करना होगा, महावीर ने, तीर्थंकरों ने

मार्ग बता दिया । वे पतितोद्धारक है, इस अर्थ में नहीं कि हम पाप करें, और वे उन्हें छोड़ें, अपितु इस अर्थ में कि उन्होंने उद्धार का मार्ग बताया है, आत्मा के परमात्मा बनने की विधि बताई । मुक्त होने के लिये स्वयं को तप करना होगा । स्वयं के तप के बिना मुक्ति ऐसे ही है जैसे कि भोजन पत्नी करे और भूख पति की भी मिट जाये । पुत्र रोगी है, पिता औषध सेवन करे और रोगी पुत्र स्वस्थ हो जावे । क्या ऐसा संभव है ? यदि ऐसा संभव होगा तो हम भी मान लेंगे कि कोई तप करके आपको परमात्मा बना सकता है, पर ऐसा न हुआ, न हो सकता है, यह असंभव है । अजर-अमर होने के लिये स्वयं को तप करना होगा । इसलिये रूढ़िवादी न बनो ।

समन्तभद्र स्वामी ने कहा कि—ये पुराने हैं इसलिये श्रेष्ठ है और ये नये हैं इसलिये व्यर्थ हैं, यह दृष्टि गलत है । सत्य त्रिकालबाधित है । रूढ़िवादी मत बनो, हमारे वजुर्ग ऐसा करते थे इसलिये हम भी ऐसा करेंगे, नहीं । व्यवहार से, शास्त्र से भी मेल बैठता है या नहीं, यह भी देखो । इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने आगे कहा कि—मैं केवल नये को या केवल पुराने को नहीं कहूंगा, मैं सत्य को कहूंगा जो त्रिकालबाधित है । सत्य से जाच-परख करनी चाहिये ।

भगवान् महावीर ने जो सिद्धान्त बताये वे उदार दृष्टि को लिये हुये हैं । सम्यग्दृष्टि में सकीर्णता होती ही नहीं, वह तो उदारदृष्टि होता है । यद्यपि सकीर्णता का पूर्ण उच्छेद वीतराग भगवान् में ही संभव है, परन्तु फिर भी सम्यग्दृष्टि की दृष्टि विकसित होती है, इसलिये रूढ़िवाद को समाप्त करना चाहिये ।

समाज, राष्ट्र, परिवार सबमें रूढ़िवाद घुस रहा है । काल के अनुसार रीति-रिवाज बदलते जाते हैं, ये शाश्वत नहीं हैं । आध्यात्म शाश्वत है । हम किसी रूढ़िवाद को लेकर न चलें । मन्दिरों में धूप दशमी को धूप खेने का रिवाज है । बिना सोचे-समझे, अग्नि है या नहीं, रात में खेना चाहिये या नहीं, इन पर विचार न कर केवल धूप खेने से कोई तात्पर्य नहीं है । आज सर्वत्र विकृतियां घुस आई हैं । उस विकृति में प्रमाद से बचने के लिये प्रतिक्रमण है । महावीर ने गौतम गणधर को कहा कि—अप्रमत्त होवो । विधि विधान को जानकर ही क्रिया करनी चाहिये । प्रारम्भ में परम्परा बहुत पवित्र विचार के साथ प्रारम्भ की जाती है, पर धीरे धीरे सब में विकृतियां घुस जाती हैं । क्या केवल भेट-चढ़ावे से ही आत्मा में शुद्धता आती है ? तब तो सारे

अमीर धर्मात्मा हो जायेंगे और गरीब नहीं हो पायेगा । ऐसा नहीं है, जैनधर्म तो अन्तरंग विशुद्ध की ओर दृष्टि रखता है, यह भक्ति प्रधान है । मुनि के पास चढ़ाने के लिये कुछ नहीं होना । मुनि के लिए कहा है कि—

तनुजिनमदिर, मनकमलासन, त्यावरीचिन्मयतुग,

यज जिनपद कमलनि सग ।

ज्ञानगगाजलि क्षालोनिनिर्मल, सचितपातकभग

यज जिनपद कमल नि सग ॥

हे तपस्वी ! तेरा शरीर ही मंदिर है, उसमें मन वेदी है और मन पर बैठा तेरा आत्मा परमात्मा है । उसको ज्ञान रूपी गगाजल से प्रक्षालित करो । इसी से सब पाप नष्ट हो जायेंगे । अतः आप सब भी द्रव्यपूजा के साथ साथ भावपूजा भी करें । प्रक्षाल करते करते उम्र बीत गई । भगवान की प्रक्षाल के साथ अपनी प्रक्षाल भी तो करो । प्रक्षाल किमके लिये करना है, स्वयं की जय के लिये ही तो करना है । भावपूजा की ओर अधिक लक्ष्य देना होगा, तभी मन एकाग्र होगा । अर्ध चढ़ाकर एक क्षण के लिये एकाग्र होकर सींचो कि मन ही मंदिर है । विव तो साधन है । केवल जिनविव के दर्शन से ही पाप नष्ट नहीं होंगे, जब स्व-आत्मा के दर्शन होंगे, तब सब पाप-पुण्य नष्ट हो जायेंगे । केवल बहिरंग पूजादि से पाप नाश नहीं होते । ये तो साधन हैं, आत्मा साध्य है ।

केवल कागज के पन्ने पलटने से सविधान बदल देने से देश का उद्धार नहीं हो सकता । जब सविधान बनाने वाले उसका पूर्ण रूप से पालन करें और जनता भी पालन करे तब देश का उद्धार हो सकता है । इसलिये केवल पन्ने पलटने से, द्रव्य पूजा करने से उद्धार नहीं हो सकता, भावपूजा की ओर ध्यान देना होगा । शास्त्रों में लिखा है कि पूजा-भावपूजा को महत्त्व दें । हमें परिणामों की शुद्धि पर भी ध्यान रखना चाहिये । साधन रूप से जो विधियाँ हैं उनका पालन करना चाहिये, पर उन विधियों को ही सब कुछ न मान लेना चाहिये, वह तो साधन है । सीढ़ी ऊपर चढ़ने का साधन है, पर उसकी पूजा नहीं करते । रूढ़िवाद से मुक्त होना चाहिये । कवि कालिदास ने भी कहा है कि यह पुराना है, इसलिये श्रेष्ठ है, यह नहीं, वह सत्य है या नहीं यह देखो । पुराना श्रेष्ठ है तो डाकू-चोरो की परम्परा भी बहुत पुरानी है, क्या वे भी श्रेष्ठ हैं ? नये होने मात्र से कोई खराब नहीं हैं, उनमें निहित सत्य को खोजो ।



## यह राग आग दहे सदा....

जितना समय अपनी आत्मा के लिये दिया, स्व-समय में डूबे, वह समय मंगल है, शुभ है, वह समय ही अपना है, बाकी सब पर समय है, यही समयसार है ।

धर्म त्रिकालावाधित है । जैनधर्म का शरीर से नहीं, आत्मा व ज्ञान से सम्बन्ध है । वीतराग भगवान् की वाणी का एक शब्द भी अर्थ और भाव सहित याद करे, तो हम स्वयं एक ग्रंथ बन जायें ।

पराई वस्तु है, यह जानकर जो उसे त्याग देते हैं वे जानी हैं और जो अन्दर में बैठे राग-द्वेषादि हैं, उनको पर-द्रव्य जानकर त्याग देता है—वह ही सम्यक्जानी है । पर-द्रव्य बाहर ही नहीं है, अन्तर में भी राग-द्वेष रूप में बैठे हैं ।

प० दौलतरामजी ने छहटाला में कहा है—

“जे पूरव शिव गये, जाहि अब आगे जै हैं ।

सो सब महिमा ज्ञान तनी मुनिनाथ कहे हैं ॥”

अर्थात् मैं जो बता रहा हूँ वह अपनी ओर से नहीं बता रहा हूँ, ये सब मुनिराज, तीर्थंकरों ने कहा है, वही बता रहा हूँ । यह सब उनके ज्ञान की महिमा है । ज्ञान की महिमा ही अलग है । ज्ञान-ध्यान में आना बड़ा कठिन है ।

यूरोप खंड में एक घटना घटी । सी० आर्ड० डी० अधिकारियों ने

राज्याधिकारियों को लिखा कि पड़ौसी राज्य सत्ता रहा है, अपने यहाँ कितने टैंक हैं, यह बतावे। उन्होंने पता करके बता दिया कि पचास टैंक हैं। इस सूचना के आधार पर उन्होंने विचार-विनिमय कर उस पड़ौसी राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु हार गये। क्योंकि उनके पास युद्ध के इतने टैंक नहीं थे, वे तो पानी के टैंकों की गिनती बता गये थे। शब्द के कारण भ्रम हो गया। इसलिये धवला में आचार्य ने लिखा है—‘अल्पाक्षरोऽसदिग्ध’, अर्थात् तथ्य अल्प अक्षर वाला संक्षिप्त होना चाहिये और असदिग्ध होना चाहिये। हमारी आत्मा में कर्मशत्रुओं को जीतने के लिये कितनी शक्ति है, हमें इसका ज्ञान नहीं। इसलिये हम उन पर आज तक विजय प्राप्त नहीं कर सके।

प्रत्येक क्रिया होती तो ज्ञान के आधार से ही है। हिंसादि के लिये अस्त्र-शस्त्र भी ज्ञान के आधार से ही बनते हैं, पर वे कुमति और कुश्रुत ज्ञान है। कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये सुमति और सुश्रुत होना चाहिये। जैसे वृक्ष, बिना किसी भेदभाव के समान रूप से सबको छाया प्रदान करता है, वैसे ही सत् पुरुष भी सब को समान रूप से ज्ञान-उपदेश देता है, कौन कितना ग्रहण करता है, यह लेने वाले की पात्रता पर निर्भर करता है।

जीवन में अनेक मोड़ आते हैं, उनके अनुसार मनुष्य मुड़ता चला जाता है, ऐसे में भी जो धर्म नहीं छोड़ता वह महान् है। मारथी रथ की लगाम पकड़े रहता है वह रथ को मार्ग से डधर-उधर नहीं जाने देता, मार्ग पर ही चलाता है, अन्यथा दुर्घटना हो जाये। इसलिये हमें भी अपने आचरण पर सम्यग्ज्ञान रूपी लगाम लगानी चाहिये।

समय का अर्थ आत्मा भी है, अर्वाभागी में ज्ञान भी है और व्यावहारिक दृष्टि से घटा-दिन आदि भी समय है। जितना समय अपनी आत्मा के लिये दिया, स्व-समय में डूबे, वह समय मंगल है शुभ है, वह समय ही अपना है, बाकी सब पर समय हैं, यही समयसार है। केवल शब्दों के पढ़ने से ही नहीं पढ़ने के बाद, अर्थ और ज्ञान आदि सभी पढ़ना सार्थक है। ज्ञान-रूपी समयसार यथा तथ्य होना व अनुभव में आना जरूरी है। आचार्यों ने तीन बातें बताई—(१) शब्द, (२) अर्थ व (३) ज्ञान। एक संस्कृत का छात्र है वह ‘घट’ शब्द के रूप रटता है। केवल शब्द ‘घट’ के रटने मात्र से उसने घट के शीतल जल का पान नहीं किया है। कुम्हार के घट को देखकर

उसे 'शब्द घट' का 'अर्थ' ज्ञात होता है तब वह अर्थ-घट भी जान जाता है । जब उस घट का आकारादि अन्तर में प्रतिबिम्बित हो जाये तब वह ज्ञान है । चाहे वस्तु रूप मिट जाये समाप्त हो जाये पर उसका प्रतिबिम्ब खत्म नहीं होता, तभी वह ज्ञान है । एक खोई हुई वस्तु को दस वर्ष बाद मिलने पर भी पहचान जाते हैं, क्योंकि उसका आकार प्रतिबिम्बित था ।

दो मित्र विद्यालय से घर जा रहे थे । रास्ते में किसी का पैना गिर गया था । दोनों मित्रों में से एक ने झट से उसे उठा लिया और अपने पास रखने लगा । दूसरे ने कहा इस पैना पर पहले मेरी दृष्टि गई थी, यह मुझे मिलना चाहिये । दोनों अनन्य मित्र, परन्तु एक पराई वस्तु के कारण झगडा हो गया । अध्यापक आये, उन्होंने पैना ले लिया और वापस विद्यालय लौट चले । वहाँ उन्होंने सब छात्रों को एकत्रित किया और पूछा—क्या किसी का पैना खोया है ?' एक छात्र ने कहा—हाँ खोया है । अध्यापक ने पूछा—कैसा है, उसकी क्या पहचान है, कैसा रूप-रंग है । उसने पहचान बता कर पैना ले लिया । दोनों मित्रों का झगडा भी खत्म हो गया । इस प्रकार खोई हुई वस्तु को प्रतिबिम्ब के आधार पहचान लेते हैं, तथा वस्तु को पराई समझकर त्याग देते हैं, यह ज्ञान है । आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की पैंतीसवीं गाथा में कहा है कि जो पराई वस्तु है यह जानकर उसे त्याग देते हैं वे ज्ञानी हैं और जो अन्दर में बैठे राग—द्वेषादि हैं उनको पर—द्रव्य जानकर त्याग देता है वही सम्यग्ज्ञानी है । पर—द्रव्य बाहर ही नहीं हैं, अन्तर में भी राग—द्वेष रूप में बैठे हैं । उनको छाड़ने के लिये जिन्होंने प्रयत्न किया, पुरुषार्थ किया, वे ही ज्ञानी हैं और उन्होंने ही मुक्ति प्राप्त कर ली है ।

दिल्ली में एक गोष्ठी हो रही थी, उसमें एक प्रोफेसर सा० ने कहा कि जैन वणिकवृत्ति के हैं । वे सिद्धों के पूर्व अरिहतों को नमस्कार करते हैं, (णमोकार मंत्र में), क्योंकि अरिहतों के पास समवशरण में अत्यन्त वैभव होता है, उस वैभव के कारण वे उन्हें प्रथम नमस्कार करते हैं । लाल बहादुर शास्त्री कॉलेज, दिल्ली के आचार्य श्री दामोदर शास्त्री ने इसका उत्तर दिया कि अरिहतों को इसलिये पहले नमस्कार नहीं करते कि उनके पास समवशरण में अत्यन्त वैभव होता है, अपितु अरिहत उस समवशरण में अत्यन्त वैभव होते हुये भी उससे चार अंगुल ऊपर रहते हैं, पृथक् रहते हैं । अतः उनसे यह शिक्षा लेते हुये कि हम भी, वैभव में रहते हुये भी, उसमें लिप्त न रहे इसलिये प्रथम नमस्कार करते हैं । वैभव होते हुये भी उसमें रमो

मत, उससे चिपको मत, उसके प्रति राग मत रखो, निर्लेप रहो, उसके साथ पडौमी समझकर रहो ।

हमारे किसी आचार्य ने यह नहीं माना कि धर्म किसी जाति या व्यक्ति विशेष का है, धर्म प्रत्येक आत्मा का है । निगोदकाय मे भी ज्ञान है, क्या निगोदिया जीव जैन हैं ? जैनधर्म का शरीर से नहीं, आत्मा व ज्ञान से सम्बन्ध है । धवला ग्रन्थ मे निगोदकाय को, पतित जीव को भी आशा का संदेश दिया है, अतः उन्हें पतितोद्धारक कहा ।

यदि क्षण भर भी आत्मा की दृष्टि से विचार करते हैं तो क्षण भर के लिए ही समताभाव की लहर निकलती है और शीतलता पहुँचाती है ।  
प० दौलतरामजी ने कहा है—

जग सुहित कर, सब अहित हर,  
श्रुतिमुखद सब सशय हरे ।  
भ्रम रोग हर तिनके वचन,  
मुख चन्द्र ते अमृत भरे ॥

दो मुनिराज बैठे थे । कुछ अन्य लोग भी बैठे थे । किसी ने उनसे पूछा—मुनिराज समार मे सबसे शीतल वस्तु क्या है ? वहाँ एक सेठजी भी बैठे थे, उनसे कहा कि सेठ सा० आप बताइये सबसे शीतल वस्तु क्या है ? सेठ सा० ने कहा—जेठ के महीने मे चन्दन का तेल यदि लगाया जाता है तो वह सबसे शीतल है । सेठानी ने बताया—नहीं, चन्दन का तेल शीतल नहीं है । यदि जेठ के महीने मे वसरे के मोतियों की माला पहनी जावे तो वह शीतल है । एक किसान बैठा था, उसने कहा—जेठ के महीने मे वट-वृक्ष की छांव अत्यन्त शीतल है । ब्राह्मण ने कहा—गंगा का जल अत्यन्त शीतल है । तब मुनिराज ने कहा—ये सब व्यावहारिक चीजें शरीर को शीतलता पहुँचा सकती हैं पर आत्मा को नहीं पहुँचा सकती । तीर्थंकर की वीतराग वाणी ही आत्मा को शीतलता पहुँचाने मे समर्थ है, शेष वस्तुये समर्थ ही नहीं है । इसीलिये तो कहा कि—

भ्रम रोग हर तिनके वचन, मुखचन्द्र ते अमृत भरे ।

चन्द्रमा की किरणों मे भी ऐसी शक्ति नहीं है, वे भी केवल शरीर को ही शीतलता पहुँचा सकती हैं । यदि वीतराग भगवान् की वाणी का रोज

एक शब्द भी अर्थ और भाव सहित याद करें तो हम स्वयं एक ग्रन्थ बन जायें । हमें अभीक्षण जानोपयोगी बनना चाहिये ।

हरिनारायण उपाध्याय का जीवन प्रसंग है । वे अत्यन्त गरीब थे । एक दिन बाजार में से गुजर रहे थे तो देखा कोई व्यक्ति दो अत्यन्त उपयोगी पुस्तकें बेच रहा है । इनके पास पैसे नहीं थे, उधार देने के लिये वह तैयार नहीं था । अतः कुर्त्ता गिरवी रखकर वे पुस्तकें खरीद लाये । चार-छ दिन बाद जब पैसे आये तब कुर्त्ता छुड़वा लिया । क्या हममें भी ज्ञान के प्रति इतनी लगन है ? उन्होंने कुर्त्ते को कीमती नहीं समझा, ज्ञान को कीमती समझा । हम धन रखने के लिये, सोना रखने के लिए तिजोरिया खरीदते हैं । कार के लिये गैरेज बनवाते हैं, ड्राइवर रखते हैं, पर क्या कभी एक आलमारी तत्त्वज्ञान की पुस्तकें, छहडाला, समयसार आदि के लिये रखी ? पुस्तकें रखे तो जब कभी भी समय मिले तीन-अक्षर भी यदि उसमें से पढ़ें तो वह लाभदायक ही होगा । हम ससारी-भौतिक वस्तुओं को रखते हैं, कार चलाने के लिये ड्राइवर रखते हैं तो एक विद्वान् पंडित रख धर्म के चार अक्षर नहीं पढ़ सकते ? इमीलिये समयसार में लिखा है कि प्रपच की सासारिक भोग-विलास की शिक्षा देने वाले गुरु तो घर-घर में बैठे हैं, पर आत्मा का ज्ञान सिखाने वाला नहीं मिलता ।

एक वायुयान उड़ान भरते हुये खराब हो गया । परिचारिकाओं ने घोषणा कर दी कि सुरक्षा असम्भव है । उस वायुयान में तेहत्तर व्यक्ति यात्रा कर रहे थे । घोषणा सुनते ही उनमें से जो ईसाई धर्मावलम्बी थे, उन्होंने वार्डर निकालकर प्रार्थना प्रारम्भ कर दी, मुसलमानों ने कुरान की आयतें बोलना चालू कर दिया, कोई गीता का पाठ करने लगे, पर उमी यान में जो तीन जैन व्यक्ति थे, वे कुछ भी स्मरण न कर दरवाजे की ओर देख रहे थे कि कैसे भी दरवाजा खुल जाये तो हम नीचे कूद पड़े । उनके पास न पाठ करने को कुछ था, न कुछ याद था, जिनको पढ़ने लगे, न भगवान् का नाम ही स्मरण किया । क्यों नहीं माता-पिता, गुरुजन आदि अपने वच्चों में यह संस्कार डालते कि बेटा जैसे अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं साथ रखते हो, वैसे ही एक धार्मिक पुस्तक को भी अत्यावश्यक समझकर सदैव अपने साथ रखो और उसका अध्ययन भी करो ? आप लोग जो लाखों रुपये देकर दामाद को खरीदते हैं, उसकी भौतिक-आवश्यकता की ढ़ेरो वस्तुएं देते हैं, साथ में पढ़ने के लिये एक छहडाला की पुस्तक भी दीजिये और कहिये इसको



पढ़ना, इसका भी उपयोग करना । हमने तो सदैव धन को ही महत्त्व दिया, धर्म को नहीं दिया ।

एक रुपया रास्ते में गिर गया । बहुत सारे लोग उसके मालिक बनने लगे, कहने लगे—मेरा है, मेरा है । यह सुनकर उस रुपये ने हँसकर कहा—सब लोग मुझे अपना बताते हैं, मेरा-मेरा करते हैं, पर मैंने आज तक किसी को अपना नहीं बताया । आज धन को कीमत देने से ही दहेज की कुप्रथा प्रश्रय पा रही है और वह प्रश्रय आप लोग ही दे रहे हैं और आप ही दुखी हो रहे हैं । आप लोग अपने पुत्रों को समझाये कि—यह धन शाश्वत नहीं है, दूसरे का दिया हुआ धन तुम्हारे काम नहीं आयेगा, स्वयं कमाओगे वही तुम्हारे काम आयेगा । कुरीतियाँ अज्ञान के कारण हैं । जब तक समाज में ज्ञान के प्रति रुचि नहीं होगी समाज उन्नत नहीं होगा । किसी का दिया हुआ उपयोगी नहीं हो सकता । कुएँ में कुदरती पानी न हो, प्राकृतिक स्रोत न हो, तो ऊपर से कितना पानी डाला जा सकेगा ? ऊपर से भरने वाली तो टकिया है जो खाली हो जाती है । समय का उपयोग करें, कुरीतियों को हटायें ।

समय बहुत मूल्यवान है, एक बार गया हुआ समय फिर लौटकर नहीं आता है । दुनिया में सब कुछ परिवर्तनशील है, एक धर्म ही त्रिकालाबाधित है । सूर्य प्रतिक्षण गतिशील है, किन्तु विचलित हुये बिना । सूर्य अघेरा मिटाने के लिये आगे बढ़ता है और अघेरा उसके पीछे-पीछे चलता है, दोनों का साथ अनादि है, लगता है दोनों में द्वन्द चल रहा है । हम अनन्त ससारी जीवों ने मिथ्यात्व के अघेरे को हटाने की कभी कोशिश ही नहीं की और यदि कोशिश की भी तो मिथ्यात्व ने उसे दवा दिया । शस्त्रास्त्र से कभी किसी को जीता नहीं जा सकता, दवाया जरूर जा सकता है । अपने ऊपर विजय प्राप्त करना ही, विजय है, यह विजय समता-भाव से ही प्राप्त कर सकते हैं ।

हम राग के कारण ही मसार में फस रहे हैं । 'राग आग दाह'—राग आग है, यह मानव को जर्जरित कर रहा है । इसको समाप्त करने के लिये क्षमारूपी शीतल जल ही श्रेष्ठ है । मनुष्य के विचारों में विकार उत्पन्न होते हैं, उन पर विजय प्राप्त करने का साधन धर्म ही है । राम जब चौदह वर्ष का वनवास पूर्ण कर अयोध्या लौटे तो किसी ने पूछा—राम तुम्हारी क्या इच्छा है ? राम ने कहा—

नाह रामो न मे वांछा भावेषु न च मे मन ।

शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनोयथा ॥ —योग वशिष्ठ

अर्थात्—मैं यह भौतिक शरीरधारी राम नहीं हूँ ।

सामारिक भावो मे, पदार्थो मे मेरा मन नही है । मै तो केवल शांति मे स्थित होना चाहता हूँ, जैसी शांति मे जिन भगवान् मे स्थित हैं । जब स्वदोष शान्त होंगे, तभी शान्ति प्राप्त होगी, शीतलता प्रवाहित होगी ।

मनुष्य इष्ट स्थान पर पहुँचना चाहता है, शाश्वत शान्ति चाहता है, तो उसे अपने को मोड़ लेना चाहिये । दीन हमारी आत्मा मे फस रहे कर्म व उनसे प्रभावित पर्यायें हैं, दीनानाथ हमारी आत्मा है, हमारे सब तीर्थंकरों के आगे 'नाथ' शब्द लगा हुआ है, जैसे नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, न + अथ = नाथ, अर्थात् जिमका न प्रारम्भ हैं, न अन्त है, न मव्य है और वह है आत्मा । उस आत्मत्व को प्राप्त करने का मार्ग बताने वाले तीर्थंकर 'नाथ है ।' हमारी आत्मा भी 'नाथ' है ।

जब आचार्य शान्ति सागरजी महाराज सल्लेखना लेने वाले थे, एक अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति बहुत उदास हो गया और मुनिराज से कहने लगा—मुनिराज ! अब किसकी छत्रछाया मे रहेंगे । आचार्य ने कहा—पडितजी ! मैं किसकी छत्र छाया मे हूँ ? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—आप तो धर्म की छत्र-छाया मे हैं । आचार्य ने कहा—तो आप भी धर्म की छत्र-छाया मे ही रहिये ।'

धर्म की छत्र-छाया कभी नहीं हट सकती । माता-पिता, गुरु सबकी छत्र-छाया हट जायेगी पर धर्म की कभी नहीं हट सकती । स्वयं मे रहना ही धर्म की छत्र-छाया मे रहना है, स्व छत्र-छाया मे रहना चाहिये ।

जगत् मे सम्यग्ज्ञान ही श्रेष्ठ है । जो ज्ञान दुःख को निःशेष करदे, निरस्त्र करदे, मिथ्यात्व को भगादे, वही सम्यग्ज्ञान है और सब व्यावहारिक ज्ञान है । सामान्य पुस्तको से पढा ज्ञान व्यावहारिक है, शरीर के लिये है, ज्ञान वही है । जो दुःख को दूर करदे । आचाराङ्ग नौ पूर्व के धारक को भी जानी नहीं समझा, उसके ज्ञान को कुछ महत्त्व नहीं दिया क्यो कि दुःख को, मिथ्यात्व को, दूर नहीं कर सकता है ।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि ज्ञान कष्ट साध्य है । जब दुःखों के सामने विचलित न हो, धर्म न छोड़े, तभी सम्यग्ज्ञान निखरता है । स्वर्ण के आभूषण बनाने के लिए उसे अनेक ताप दिये जाते हैं, उसी प्रकार कठोर तप तपने के बाद ही ज्ञान निखरता है । ज्ञान प्राप्ति का मार्ग तो कोई भी बता सकता है, पर ज्ञान प्राप्त कोई नहीं करा सकता, दुःख दूर नहीं कर सकता । किमी

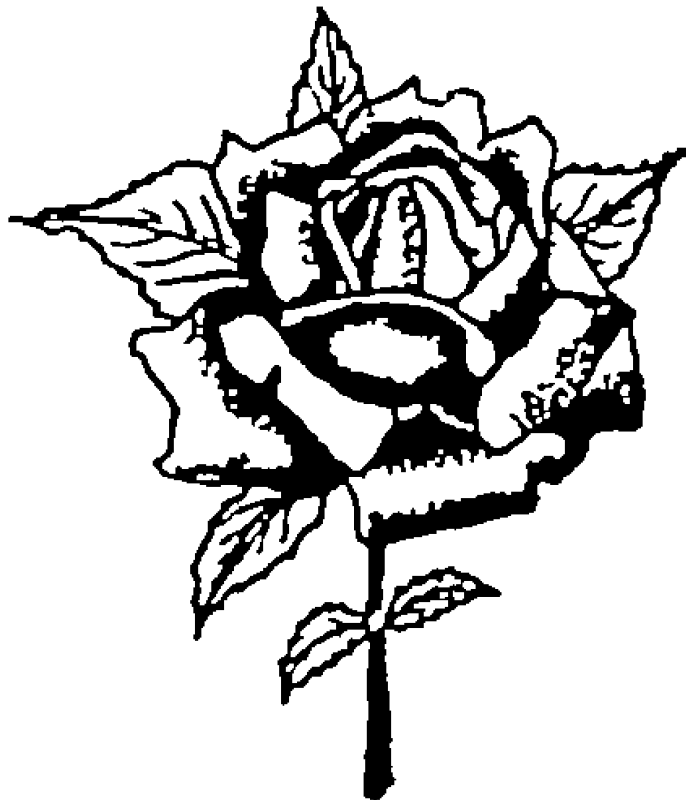
का ज्ञान हमारे लिये केवल मार्गदर्शक ही हो सकता है, पर हमारा नहीं हो सकता ।

भगवान् महावीर ने सिंह सेनापति को कहा था कि मेरी वाणी तेरा दुःख दूर नहीं कर सकती, तेरा दुःख तू ही दूर कर सकता है ।

हमें अन्तरंग से, दुःख दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये । एक बार आचार्य शान्तिसागरजी महाराज एक गाव से दूसरे गाव विहार कर रहे थे । राह में एक साधु की भोपड़ी थी । साधु द्वारा आग्रह करने पर आचार्य ने उसकी भोपड़ी में पत्थर की शिला पर बैठकर ध्यान किया । कुछ देर पश्चात् आचार्य ने वहाँ से विहार किया । राह में वह साधु अपनी भोपड़ी की प्रशंसा करने लगा—महाराज मेरी भोपड़ी बहुत अच्छी है, सुन्दर है, सब तरह से सुरक्षित है, इसमें कोई जानकर नहीं घुस सकता । इस प्रकार वह दस मिनट तक अपनी भोपड़ी के गीत गाता रहा । फिर पूछा—महाराज आपको मेरी भोपड़ी कैसी लगी ? आचार्य मुस्कराये और कहा—अरे पहले घर के गीत गाता था, अब घर छोड़ दिया, परिवार छोड़ दिया और भोपड़ी में आकर रह रहा है, अब इसके गीत गाता है, तूने क्या छोड़ा ? वह साधु वापस भागकर आया और उस भोपड़ी को आग लगा दी । भागकर पुनः आचार्य के पास कहने भागा कि कहीं महाराज मुझे रागी न समझ लें । आकर कहा महाराज मैंने भोपड़ी जला दी, बिल्कुल खाक कर दी । कुछ दूर तक साथ चला और कहा—कुछ भी कहे पर महाराज भोपड़ी थी बहुत अच्छी, वह घाम की भोपड़ी तो जल गई पर मन की भोपड़ी नहीं जली । जब तक मन का शल्य नहीं मिटायेंगे तब तक सम्यग्ज्ञान नहीं प्रकट हो सकता । इसीलिये तो कहा है कि—

धन कन कंचन राज सुख सबहीं सुलभ कर जान ।

दुर्लभ है ससार में एक यथार्थ ज्ञान ॥



## अहिंसा—आत्मसुरक्षा का अनुपम कवच

अहिंसा मंगलमय धर्म है। यह सम्प्रदाय, जाति अथवा देश की नहीं, बल्कि प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। मंगलमय जीवन-यापन के लिये धर्म के सिद्धान्त प्रेरणादायक है, उनके पीछे परम विवेक है। शांति अहिंसा से ही स्थापित हो सकती है, हिंसा से, युद्ध से, कदापि नहीं।

विज्ञान विवेक उत्पन्न करता है। विध्वंसक क्रियाये मान-कषाय के वशीभूत होकर की जाती है। अमृतमय लड्डू में यदि एक अश जहर का हो तो वह लड्डू ग्राह्य नहीं, तो वीतरागी धर्म में हिंसा का स्थान कैसे हो सकता है ?

आचार्यों ने अपने प्राकृत ग्रंथों में 'धम्मो मंगल मुक्किठ' कहा है अर्थात् धर्म मंगलमय व उत्कृष्ट है। आप शादी-विवाह या अन्य कोई व्यावहारिक शुभ कार्य करते हैं तो उसके साथ मंगल शब्द जोड़ते हैं, उन कार्यों को मंगल कहते हैं। किसी भी कार्य आदि को मंगल कहते हैं, इसका अर्थ है कि कुछ अमंगल भी होता है। रोशनी के साथ अन्धेरा भी जुड़ा रहता है, एक पक्ष के साथ दूसरा पक्ष भी रहता है। ससार में, चतुर्गति में भ्रमण करने वाले प्राणियों के जीवन में क्या कभी एक भी मंगलमय क्षण आता है ? पशु पक्षियों में मनुष्य जैसा विवेक न होने से, केवल खाने पीने का ही विवेक होने से वे मंगलमय क्षणों की अनुभूति नहीं कर सकते। आहारसन्ना, भयमन्ना व मथुनमन्ना व परिग्रह मन्ना, ये चार मन्नाये हैं, जो अमंगलमय हैं, वे इन्हीं में समय व्यतीत कर देते हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं है, वह विवेकी है। जब

वह विवेक के साथ पवित्रता से जीवन व्यतीत करने की भावना करता है तो वह धर्म-विवेकी और उसका जीवन परम मंगलमय हो जाता है ।

इस विश्व के किसी भी देश में, यदि किसी का पुत्र कारागार में बंद हो तो क्या उसके माता-पिता समझते हैं कि उनके पुत्र ने बहुत अच्छा कार्य किया है ? नहीं, लोकलाज के कारण वे घर से बाहर नहीं निकलना चाहते । अथवा किसी का पुत्र शराब पीता है तो क्या उसके माता-पिता स्वाभिमान के साथ इसका उल्लेख कर सकते हैं ? क्या वे ऐसा मान सकते हैं कि—हम ऐसे पुत्र को जन्म देकर सार्थक हुये, हमारा पुत्र कितना भाग्यवान् है, जो शराब पीकर नाली में पड़ा हुआ है ? नहीं, कदापि नहीं । जब अमंगलता को व्यावहारिक जीवन में भी स्वीकार नहीं करते, उसको ग्राह्य नहीं समझते तो धर्म में अमंगल कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? एक व्यक्ति शराब के नशे में भगडता हुआ अपना जीवन समाप्त करता है और एक व्यक्ति किसी तीर्थ क्षेत्र में भगवान् के स्मरण के साथ शरीर त्यागता है, कौनसा जीवन श्रेष्ठ रहा ? भगवान् के स्मरण के साथ तीर्थ स्थान में जीवन समाप्त करने वाला व्यक्ति स्वयं तीर्थ बन जाता है । 'धर्म' हमें उत्कृष्ट मंगलमय जीवन-यापन करने की प्रेरणा देता है । धर्म के सिद्धान्त—प्रेरणादायक सिद्धान्त हैं उनके पीछे परम-विवेक है । विवेक का ही मूल्य है । व्यवहार में भी कहते हैं—विवेक से काम करो अथवा जोश में होश (विवेक) मत खोओ ।

घनपुर पट्टी (श्रीनगर के पास एक गांव) में सस्कृत-साहित्य के महान् कवि भारवि एक भोपडी में रहते थे, पास की दूसरी भोपडी में पत्नी व बच्चे थे । कवि भारवि अपनी भोपडी में बैठे-बैठे काव्य रचना कर रहे थे । घर में खाने को कुछ नहीं था । आधी तूफान आ रहा था, उसके वेग से बच्चों की भोपडी का छप्पर उड़ गया । कवि-पत्नी भूख व प्राकृतिक कष्टों से दुःखी हो, कवि की भोपडी में गई और जाकर लड़ने लगी—आप यहाँ बैठे क्या कर रहे हैं ? कवि ने उत्तर दिया—मैं एक ग्रंथ (काव्य) लिख रहा हूँ । पत्नी ने गुस्से में भरकर कहा—क्या ग्रंथ लिखने बैठे हो ? क्या यह ग्रंथ खाने को दे देगा ? सब भूख से मर रहे हैं । कोई पेट भरने की विद्या सीखो, इस विद्या का क्या लाभ है जो पेट न भर सके । कवि भारवि ने कहा—हाँ ! यह भी पेट भर सकती है । कवि पत्नी ने कहा—अच्छा तो लाओ, ग्रन्थ का एक पत्र दो, देखूँ यह बाजार से कुछ दिला सकता है क्या ? कवि ने एक पत्र पर एक श्लोक लिखकर पत्नी को दे दिया । वह उसे लेकर एक सुनार की दुकान पर पहुँची और कहा—मैं इस श्लोक को बेचना चाहती

मकानों के सैकड़ों व्यक्ति काले भण्डे लेकर विरोध में खड़े हो गये कि जब तक ये बच्चे यहाँ से उड़ नहीं जाते तब तक हम फिनिशिंग नहीं होने देंगे, बहुत विरोध हुआ। अन्त में पुलिस को बुलवाना पड़ा। जब तक वे बच्चे बड़े होकर उड़ न गये, वहाँ पुलिस का पहरा लगा रहा। उन अमेरिका-वामियों के मन में ये अहिंसक विचार कहाँ से आये ?

चीन में दो सौ वर्ष प्राचीन एक अहिंसा का ग्रंथ है। उसमें उल्लेख है कि एक अमीर व्यक्ति यात्रा के लिये बाहर जा रहा था, उसके मूल कक्ष में एक पक्षी ने घोंसला बना लिया। उसने सोचा क्या करूँ ? बाहर निकाल देता हूँ तो ये मर जायेंगे, यदि मकान बन्द करता हूँ तो ये अन्दर ही घुटकर मर जायेंगे। कुछ सोचकर उसने एक कारीगर को बुलवाया, दीवार में एक बड़ा छिद्र करवाया, जब पक्षी उसमें से होकर आने जाने लगे तब वह ताला बन्द करके चला गया। उस व्यक्ति के मन में उन पक्षियों के प्रति करुणा उत्पन्न हुई, प्रसूत हुई, वह कहा से ?

स्पष्ट है कि अहिंसा प्रत्येक आत्मा में है, यह प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। वादिवृषभाचार्य ने सिद्धिविनिश्चय ग्रंथ में लिखा है कि कमांड भी कथंचित् अहिंसक है वह भी अपने पाले हुये पशु-पक्षियों को नहीं मारता, न मारने देता है। शेर उन्हीं दातों से, जिसमें शिकार को काट लेता है, अपने बच्चे को पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है किन्तु उसे कोई चोट नहीं पहुँचती।

मैं विश्व धर्म की जय भी इसीलिये बोलता हूँ कि अहिंसा ही विश्व धर्म है, यह प्रत्येक प्राणी में, आत्मा में विद्यमान है।

कर्नाटक वैदिक विचारधारा के कवि सर्वज्ञ ने भी अपने काव्य में लिखा है कि—किसी धर्म ग्रंथ में, हिंसा करना चाहिये ऐसा लिखा है ? यदि धर्म के नाम पर हिंसा को प्रश्रय दिया है तो वह ग्रंथ आग में जला देने लायक है और जिसमें अहिंसा के लिये लिखा है वही ग्रंथ धर्मग्रन्थ है। जैसे अमृतमय लड्डू में जहर का एक भी अणु हो तो वह ग्राह्य नहीं है, वैसे ही यदि धर्म में हिंसा को स्थान दिया तो वह सच्चा धर्म नहीं है। धर्म में हिंसा का स्थान कैसे हो सकता है ? आत्म कल्याण के वीतराग धर्म में हिंसा को स्थान नहीं है। व्यावहारिक रूप में गृहस्थों को अपनी रक्षा हेतु लाठी रखने व प्रतिक्रिया के लिये मना नहीं किया है, केवल परिपूर्ण त्यागियों के लिये कहा है कि—उपसर्ग की भी प्रतिक्रिया मत करो। जो आत्मकल्याण

की भावना से ओत-प्रोत ग्रंथ होंगे उनमें अहिंसा का ही महत्त्व होगा ।

महाभारत में एक स्थान पर चर्चा आई है कि गंगा के किनारे एक ऋषि व एक मुनि बैठे थे । दोनों अत्यन्त विद्वान् व चिन्तक थे । मुनिराज के पास जो कोई भी व्यक्ति आता उसे वे अहिंसा के पालन के लिये कहते । ऋषि को बहुत गुस्सा आया कि मुनिराज प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा के पालन के लिए कहते हैं इन्होंने क्या अहिंसा-अहिंसा लगा रखी है ? उन्होंने मुनिराज से कहा— मुनिराज ।

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक ॥

अर्थात्— जल में भी जीव है, थल में भी जीव है और आकाश में भी जीव है । लोक ही जन्तुओं (जीवों) से व्याप्त है । ऐसी स्थिति में साधु भी अहिंसक कैसे रह सकता है ?

शका का निराकरण करते हुये मुनिराज ने कहा—

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।

परिणाम-विशेषेण यथा धीवर-कर्षकौ ॥

“मछली मारने वाला धीवर प्रातः से सायंकाल तक नदी में जाल डाले प्रतीक्षा में बैठा रहता है और मछली फसाने की बात सोचता है । पर शाम तक भी उसके जाल में एक भी मछली नहीं आती । तब भी वह पाप का, हिंसा का भागी है । क्योंकि उसके परिणामों में, भावों में हिंसा व्याप्त थी । इसके विपरीत दूसरी ओर एक कृषक है, जो खेती प्राण रक्षा हेतु-भूत-कार्य के निमित्त से हल चलाता है, उसमें जीवों का घात भी होता है, फिर भी वह हिंसा का भागी नहीं होता । क्योंकि उसके भाव रक्षण के हैं, हिंसा के नहीं ।”

डाक्टर रोगी को वचाने का प्रयत्न कर रहा है, चीरा-फाड़ी कर रहा है, पर वह हिंसक नहीं है, किन्तु सड़क पर चाकू चलाने वाले के चाकू से कोई मरा नहीं तो भी वह हिंसक है, क्योंकि उसके भाव हिंसा के थे, हत्या के थे । उसके मन में दुर्भावनाएँ थी । सरकार यातायात नियंत्रक को अहिंसा के लिए तनख्वाह देती है, कि ध्यान रखो कि कहीं दो गाड़ियाँ आपस में न टकरा जावें । अहिंसा मन की दुर्घटनाओं, दुर्भावनाओं को रोकती है । मनोमालिन्य को रोकने के लिये अहिंसा ही सर्वाधिक पवित्र विचार है । अहिंसा उत्कृष्ट



। मुनार ने हँसकर कहा—अरे ! क्या कभी श्लोक भी विकता है ? मैं इसका क्या करूँगा ? दुकान पर ही मुनार के एक विद्वान् ब्राह्मण मित्र बैठे थे, उन्होंने वह पत्र हाथ में लेकर उस श्लोक को पढ़ा, पढ़कर बोले—अरे इतनी भावपूर्ण सुन्दर कारिका ! इसे तो स्वर्णाक्षरो से लिखाकर अपने घर में टाकना चाहिये । अपने विद्वान् मित्र के आग्रह से मुनार ने वह एक श्लोक हजार रुपये में खरीद लिया और अपने अन्तःपुर में टाक दिया । कुछ दिनों पश्चात् वह मुनार धन कमाने हेतु विदेश जाने लगा, घर में केवल पत्नी व दासी ही बची थी, उन्हें अच्छी तरह रहने, सभलकर रहने के निर्देश देकर, कुछ वर्षों में लौटकर आने का आश्वामन देकर वह विदेश चला गया । विदेश में उसने अपार धन कमाया । धन भी बहुत विचित्र चीज है, धन कमाने में तो मानव अपने आपको अजर-अमर समझ लेता है और धर्म के लिये समय न होने का वहाना करता है । वरमो तक विदेश में धन कमाने के बाद उसे सहसा अपने घर का व पत्नी का खयाल आया । अरे ! मैं किसके लिये इतना धन कमा रहा हूँ ? मैं व पत्नी कुल दो ही तो प्राणी हैं घर में ? वस यह सोचकर शीघ्र ही वह स्वदेश लौट आया । घर में घुमते हुये उसके मन में विचार आया कि—मैं इतने वर्षों बाद घर लौट रहा हूँ । क्या पता मेरी पत्नी का चालचलन कैसा रहा हो ? उसने चुपचाप दामी के कमरे का कुड़ा खटखटाया, सारा सामान वही पर रखकर, दामी को मौन रहने का आदेश दिया और स्वयं अपने अन्तःपुर में गया । वहाँ जाकर वह चौंक गया । पत्नी के पास एक नौजवान सोया हुआ है, तत्काल उसका हाथ तलवार तक चला गया । पर तभी उसकी दृष्टि भारवि कवि की कारिका जो अन्तःपुर में टाक रखी थी, उस पर चली गई, जिसका भावार्थ था—“जो भी कार्य करो विवेक पूर्वक व विचार करके करो तब ही गुण की, लाभ की प्राप्ति होगी । महसा मत करो महसा करने में अनिष्ट हो जायेगा ।” उसका हाथ रुक गया, पत्नी को जगाया, पूछा—यह कौन है ? पत्नी ने बताया, आप जब विदेश गये थे, उस समय मैं तीन महिने की गर्भिणी थी, यह आपका पुत्र है । मुनार कांप गया—ओह ! अभी मैं कितना अनर्थ कर बैठता । इस एक कारिका ने तीन प्राणियों की हत्या बचा दी । वन्य है वह भारवि कवि जिसकी कारिका ने मुझे बचा लिया । जब नीति काव्य की इस एक कारिका ने तीन प्राणियों को बचाया है, तो आगम, शास्त्र के, आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के वाक्य हैं वे तीन लोक के प्राणियों को बचाने में समर्थ क्यों नहीं हैं ? और उस कवि का ऋण नहीं मूल सकता । मुनार ने भारवि कवि के ग्रन्थों का खूब प्रचार किया । यदि विवेक हो तो सम्पत्ति स्वयमेव आयेगी अन्यथा वह स्वयमेव दूर हो



जायेगी । विवेक विहीन होकर कार्य करने से मानव स्वय भी मिट जायेगा, स्वय का भी अनर्थ करेगा व दूसरो का भी अनर्थ करेगा ।

भारवि कवि ने लिखा है कि—जो शासक, पंडित गुस्सा न कर शांति व विवेक के साथ कार्य किया करता है वही सफल होता है और जो आवेश में आकर कार्य करता है वह असफल होता है, दुविधाओं में फस जाता है । विवेक महत्त्वपूर्ण है । समाज में, व्यावहारिक कार्यों में इसकी बहुत आवश्यकता है । भावुकता में कुछ गलत कार्य कर बैठते हैं तो बाद में दूसरे से दया की भीख मागते हैं, पश्चाताप करते हैं । जब विवेक की इतनी महिमा है तो धर्म की कितनी महिमा होगी ? धर्म में कितनी शक्ति होगी ?

मानव जीवन में अहिंसा धर्म मंगलकारी है, धर्म हिंसक भाव उत्पन्न नहीं होने देता, किंचित् हिंसक भाव भी आत्मा को मलीन कर देते हैं । किसी के प्रति बुरे विचार पहले स्वय का बुरा, अनिष्ट कर बैठते हैं । किसी के मुंह को कालिख लगाने में पूर्व स्वय का हाथ काला होता है । मन में हिंसा विकल्प उठते ही मन व आत्मा मलिन हो जाती है । ससार में मंगलमय धर्म है तो केवल अहिंसा धर्म है । अहिंसा किसी सम्प्रदाय, जाति अथवा देश की सम्पत्ति नहीं है यह प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है ।

गांधी शताब्दी में ब्रिटेन में गांधीजी की एक मूर्ति स्थापित की गई । जिसका अनावरण वहां के प्रधान मंत्री करने लगे । तत्काल दो युवा छात्र खड़े हुये और प्रधान मंत्री से अनावरण करने के लिये मना करने लगे कि आप इस मूर्ति का अनावरण करने योग्य नहीं हो, क्योंकि गांधीजी शस्त्र विरोधी थे और आप नित्य शस्त्र बनवाते हो और बेचते हो । आपके अपवित्र हाथों से यह कार्य नहीं होना चाहिये । ये भाव उनमें कैसे उत्पन्न हुये ? उन्होंने अहिंसा का कौनसा ग्रंथ पढ़ा था ? वास्तव में अहिंसा स्वाभाविक है प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है । भगवान् महावीर ने तो उसकी सूक्ष्मता को अपने अनुभव से, केवल ज्ञान के द्वारा जान कर प्रकट किया है । मूल रूप में यह सब में विद्यमान है, पर विकास की दृष्टि से भेद हैं ।

तीन वर्ष पूर्व अमेरिका में एक भवन निर्माता ने एक विशाल भवन का निर्माण कराया । निर्माण के पश्चात् वह उसकी फिनिशिंग करवा रहा था । नीचे की एक मजिल में पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे । उनमें अनेक छोटे-छोटे बच्चे थे जो उड़ नहीं सकते थे । वह निर्माता उनके घरों को उजाड़ कर उस मजिल की भी फिनिशिंग करवाना चाहता था । किन्तु सामने के

मकानों के सैकड़ों व्यक्ति काले भण्डे लेकर विरोध में खड़े हो गये कि जब तक ये बच्चे यहाँ से उड़ नहीं जाते तब तक हम फिनिशिंग नहीं होने देंगे, बहुत विरोध हुआ। अन्त में पुलिस को बुलवाना पड़ा। जब तक वे बच्चे बड़े होकर उड़ न गये, वहाँ पुलिस का पहरा लगा रहा। उन अमेरिका-वासियों के मन में ये अहिंसक विचार कहाँ से आये ?

चीन में दो सौ वर्ष प्राचीन एक अहिंसा का ग्रंथ है। उसमें उल्लेख है कि एक अमीर व्यक्ति यात्रा के लिये बाहर जा रहा था, उसके मूल कक्ष में एक पक्षी ने घोंसला बना लिया। उसने सोचा क्या करूँ ? बाहर निकाल देता हूँ तो ये मर जायेंगे, यदि मकान बन्द करता हूँ तो ये अन्दर ही घुटकर मर जायेंगे। कुछ सोचकर उसने एक कारीगर को बुलवाया, दीवार में एक बड़ा छिद्र करवाया, जब पक्षी उसमें से होकर आने जाने लगे तब वह ताला बन्द करके चला गया। उस व्यक्ति के मन में उन पक्षियों के प्रति करुणा उत्पन्न हुई, प्रसूत हुई, वह कहा से ?

स्पष्ट है कि अहिंसा प्रत्येक आत्मा में है, यह प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। वादिवृषभाचार्य ने सिद्धिविनिश्चय ग्रंथ में लिखा है कि कसाई भी कथंचित् अहिंसक है वह भी अपने पाले हुये पशु-पक्षियों को नहीं मारता, न मारने देता है। शेर उन्हीं दातों से, जिसमें शिकार को काट लेता है, अपने बच्चे को पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है किन्तु उसे कोई चोट नहीं पहुँचती।

मैं विश्व धर्म की जय भी इसीलिये बोलता हूँ कि अहिंसा ही विश्व धर्म है, यह प्रत्येक प्राणी में, आत्मा में विद्यमान है।

कर्नाटक वैदिक विचारधारा के कवि सर्वज्ञ ने भी अपने काव्य में लिखा है कि—किसी धर्म ग्रंथ में, हिंसा करना चाहिये ऐसा लिखा है ? यदि धर्म के नाम पर हिंसा को प्रश्रय दिया है तो वह ग्रंथ आग में जला देने लायक है और जिसमें अहिंसा के लिये लिखा है वही ग्रंथ धर्मग्रन्थ है। जैसे अमृतमय लड्डू में जहर का एक भी अंश हो तो वह ग्राह्य नहीं है, वैसे ही यदि धर्म में हिंसा को स्थान दिया तो वह सच्चा धर्म नहीं है। धर्म में हिंसा का स्थान कैसे हो सकता है ? आत्म कल्याण के वीतराग धर्म में हिंसा को स्थान नहीं है। व्यावहारिक रूप में गृहस्थों को अपनी रक्षा हेतु लाठी रखने व प्रतिक्रिया के लिये मना नहीं किया है, केवल परिपूर्ण त्यागियों के लिये कहा है कि—उपसर्ग की भी प्रतिक्रिया मत करो। जो आत्मकल्याण

की भावना से ओत-प्रोत ग्रंथ होंगे उनमें अहिंसा का ही महत्त्व होगा ।

महाभारत में एक स्थान पर चर्चा आई है कि गंगा के किनारे एक ऋषि व एक मुनि बैठे थे । दोनों अत्यन्त विद्वान् व चिन्तक थे । मुनिराज के पास जो कोई भी व्यक्ति आता उसे वे अहिंसा के पालन के लिये कहते । ऋषि को बहुत गुस्सा आया कि मुनिराज प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा के पालन के लिए कहते हैं इन्होंने क्या अहिंसा-अहिंसा लगा रखी है ? उन्होंने मुनिराज से कहा— मुनिराज ।

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक ॥

अर्थात्— जल में भी जीव है, थल में भी जीव है और आकाश में भी जीव है । लोक ही जन्तुओं (जीवों) से व्याप्त है । ऐसी स्थिति में साधु भी अहिंसक कैसे रह सकता है ?

शका का निराकरण करते हुये मुनिराज ने कहा—

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।

परिणाम—विशेषण यथा धीवर—कर्षकौ ॥

“मछली मारने वाला धीवर प्रातः से सायंकाल तक नदी में जाल डाले प्रतीक्षा में बैठा रहता है और मछली फसाने की बात सोचता है । पर शाम तक भी उसके जाल में एक भी मछली नहीं आती । तब भी वह पाप का, हिंसा का भागी है । क्योंकि उसके परिणामों में, भावों में हिंसा व्याप्त थी । इसके विपरीत दूसरी ओर एक कृषक है, जो खेती प्राण रक्षा हेतु-भूत-कार्य के निमित्त से हल चलाता है, उसमें जीवों का घात भी होता है, फिर भी वह हिंसा का भागी नहीं होता । क्योंकि उसके भाव रक्षण के हैं, हिंसा के नहीं ।”

डाक्टर रोगी को वचाने का प्रयत्न कर रहा है, चीरा-फाड़ी कर रहा है, पर वह हिंसक नहीं है, किन्तु सड़क पर चाकू चलाने वाले के चाकू से कोई मरा नहीं तो भी वह हिंसक है, क्योंकि उसके भाव हिंसा के थे, हत्या के थे । उसके मन में दुर्भावनाएँ थी । सरकार यातायात नियंत्रक को अहिंसा के लिए तनख्वाह देती है, कि ध्यान रखो कि कहीं दो गाड़ियाँ आपस में न टकरा जावें । अहिंसा मन की दुर्घटनाओं, दुर्भावनाओं को रोकती है । मनोमालिन्य को रोकने के लिये अहिंसा ही सर्वाधिक पवित्र विचार है । अहिंसा उत्कृष्ट

है, मंगलमय है । शांति अहिंसा से ही स्थापित हो सकती है, युद्ध से कदापि नहीं ।

मिठाई खाते हुये, चाय पीते हुये युद्ध की बात करना, अर्थात् युद्ध से दूर रहकर युद्ध की बात रम्य लगती है 'युद्धस्य वार्ता रम्य' । पर युद्धस्थल पर जाने पर ज्ञात होता है कि युद्ध क्या है ? युद्ध में दोनों ओर की सेनाओं के नौजवान मारे जाते हैं । सोचिये, उनके परिवारों पर क्या गुजरती है ? इस विशाल विश्व की रक्षा करनी है तो समस्त स्कूलों व कॉलेजों में अहिंसा की शिक्षा देनी होगी । गुणभद्राचार्य के आत्मानुशासन में चर्चा की है कि— किसी ने पूछा—धर्म कहा है ? उत्तर मिला—धर्म मन में है, आत्मा में है ।

धर्मो वसेन्मनसि यावदल स तावद् हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽपितस्मिन् ।  
दृष्ट्वा परस्परं हतिं जनकात्मजानाम्, रक्षां ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव । २७।

जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मारने वालों को भी नहीं मारता, किन्तु देखो ! जब धर्म उसके दिल और दिमाग से निकल जाता है, तब औरों की कौन कहे, प्रिय पुत्र को पिता मार डालता है और पिता को पुत्र मार डालता है । अतः समस्त ससार को सुस्थित रखने वाला धर्म है तो वह अहिंसा है । सब महापुरुषों ने अहिंसा की शिक्षा दी है । पर हम भारतीयों ने, यदि महावीर ने, आदिनाथ ने, राम ने, कृष्ण ने अहिंसा की बात कही तो उसे कोई महत्त्व नहीं दिया, पर किसी विदेशी व्यक्ति ने या धर्म ने अहिंसा की बात कही तो उसको धन्य-धन्य कहा । जबकि भारत में घर-घर में क्षमा धर्म विद्यमान है ।

यदि हम शान्ति चाहते हैं तो अहिंसा की छत्रछाया में ही उसे प्राप्त कर सकते हैं । धवला में चर्चा है कि 'त्रस' जीव, जो त्रास से, दुःख से, भय से बचने के लिये इधर-उधर भागते रहते हैं, उनकी आत्मा (दो इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय व चार-इन्द्रिय) में भी सुरक्षा की चाह है, सुरक्षा पाने की भावना है । अर्थात् सुरक्षा, शांति प्रत्येक जीव, प्रत्येक प्राणी चाहता है । शांति से तभी जी सकते हैं जब मन में भी अहिंसा के विचार हों, अहिंसा के पालन से ही दुनिया सुरक्षित रह सकती है । आज वैज्ञानिक युग है, विज्ञान वही है जो अहिंसा को प्रोत्साहन दे, जो हिंसक भाव उत्पन्न करे, जो हिंसक कार्यवाहियाँ करवाये, वह कैसा विज्ञान है ? तोड़-फोड़, आगजनी, विध्वंस व क्षति पहुँचाने आदि की क्रियाएँ विज्ञान सम्मत है या अज्ञान सम्मत । वस्तुतः विध्वंसक कार्य, विज्ञान के परिणाम नहीं हैं, विज्ञान तो विवेक उत्पन्न करता है, विध्वंसक क्रियाएँ तो मान-कपाय के वशीभूत होकर की जाती हैं ।

व्यवहारतः. परिवार की सुरक्षा के लिए व्यक्ति की सुरक्षा के लिए, प्राणी मात्र की सुरक्षा के लिये अहिंसा की आवश्यकता है। इस विशाल विश्व को युद्ध की विभिषिका से केवल अहिंसा के माध्यम से ही बचाया जा सकता है। एक ओर तो हम बड़े-बड़े चिकित्सालय खोल रहे हैं, असाध्य रोगों पर भी खोज कर रहे हैं, उनसे बचाने के उपाय ढूँढ लेना चाह रहे हैं, उनके लिए अथक प्रयास कर रहे हैं, रोगी के अन्तिम क्षण तक उस रोग से जूझते हैं और दूसरी ओर अत्यन्त विध्वंसक शस्त्रों का निर्माण करते चले जा रहे हैं। कैसी विडम्बना है ? इसलिये महावीर ने कहा—हिंसा को मन में विचार रूप में उत्पन्न मत होने दो। इस अहिंसा से गांधीजी ने देश को आजादी दिलवायी। कल गणतंत्र दिवस है। राष्ट्र कवि दिनकरजी ने अपने 'वैशाली अभिनन्दन' ग्रंथ में बताया है कि वैशाली, महावीर की जन्मस्थली ही गणतंत्र की जननी है। महावीर के जन्म के समय वहाँ गणतंत्र शासन प्रणाली थी। उन्होंने अपने काव्य में लिखा है।

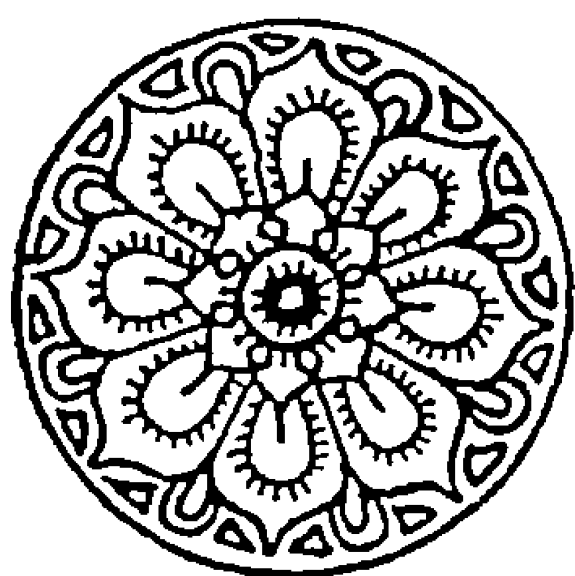
“वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।

जिसे ढूँढता देश आज, उस प्रजातंत्र की माता ॥

रुको, एक क्षण पथिक यहाँ, मिट्टी को शीश नवाओ।

राजसिद्धियों की समाधि पर, फूल चढ़ाते जाओ ॥

हमें भी अहिंसा के माध्यम से गणतंत्र की रक्षा करनी चाहिये।



## भारत-अतीत में और वर्तमान में

कोई शासन शाश्वत नहीं है, केवल धर्म ही शाश्वत है और वह धर्म आत्मा में है ।

जब तक विद्याध्ययन में रत हो तब तक राजनीति में मत उलझो अन्यथा अपरिपक्व रह जाओगे । विद्याध्ययन करते समय एक मात्र कर्तव्य व ध्येय-विद्या में, शिक्षा में, परिपक्वता लाना है ।

शासको का कर्तव्य है कि विभिन्न विचारधाराओं के लोगो का स्नेह से, माँ के समान अपनी प्रजा का, पालन करे । शासक से प्रमाद या गलती हो जाये तो उसका उसी भव में अधःपतन हो जाता है । यही नियम साधु के लिये भी है । जरा सा प्रमाद उनके अधःपतन का कारण बन जाता है ।

भारत का इतिहास विभिन्नताओं से भरा हुआ है । हम जब अपने अतीत की ओर देखते हैं, इतिहास का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि हमारे देश में एक ऐसा भी युग था, जिसे इतिहासकार स्वर्ण-युग कहते हैं । सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनान का राजदूत मेगस्थनीज था, उसने एक चौसठ-अध्यायी ग्रंथ लिखा था, जिसके चार अध्यायों में भारतीय व्यापार, रीतिरिवाज, रहन-सहन का वर्णन है । उसने लिखा है कि उस समय मानवों का आपस में विश्वास था, परस्पर प्रेम था, सब न्यायप्रिय थे, अपने घरों में कोई ताले नहीं लगाते थे । यदि सम्राट् अशोक के युग की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि—उस समय तक्षशिला में तीन-चार बार विरोध

हुआ । राजा ने अपने पुत्र अशोक को वहाँ शांति स्थापित कराने हेतु भेजा । जब अशोक वहाँ पहुँचे तो वहाँ की जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया और कहा कि—हमारा विरोध आपसे नहीं है, हम यहाँ के मंत्री, अधिकारियों का विरोध करते हैं क्योंकि वे हम पर अत्याचार करते हैं । तक्षशिला में तीन बार विरोध भड़का, तीनो बार युवराज अशोक को वहाँ भेजा गया, फिर कुछ दिन उनको वहाँ का राज्यपाल भी नियुक्त किया गया । वे कुछ समय गिरनार के राज्यपाल भी रहे । वहाँ पर भी तीन-चार बार विरोध भड़क चुका था कि हमारी पूजा पद्धति ठीक है, दूसरों की पूजा—पद्धति ठीक नहीं है । अशोक ने कहा कि—मैं आपकी पूजा आदि से खुश नहीं हूँ । आप परस्पर प्रेम से रहे, मैं उससे खुश रहूँगा । जिसकी जो परिपाटी है उसमें एक-दूसरे हस्तक्षेप न करते हुये, देवी-देवताओं के सामने बलि देने की परम्परा समाप्त कीजिये, यही मानवता है । बलि देना, भगडा करना मानवीयता नहीं है । इन तथ्यों पर यूरोपीय लेखकों ने विस्तार से चर्चा की है ।

इसी प्रकार हमारे देश के इक्ष्वाकुवंश की भी बहुत अनूठी परम्पराएँ रही हैं । उनसे ज्ञात होता है कि शासकों के कर्तव्य क्या होते हैं ? इक्ष्वाकुवंश की राजधानी अयोध्या थी । जिनसेनाचार्य ने 'अयोध्या' की व्याख्या की है—अ + युद्धा = जिसे कोई युद्ध में जीत न सका । इस वंश का वर्णन करते हुये महाकवि कालिदास ने बताया है कि शासक नागरिकों के लिये क्या-क्या करते थे—'सपिता पितरस्तासा केवल जन्महेतवा' अर्थात् माता-पिता सन्तान को केवल जन्म देते थे, जन्म के पश्चात् शेष सब संस्कार, शिक्षा आदि की व्यवस्था सरकार ही करती थी । माता-पिता का कर्तव्य केवल जन्म देने तक ही सीमित था । बादिसिंह आचार्य ने भी लिखा है कि—माता-पिता का इतना ही उपकार होना था कि वे सन्तान को जन्म देते थे । इसके बाद से मृत्यु तक सारे संस्कार-उपकार, सरकार-शासक के द्वारा होता था । कैसा अतीत था, इतिहास था हमारा ? इसीलिये तो उस युग को इतिहासकार स्वर्णयुग कहते हैं । प्रजापालन ही उनका धर्म था, उनकी दृष्टि में प्रजा के प्रति भेद-भाव नहीं था । पर शासकों के साथ नागरिकों के भी कुछ कर्तव्य होते हैं । स्वयं के कहीं दर्द अनुभव होता है, वेदना होती है तो तुरन्त उसका आभास हो जाता है और तुरन्त उसका उपचार करते हैं । हाथ में दर्द होता है तो सारा ध्यान वही रहता है, पैर में काटा चुभता है तो ध्यान वही रहता है । शरीर में आत्मा अखण्ड रूप से, सर्वाङ्ग में विद्यमान है । तभी तो रात में बिना दीपक जलाये चोट के स्थान पर स्वयंमेव हाथ चला जाता है । इसी

ममर्थ होगा। इसी अनुमान के आधार पर वह चाणक्य को अनुरोध कर राजा के पास ले आये। वहाँ की रानी चन्द्रवती थी। उस समय वह गर्भवती थी। उसकी प्रबल इच्छा थी कि मैं चन्द्रमा को खा जाऊँ। यह व्यावहारिकतः अत्यन्त असम्भव था। पर चाणक्य ने एक उपाय सुझाया। पूर्णिमा की रात्रि में रानी की आँखों पर पट्टी बांध कर छत पर ले गये, एक पानी के कटोरे में चांद का प्रतिबिम्ब दिखाने के लिये उसकी पट्टी उतार दी गई, प्रतिबिम्ब दिखाकर वह पानी उसे पिला दिया गया। वह सतुष्ट हो गई। कुछ समय पश्चात् उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम चन्द्र-भुक्त रखा गया। चन्द्र-भुक्त अर्थात् जिसने चन्द्रमा का भोग किया हो। यह चन्द्र-भुक्त ही अपभ्रंश होकर चन्द्रगुप्त हुआ और इसी से गुप्त वंश चला। चाणक्य ने स्वयं की देख-रेख में इस बालक का पालन करवाया। जब बालक बड़ा हुआ तो, एक सेना तैयार कर, उस (चन्द्रगुप्त) के नेतृत्व में नन्दों पर आक्रमण किया, पर असफल रहे, कुल तीन बार आक्रमण किया पर तीनों बार असफल रहे। तब नन्दों का भेद लेने गुप्तचर के रूप में चाणक्य भगवे वस्त्र पहन कर निकल पड़े। चलते-चलते पटना पहुँचे। मन में, अपने पहचान लिये जाने का भय था। पर भूख भी बहुत तेज लग रही थी। सामने एक बुढ़िया की झोपड़ी थी, वही जाकर उससे भोजन कराने की प्रार्थना की। बुढ़िया ने सन्यासी समझ कर तुरन्त भोजन के लिये तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस देश में सदैव से साधुओं के प्रति आस्था रही है। बुढ़िया ने दलिया बनाया, गर्म-गर्म ही पत्तल में परोसा। चाणक्य शीघ्रता से खाने लगा, पहला कौर खाते ही हाथ व मुँह दोनों जल गये। बुढ़िया हँसी, बोली—अरे, तुम तीसरे मूर्ख हो। चाणक्य ने सोचा—मैं तीसरा मूर्ख हूँ, तो दो मूर्ख और कौन हैं? उसने बुढ़िया से उन दो मूर्खों के बारे में पूछा। बुढ़िया ने कहा—दो मूर्ख हैं चाणक्य व चन्द्रगुप्त। चाणक्य ने चौंककर पूछा कि वे मूर्ख क्यों हैं? तब बुढ़िया ने कहा कि जैसे तुम अभी दलिये के बीच में हाथ डालकर खाना चाहते थे, वैसे ही वे दोनों भी युद्ध में एक साथ सबको जीत लेना चाहते हैं। उन्हें पहले किनारे की छोटी रियासतों को जीतना चाहिये फिर थोड़ी शक्ति बढ़ा कर आगे बढ़ना चाहिये। ऐसे ही तुम्हें भी किनारे का थोड़ा-थोड़ा दलिया लेकर उसे ठंडा कर खाना चाहिये। चाणक्य ने इसी प्रकार भरपेट भोजन किया, तत्पश्चात् उस बुढ़िया के पांव छुये कि—तुम मेरी राजनीति की गुरु हो। गांधीजी को भी चरखा चलाना एक वृद्धा ने ही सिखाया था। अधिकांश वृद्ध स्त्री बहुत बुद्धिमान होती हैं, इसलिये मालवा प्रदेश में तो वृद्धा को 'ईश्वरी' कहा जाता है। अपने राज्य में पहुँच कर उन्होंने इसी नीति के



अनुसार युद्ध किया, धीरे-धीरे छोटे गावों, रियासतों पर कब्जा किया और सारे देश को एक सूत्र में बांध लिया। पर शासक स्वयं न बनकर चन्द्रगुप्त को बनाया। सबने सम्राट् चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जनता को पूर्णरूप से सुख-सुविधा प्रदान करने हेतु चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना की। मालविका को जीता। चाणक्य सदैव चन्द्रगुप्त के साथ रहते, उन्हें सलाह देते थे, भोजन भी वे अपनी देख-रेख में कराते थे। चन्द्रगुप्त ने कुछ बड़ी उम्र में वैशाली के लिच्छिवि वंश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। उनकी जिद थी कि मैं लिच्छिवि वंश (तत्कालीन सर्वोत्तम वंश) की कन्या से ही विवाह करूंगा। इस तथ्य को दर्शाने के लिये ही चन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसे सिक्के प्रचलित किये जिसमें चन्द्रगुप्त के साथ पार्श्व में कुमारदेवी का भी चित्र उत्कीर्ण है। उनमें से कुछ सिक्के आज भी इलाहबाद के पुरातत्व विभाग में सुरक्षित हैं।

चाणक्य अपनी देख-रेख में ही चन्द्रगुप्त को भोजन करवाते थे, भोजन करने से पूर्व, एक घास कौवे को डाला जाता था जिससे भोजन की शुद्धता ज्ञात हो जाये। एक बार चन्द्रगुप्त को कोई पेट का रोग हो गया। चिकित्सकों ने कोई विषैली औषधि भोजन के साथ देने के लिये कहा। एक दिन चन्द्रगुप्त के साथ कुमारदेवी भी समीप ही भोजन कर रही थी, गलती से वह जहरीला भोजन कुमारदेवी ने खा लिया, उस समय वह गर्भवती थी। तत्काल उपचार किया गया, किसी प्रकार रानी का पेट चीर कर बालक को बचा लिया गया किन्तु रानी न बच सकी। जहर की कुछ मात्रा शरीर में पहुँच चुकी थी, जिसकी एक बूंद उस बालक के सिर पर भी लग गई थी। सिर पर एक बिन्दु होने से उस बालक का नाम 'बिन्दुसार' रखा गया। पत्नी की मृत्यु से चन्द्रगुप्त को वैराग्य हो गया और उन्होंने चाणक्य को राज्य सम्भाला कर सन्यास ले लिया। अब चाणक्य ने बिन्दुसार का लालन-पालन किया। विष का असर होने के कारण व समय से पूर्व जन्मने के कारण वे मद-बुद्धि ही रहे, अधिक शूरवीर-पराक्रमी न हो सके। बड़े हुये, विवाह हुआ और एक पुत्र को जन्म दिया जो 'सम्राट् अशोक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चाणक्य ने बालक अशोक का भी लालन-पालन किया। अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर भी चाणक्य ने तीन पीढ़ी तक राज्य व राजाओं की सेवा की। उनकी राष्ट्र-भक्ति व सेवा-भावना अनुकरणीय है। चाणक्य ने अशोक को अनेक प्रकार की विद्याओं में पारंगत किया, अनेक प्रकार की शिक्षायें दी, अपने साथ देश में अनेक स्थानों का भ्रमण करवाया। एक यूरोपीय लेखक ने सिद्ध

प्रकार भारत भी अखण्ड है, एक राष्ट्र है, इसमें ये राजस्थानी हैं, ये बंगाली हैं, ये कर्नाटकी हैं, ऐसा भेद-भाव क्यों ? भारत पूरा एक शरीर है — ये विभिन्न राज्य उसके विभिन्न अंग हैं, इनमें भेद समझना इसी प्रकार है जैसे हम अपने ही किसी अंग को कटवाना चाहते हैं । जैसे किसी कार्य को करने के लिये शरीर के अंगों की पूर्णता आवश्यक है उसी प्रकार सारे राज्य मिलकर ही किसी कार्य को करने में समर्थ हो सकते हैं ।

विदेश में जाने पर कोई आपसे पूछता है—आप कहाँ से आये हैं ? आप जवाब देते हैं—भारत से । आपकी भाषा ? भारती । आपकी संस्कृति ? भारतीय । आपकी लिपि ? भारतीय । यदि आप विदेश में सूट-बूट पहनकर जाते हैं तो आपसे बेहतर सूट वहाँ के लोग पहने होंगे । अतः आपके उस परिधान में आपकी कोई विशेषता नहीं रहेगी । परन्तु आप भारतीय वेष-भूषा में होंगे तो वह प्रभावशाली होगी, विशिष्टता लिये हुये होगी । जब तक आपके आचार-विचार में राष्ट्रीयता न भरी हो तो यहाँ रहने व खाने-पीने का क्या अधिकार है ? यहाँ का नागरिक चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो, सर्वप्रथम वह भारतीय है । नेहरूजी ने 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में लिखा है कि—इस देश के मूल निवासी जैन रहे हैं, शेष सब बाहर से आये हुये हैं । पर राष्ट्रीय दृष्टि से विभिन्न धर्मों को मानने पर भी यहाँ का नागरिक पहले भारतीय है । एक पेड़ पर कौआ, चिड़िया, कबूतर, तोता, मैना, कोयल आदि विभिन्न जाति के पक्षी बैठते हैं, पर वे जातीय आधार पर विद्रोह नहीं करते । उन्होंने आज तक कोई शस्त्र नहीं बनाया, सब एक पेड़ पर रहते हैं, वह पेड़ भी उन पक्षियों को धक्का नहीं देता, न टहनी उन्हें कोई नुकसान पहुँचाती है, न फल किसी पक्षी विशेष के लिये जहरीले हो जाते हैं, वह बिना भेद-भाव के सब पक्षियों का आश्रय बनता है । इसी प्रकार शासकों का भी कर्तव्य है कि विभिन्न विचारधाराओं के लोगों का भी स्नेह से पालन करें । जैसे माँ अपने बेटे का, चाहे वह कैसा भी हो लूना या लगटा, बहुत प्यार के साथ पालन करती है, उसे दुत्कारती नहीं है । यही शासक का कर्तव्य है कि वह भी माँ के समान अपनी प्रजा का पालन करे ।

भारतीय संविधान बहुत विवेक के साथ बनाया गया है । यह अत्यन्त विशाल व व्यापक है । समस्त मानवीयता को लिये हुये है । जिन मानवीय गुणों के लिये संयुक्त राष्ट्रमध्य प्रयत्न कर रहा है, वे सब गुण हमारे संविधान

मे है । इसमे सकीर्णता, कूप-मण्डूकता नहीं है । इसका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल है ।

हमे किसी भाषा या लिपि के लिये भगडा नहीं करना चाहिए । यह किसी जाति-विशेष या धर्म-विशेष के लिये नहीं बनी । जैसे नाव बिना किसी भेद-भाव के लोगो को पार उतारती है, पार उतरने वाला भी नाव का ढाँचा आदि नहीं देखता, वह केवल यही देखता है कि यह उस पार पहुँचा सकती है या नहीं । इसी प्रकार केवल लिपि की ओर नहीं देखना चाहिये उसमे निहित भावो की ओर देखना चाहिये । लिपि, भाषा तो परमात्मा का, तत्त्व का, ज्ञान प्राप्त करने के लिये साधन है । ये तो परस्पर भाव-संप्रेषण के साधन है, चाहे वे किसी भी धर्म का अनुयायी हो, किसी भी लिपि या भाषा को जानने वाले हो, उनमे निहित सदेश तो पवित्र है । गाय चाहे काली हो अथवा सफेद, पर उसका दूध सफेद ही होगा । लिपि आदि की सकीर्णता वचकानी बातें हैं । अजमेर के पास बडली गाव मे खारवेल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमे भगवान् महावीर के निर्वाण के चौरासी वर्ष बाद की भाषा व लिपि उत्कीर्ण है, जिस पर लिखा है—वीराय भगवानाय .. । प० गौरीशंकर ओझा ने अपनी पुस्तक मे इसका उल्लेख किया है । इस शिलालेख की लिपि व आज की लिपि बिल्कुल भिन्न है, अर्थात् समय के साथ लिपि, भाषा आदि बदल जाती है, अतः इसके लिये दगे फसाद करना उचित नहीं है ।

अब मैं अतीत-भारत के स्वर्णयुग की कुछ विशिष्ट घटनायें बताता हूँ । इनका उल्लेख शिवकोटि के बड्डाराधना कथाकोष मे है । इस भूमि मे एक महान् राष्ट्रसेवी व्यक्ति हुये हैं, 'चाणक्य' । यह सम्राट् चन्द्रगुप्त के युग मे थे । उस समय चाणक्य तक्षशिला मे पढते थे । उन्ही दिनों नन्द लोगो मे अनेक विकृतियाँ, दोष उत्पन्न हो गये थे । चाणक्य के मन मे विचार आया कि अब ये नन्द लोग भली प्रकार शासन नहीं कर सकते । यह इन्ही विचारो मे उलझ रहे थे । एक दिन वह गंगा नदी मे नहाने आये, उस समय उनके पाव मे एक काटा चुभ गया, जिससे उनका पाव लहलुहान हो गया । चाणक्य उठे और काटो की सारी भाडियाँ उखाडने लगे । चन्द्रगुप्त के पिता के मन्त्री वसुधु भी उस समय नदी किनारे आये थे । उन्होने चाणक्य को भाडी उखाडते हुये देखा । मन्त्री ने सोचा कि एक काटा लगने से यह सारी भाडी उखाड रहा है तो यह अवश्य ही शत्रु को उखाडने मे

ममर्थ होगा। डमी अनुमान के आवार पर वह चाणक्य को अनुरोध कर राजा के पास ले आये। वहा की रानी चन्द्रवती थी। उस समय वह गर्भवती थी। उसकी प्रबल इच्छा थी कि मैं चन्द्रमा को खा जाऊँ। यह व्यावहारिकतः अत्यन्त असम्भव था। पर चाणक्य ने एक उपाय सुझाया। पूर्णिमा की रात्रि में रानी की आँखों पर पट्टी बांध कर छत पर ले गये, एक पानी के कटोरे में चांद का प्रतिबिम्ब दिखाने के लिये उसकी पट्टी उतार दी गई, प्रतिबिम्ब दिखाकर वह पानी उसे पिला दिया गया। वह सतुष्ट हो गई। कुछ समय पश्चात् उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम चन्द्र-भुक्त रखा गया। चन्द्र-भुक्त अर्थात् जिसने चन्द्रमा का भोग किया हो। यह चन्द्र-भुक्त ही अपभ्रंश होकर चन्द्रगुप्त हुआ और इसी से गुप्त वंश चला। चाणक्य ने स्वयं की देख-रेख में इस बालक का पालन करवाया। जब बालक बड़ा हुआ तो, एक सेना तैयार कर, उस (चन्द्रगुप्त) के नेतृत्व में नन्दों पर आक्रमण किया, पर असफल रहे, कुल तीन बार आक्रमण किया पर तीनों बार असफल रहे। तब नन्दों का भेद लेने गुप्तचर के रूप में चाणक्य भगवे वस्त्र पहन कर निकल पड़े। चलते-चलते पटना पहुँचे। मन में, अपने पहचान लिये जाने का भय था। पर भूख भी बहुत तेज लग रही थी। सामने एक बुढ़िया की भोपड़ी थी, वही जाकर उससे भोजन कराने की प्रार्थना की। बुढ़िया ने सन्यासी समझ कर तुरन्त भोजन के लिये तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस देश में सदैव से साधुओं के प्रति आस्था रही है। बुढ़िया ने दलिया बनाया, गर्म-गर्म ही पत्तल में परोसा। चाणक्य शीघ्रता से खाने लगा, पहला कौर खाते ही हाथ व मुँह दोनों जल गये। बुढ़िया हँसी, बोली—अरे, तुम तीसरे मूर्ख हो। चाणक्य ने सोचा—मैं तीसरा मूर्ख हूँ, तो दो मूर्ख और कौन हैं? उसने बुढ़िया से उन दो मूर्खों के बारे में पूछा। बुढ़िया ने कहा—दो मूर्ख हैं चाणक्य व चन्द्रगुप्त। चाणक्य ने चौंककर पूछा कि वे मूर्ख क्यों हैं? तब बुढ़िया ने कहा कि जैसे तुम अभी दलिये के बीच में हाथ डालकर खाना चाहते थे, वैसे ही वे दोनों भी युद्ध में एक साथ सबको जीत लेना चाहते हैं। उन्हें पहले किनारे की छोटी रियासतों को जीतना चाहिये फिर थोड़ी शक्ति बढ़ा कर आगे बढ़ना चाहिये। ऐसे ही तुम्हें भी किनारे का थोड़ा-थोड़ा दलिया लेकर उसे ठंडा कर खाना चाहिये। चाणक्य ने इसी प्रकार भरपेट भोजन किया, तत्पश्चात् उस बुढ़िया के पांव छुये कि—तुम मेरी राजनीति की गुरु हो। गांधीजी को भी चरखा चलाना एक वृद्धा ने ही सिखाया था। अधिकांश वृद्ध स्त्री बहुत बुद्धिमान होती हैं, इसलिये मालवा प्रदेश में तो वृद्धा को 'ईश्वरी' कहा जाता है। अपने राज्य में पहुँच कर उन्होंने इसी नीति के

अनुसार युद्ध किया, धीरे-धीरे छोटे गावों, रियासतों पर कब्जा किया और सारे देश को एक सूत्र में बांध लिया। पर शासक स्वयं न बनकर चन्द्रगुप्त को बनाया। सबने सम्राट् चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जनता को पूर्णरूप से सुख-सुविधा प्रदान करने हेतु चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना की। मालविका को जीता। चाणक्य सदैव चन्द्रगुप्त के साथ रहते, उन्हें सलाह देते थे, भोजन भी वे अपनी देख-रेख में कराते थे। चन्द्रगुप्त ने कुछ बड़ी उम्र में वैशाली के लिच्छिव वंश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। उनकी जिद थी कि मैं लिच्छिवी वंश (तत्कालीन सर्वोत्तम वंश) की कन्या से ही विवाह करूंगा। इस तथ्य को दर्शाने के लिये ही चन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसे सिक्के प्रचलित किये जिसमें चन्द्रगुप्त के साथ पार्श्व में कुमारदेवी का भी चित्र उत्कीर्ण है। उनमें से कुछ सिक्के आज भी इलाहाबाद के पुरातत्व विभाग में सुरक्षित हैं।

चाणक्य अपनी देख-रेख में ही चन्द्रगुप्त को भोजन करवाते थे, भोजन करने से पूर्व, एक घास कौवे को डाला जाता था जिससे भोजन की शुद्धता ज्ञात हो जाये। एक बार चन्द्रगुप्त को कोई पेट का रोग हो गया। चिकित्सकों ने कोई विषैली औषधि भोजन के साथ देने के लिये कहा। एक दिन चन्द्रगुप्त के साथ कुमारदेवी भी समीप ही भोजन कर रही थी, गलती से वह जहरीला भोजन कुमारदेवी ने खा लिया, उस समय वह गर्भवती थी। तत्काल उपचार किया गया, किसी प्रकार रानी का पेट चीर कर बालक को बचा लिया गया किन्तु रानी न बच सकी। जहर की कुछ मात्रा शरीर में पहुँच चुकी थी, जिसकी एक बूंद उस बालक के सिर पर भी लग गई थी। सिर पर एक बिन्दु होने से उस बालक का नाम 'बिन्दुसार' रखा गया। पत्नी की मृत्यु से चन्द्रगुप्त को वैराग्य हो गया और उन्होंने चाणक्य को राज्य सम्भला कर सन्यास ले लिया। अब चाणक्य ने बिन्दुसार का लालन-पालन किया। विष का असर होने के कारण व समय से पूर्व जन्मने के कारण वे मंद-बुद्धि ही रहे, अधिक शूरवीर-पराक्रमी न हो सके। बड़े हुये, विवाह हुआ और एक पुत्र को जन्म दिया जो 'सम्राट् अशोक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चाणक्य ने बालक अशोक का भी लालन-पालन किया। अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर भी चाणक्य ने तीन पीढ़ी तक राज्य व राजाओं की सेवा की। उनकी राष्ट्र-भक्ति व सेवा-भावना अनुकरणीय है। चाणक्य ने अशोक को अनेक प्रकार की विद्याओं में पारंगत किया, अनेक प्रकार की शिक्षाएँ दी, अपने साथ देश में अनेक स्थानों का भ्रमण करवाया। एक यूरोपीय लेखक ने सिद्ध

किया है कि श्रवण बेलगोला के निकट चन्द्रगिरि पर्वत जहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त के चरण हैं, वहाँ भी तथा गिरनार पर्वत की भी अशोक ने यात्रा की थी।

अशोक ने राज्य सम्भाला। एक बार अत्यन्त घनघोर युद्ध किया, जिसमें भीषण नरसंहार हुआ, खूब विनाश हुआ, इससे बहुत विरक्ति हुई। अब वह धर्म की शरण प्राप्त करना चाहता था। पर भीषण नरसंहार के कारण अनेक धर्म के लोग उसके विरुद्ध हो गये। बौद्धों ने उसे शरण दी। उसके पश्चात् वह बहुत उदार हो गया। राज्य के समस्त धर्मों को आश्रय दिया। उसके दिल्ली के कोटला स्थित शिलालेख की सातवीं पंक्ति में उल्लेख है कि—“निगठेसु नाना पासडेसु विया पटा हो हति इति” अर्थात्—समस्त साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ जहाँ जैसे विहार करें; मेरे मातुल्य, श्रमातुल्य व महामातुल्य उनमें किसी प्रकार का व्यवधान न होने दे, उनकी सुविधा प्रदान करे। कोई धर्म एक दूसरे से टकरावे नहीं, इसकी उसने विशेष व्यवस्था की थी। प्रजा का पालन करना ही अशोक का धर्म था। राजा का कर्तव्य है कि, सब निर्विघ्न रूप से अपने-अपने धर्म का पालन करे, इसका वह ध्यान रखे। अशोक ने कभी किसी का धर्म-परिवर्तन नहीं कराया। अशोक के सारे शिलालेखों में राष्ट्रीय-भावना भरी है, उनमें कोई धर्म या जाति प्रधान भावना नहीं है। भारत के, विदेश के, बहुत से इतिहासकारों-वनर्जों, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि ने उसके शिलालेखों पर प्रकाश डाला है। अशोक के इन राष्ट्रीय-भावना व प्रजापालन धर्म के प्रतीक रूप में ही गांधीजी आदि ने भारत के राष्ट्रीय-ध्वज के मध्य में ‘अशोक चक्र’ को स्थान दिया।

बौद्ध ग्रन्थ ‘दिव्यावादन’ में भी सम्राट् अशोक का उल्लेख है। सम्राट् अशोक ने वृद्धावस्था में युवती तिष्यरक्षिता से विवाह कर लिया। इससे उसकी प्रतिष्ठा को बहुत धक्का पहुँचा। एक दिन अशोक भोजन करने बैठे तो तिष्यरक्षिता अपने हाथ से प्याज परोसने लगी। अशोक ने उसे रोका, कहा—“देवि ! अहं क्षत्रियाकथ पलाण्डुम् परि भक्ष्यामि” अर्थात् देवि ! मैं उच्चकुलीन क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज कैसे खा सकता हूँ, पर उसने जबरदस्ती खिला कर उसे परम्परा विमुख करवाया। बादिवृषभ आचार्य ने कहा है कि—शासक से जरा सा भी प्रमाद हो जाये, उससे गलतियाँ हो जाये, तो उसका उसी भव में अधःपतन हो जाता है। जैसे हिटलर आदि शासकों का हुआ। यही नियम साधुओं पर लागू होता है, जरा सा भी प्रमाद उनके अधःपतन का कारण बन जाता है। इसलिये भगवान् महावीर ने गोतम-

गणधर को कहा—प्रमाद मत करो, यह अध पतन का कारण है। सम्राट् अशोक के पश्चात् एक राजा ऐसा भी हुआ जो किसी साधु को मारकर उसका सिर लाने वाले को सौ स्वर्ण मुद्राये देता था। उसने साधुओं को सरक्षण देने वालों के घरों में आग लगा कर अनेक निरपराधों की जान ले ली। इसके कारण बहुत भगडा उठ खडा हुआ। उसके पश्चात् जो शासक आया वह स्व-धर्म के अलावा अन्य सब धर्मों को मिटा देना चाहता था। एक सम्प्रदाय के दूसरे सम्प्रदाय से भगडे होने लगे। उस समय सवा सौ वर्ष का काल भारत में लड़ाई-भगडे में ही बीता।

सम्राट् चन्द्रगुप्त व अशोक के द्वारा स्थापित एक छत्र राज्य की परिणति प्रमादों के कारण भगडों में हुई। गृहस्थियों व नागरिकों को अपने घर-परिवार व राष्ट्र को प्रमादों से बचाना चाहिये। बहुत प्रयत्नों से सात पीढ़ियों तक परिश्रम के साथ घराने की प्रतिष्ठा व नाम ऊँचा किया जाता है, पर उसको नष्ट करने में सात मिनट भी नहीं लगते, दुर्व्यसनों में पडकर उसी घराने के उत्तराधिकारी सात मिनट में उसके नाम को बट्टा लगा देते हैं, घराने की प्रतिष्ठा खत्म कर देते हैं। अशोक के पश्चात् धीरे-धीरे उसका राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया।

यथार्थतः कोई शासन शाश्वत नहीं है केवल धर्म ही शाश्वत है और वह धर्म आत्मा में है। व्यवहारिक सब वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। बैलगाड़ी से आज हम हवाई जहाज पर आ गये। विज्ञान ने बहुत आविष्कार किये पर साथ में प्राचीन सस्कृति व आदर्शों को भी समाप्त कर दिया, ऐसा नहीं होना चाहिये था। आज जनता आदर्श-विहीन हो रही है। चाहे राजाओं का राज्य हो, चाहे गणतन्त्र राज्य हो, स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है कि हमें अमुक सरकारी भवन तोड़ने का अधिकार है, मंत्री के ईंट मारकर उसका सिर फोड़ने का अधिकार है। यह स्वतन्त्रता नहीं है, यह स्वच्छन्दता है, उद्दण्डता है। अनुशासन के साथ विनम्रता को न छोड़ते हुये मार्गें मागनी चाहिये, शासक भी यह सोचकर, समझकर कि कहीं इससे शासन पर कोई आच तो नहीं आयेगी, कोई हानि तो नहीं होगी, तभी मार्गें पूर्ण करें। केवल धमकियों से डर कर, उपद्रवों से घबराकर मार्गें नहीं मान लेनी चाहिये। दोनों पर कुछ बधन हैं, दोनों के कुछ कर्तव्य हैं, गणतन्त्र शासन की यही तो विशेषता है। आज गणतन्त्र दिवस है। योगेन्द्र मिश्र ने 'एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली' नामक पुस्तक में लिखा है कि विश्व में गणतन्त्र का प्रारम्भ ही वैशाली से, भारत से हुआ।



उत्तर-पुराण में गुणभद्राचार्य ने महावीर के जीवन-प्रकरण में लिखा है कि—नागरिकों को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। सकीर्णता छोड़कर, देश के प्रति निष्ठा से रहे। जब विभिन्न जाति के जीव जन्तु, पशु-पक्षी एक साथ जंगल में रह सकते हैं, तो मनुष्य विभिन्न धर्मावलम्बी होकर एक देश में क्यों नहीं रह सकते ?

कौरव-पाण्डव एक खून, एक धर्म, एक जाति के होकर सम्पत्ति के पीछे लड़कर मिट गये, वंश को कलक लगा दिया। जिसके नाम से अन्य राजा थरते थे, उन्होंने ही देश को कमजोर बनाया। महाभारत ही देश की गुलामी का कारण रहा है। भारतीय अत्यन्त वीर रहे हैं, पर सदैव ही आपसी फूट ने, वैमनस्य ने इनका पतन किया है। यह देश अहिंसा के कारण गुलाम नहीं हुआ अपितु आपसी वैर-वैमनस्य के कारण गुलाम हुआ है। इसलिये सकीर्णता को छोड़कर मानवीयता धारण करो।

कुछ दिन पूर्व दिल्ली रेडियो-स्टेशन के एक प्रोड्यूसर रुम गये थे, वे वहाँ पन्द्रह दिन रहे। जब वे आने लगे तो वहाँ के कुछ अधिकारियों ने उनसे पूछा कि—आपने हमारा देश, खान-पान आदि देखा। आपको हमारी व आपकी संस्कृति में क्या भेद लगा ? उन्होंने उत्तर दिया कि—आपके यहाँ लगभग सब शिक्षित हैं। यदि यहाँ कोई बच्चा मेढक को पत्थर मारता है तो कोई आपके यहाँ उसे इस कार्य के लिये रोकता नहीं है, मना नहीं करता है। पर हमारे यहाँ की अनपढ़, गरीब, भोपड़ी में रहने वाली स्त्री भी अपने बच्चे को चीटी मारने से भी टोकती है। वस आपके और हमारे यही फर्क है। आप केवल मानव-जाति पर दया करने के लिये कहते हैं, पर हम प्राणीमात्र पर दया करते हैं, प्राणी मात्र पर दया करने के लिये कहते हैं। इसलिये हम स्वाभिमान के साथ कह सकते हैं कि हम विश्व के गुरु बनने की योग्यता रखते हैं। भगवान् महावीर ने हमें हजारों वर्ष पूर्व प्राणी मात्र पर दया करने, उनको जीने देने की शिक्षा दी है।

आज भारत ने काफी उन्नति करली है। बड़े-बड़े जहाज बनाने लगे हैं, तकनीकी क्षेत्र में भी आगे बढ़े हैं। बड़े-बड़े भवनों का निर्माण भी करने लगे हैं, जैसे बम्बई में सैंतीस मजिल का मकान बना है। पर इन भौतिक उपलब्धियों से ही सतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। एक ओर विशाल-भवन, वीर से जमीन में घस रहे हैं, दूसरी ओर तूफानों से भोपड़िया उड़ रही हैं। इन अट्टालिकाओं व भोपड़ियों में कैसे सामन्जस्य हो ? महावीर के



सिद्धान्तों को उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में बाधा, उन्होंने कहा कि— 'अल्पारभपरिग्रहत्व मानुषस्य' कि मनुष्य कौन है ? जो आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुओं को रखता हो, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को परोपकार के लिये व सेवार्थ दान करता है । जो बहुआरभ करता है उसकी दुर्गति होती है—'बहुआरभ परिग्रहत्व नारकस्यायुष' अर्थात् बहु-आरभ से स्वयं मिटते हैं व दूसरे को भी मिटाते हैं । स्वयं इस अर्थ में कि—घनादि की बहुलता होने पर उनके वशज व्यसनादि में फस कर अपने बुजुर्गों के नाम व प्रतिष्ठा को मिटा देते हैं । दूसरों को इस अर्थ में मिटाते हैं कि उनके हक का धन भी वे बहु-आरभी ही समेट ले जाते हैं और दूसरे अभाव से ही मिट जाते हैं । समाज-वाद यही है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक नियन्त्रण में व स्वयं के नियन्त्रण में रहे । सरकार कहा तक एक-एक व्यक्ति का ध्यान रख सकती है ? क्या घर-घर में पुलिस तैनात करे ?

इस देश में स्वतन्त्रता के पश्चात्, तीस साल से अधिकार का ज्ञान तो सबने कराया, पर कर्तव्य की शिक्षा किसी ने नहीं दी, इसीलिये यहाँ के शासक शासन चलाने में असफल रहते हैं । आये दिन, तोड़-तोड़ होती है ।

मैं जब मेरठ में था एक सभा में एक केन्द्रीय मंत्री भी आये । उन्होंने अपने भाषण में कहा कि—सब व्यापारियों को हथकड़ी डालकर सड़क पर घुमाना चाहिये, क्योंकि समाज में असमानता इन्हीं के कारण आती है, ये अधिक धन संग्रह करते हैं । उनके उत्तर में मैंने कहा कि—मंत्रियों के पास भी बहुत संग्रह होता है । यदि व्यापारी भी कहने लगे कि—सब मंत्रियों को हथकड़ी डालकर सड़क पर घुमाना चाहिये, क्योंकि ये तो जनता की सेवा करने के लिये हैं, जनता का धन हड़पने के लिये नहीं तब ? महावीर का धर्म पक्षपाती नहीं है । केवल व्यापारी ही अपराधी नहीं है, कानून सबके लिये समान है, यही जनतन्त्र है ।

महाकवि कालिदास ने छात्रों के लिये लिखा है कि—'शैशवे अभ्यस्त विद्यानां—योवने विषयेषिणाम् ।' जब तक तुम विद्याध्ययन करते हो तब तक राजनीति में मत उलभो । तुम्हारा कर्तव्य व ध्येय विद्या में, शिक्षा में परिपक्वता लाना है, यदि राजनीति में उलभ गये तो अपरिपक्व ही रह जाओगे । जब पार्लियामेंट में बैठे मंत्रीगण आपस में झगड़ने लगते हैं तो इसका विद्यार्थियों पर कितना असर पड़ता है । आपके घर ही छोटी-छोटी पार्लियामेंट हैं, इनको सभालिये । इनको सभालने पर ही देश सभल सकता

है । जो घर नहीं मभाल सकते, वे राष्ट्र कैसे मभाल सकते हैं ? सत्ता के प्रति लोलुपता न होकर प्रजापालन ही शासको का ध्येय होना चाहिये । आज देश की स्थिति क्या है ? एक व्यक्ति के पेट में दर्द हुआ । वह एक चिकित्सक के पास उपचार के लिये गया, उसने एक गोली दे दी । फिर वह दूसरे चिकित्सक के पास गया, उसने कोई चूर्ण दे दिया । फिर वह तीसरे के पास गया उसने कोई पीने की दवा दे दी । चौथे के पास गया तो उसने कोई चाटने की दवा दे दी । घर आकर उसने चारों दवाईयाँ ले ली । वे चारों दवाईयाँ अन्दर पेट में आपस में लड़ने लगी कि दर्द मैं ठीक करूँगी, दर्द मैं ठीक करूँगी । इस लड़ाई में एक भी दवा पेट-दर्द ठीक न कर सकी । इस प्रकार हमारे विभिन्न राजनीतिक दल आपस में हम सुधार करेंगे, हम करेंगे, लड़ते रहते हैं, इससे वे देश का व प्रजा का कोई हित नहीं कर सकते । प्रजा को अपने दुःख स्वयं ही दूर करने होंगे ।

पर फिर भी गांधीजी ने कुछ अच्छे नेता इस देश को दिये उसी का परिणाम है कि अनेक वुराईयाँ होने पर भी जनतंत्र को बचा रखा है । हमारे अनेक पड़ोसी देशों में गणतंत्र प्रणाली समाप्त हो गई, सेना का शासन हो गया, पर तीस वर्षों से हमारे नेताओं ने इसे सम्भाल रखा है, यह भी बहुत बड़ी उपलब्धि है ।

यह देश तभी उन्नत होगा, तभी सफल होगा, जब गणतंत्र को शाश्वत बनाये रखेंगे । इस पर दृढ़ विश्वास रखकर आगे बढ़ाएँगे । एक जेट विमान चलाने वाले पायलट पर प्रशिक्षण में लगभग तीन-चार लाख रुपया खर्च होता है । सात हजार मील की उड़ान का अनुभव होने पर उसे जेट विमान चलाने दिया जाता है । पर देश का शासन चलाने वाले के लिये कोई प्रशिक्षण नहीं, कोई ट्रेनिंग नहीं । हर कोई व्यक्ति आकर शासक बन जाता है, मंत्री बन जाता है । कैसी विचित्रता है ?

परिपक्वता धीरे-धीरे आती है । छात्रों को, विद्यार्थियों को, शिक्षा के साथ-साथ विवेक का भी ज्ञान कराये । एक ओर सरकार देश की उन्नति के कार्यों हेतु दूसरे देशों से कर्जा ले रही है और दूसरी ओर हमारे भावी कर्णधार सरकारी भवनों को, वसों को आग लगा रहे हैं । तोड़-फोड़ कर रहे हैं, कैसे मेल बैठे ? उन्नति कैसे हो ? छात्रों व फैक्ट्रियों के मजदूरों की घरों को आग लगाकर तमाशा देखने की जो प्रवृत्ति बन गई है, उसे कैसे रोका जाये । इसे रोकना अत्यन्त आवश्यक है । जापान में विरोध प्रदर्शन करने के

लिये कोई तोड़-फोड़ व आगजनी या हिंसात्मक कार्यवाहियाँ नहीं होती। वे विरोध प्रदर्शन करने के लिये अपने हाथों पर एक काली पट्टी बांध लेते हैं, पर साथ में कार्य करना नहीं छोड़ते, फैक्ट्रियों के ताले बन्द नहीं होते। वास्तव में वे ही सन्नागरिक हैं, बुद्धिमान हैं। आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका में लिखा है कि विरोध भी मीन मुद्रा में दर्शाना चाहिये। पर आज बस कड़कटार से जरा कहा सुनी हुई और छात्रों ने बस को आग लगाई। यदि ये छात्र अपने अज्ञान को आग लगा दें तो कितना अच्छा हो ? आन्दोलन करे तो भी अहिंसा व विनम्रता के साथ। जैसे बहू सास के ऊपर आया हुआ क्रोध निरपराध बच्चे, बेजान वर्तनों पर उतारती है, वैसे ही ये छात्र भी निर्दोष को सजा देते हैं, बेजान वस्तुओं की क्षति करते हैं।

प्रत्येक माता-पिता को अपने बच्चों को समझाना चाहिये कि देश की सम्पत्ति को नष्ट नहीं करना चाहिये। घर में छोटा सा गिलास भी टूट जाता है, तो दिल दुखता है। तो देश की लाखों की सम्पत्ति तोड़ते समय दिल नहीं दुखता ? यह भी तो एक घर है। प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय भावना के लिये प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हमारा देश-भारत, हमारी सस्कृति-भारतीय, इनको क्षति पहुँचाना हमारी ही क्षति है। नागरिक यदि सस्कृति के अनुरूप जीवन व्यतीत करेंगे तो शासक भी अवश्य करेंगे। हमें अपराधियों को मिटाना नहीं, उनको समझाना है। जैसे फटे कपड़े को सिलाई करके पहनते हैं, वैसे ही फटे हुये व्यक्ति को भी सवार कर चलाओ, उसे मिटाओ मत। मानव है, प्रमाद हो जाता है। उसे समझाओ कि एक बार चोट लगी है, पुनः वह बचकर चल सकेगा।

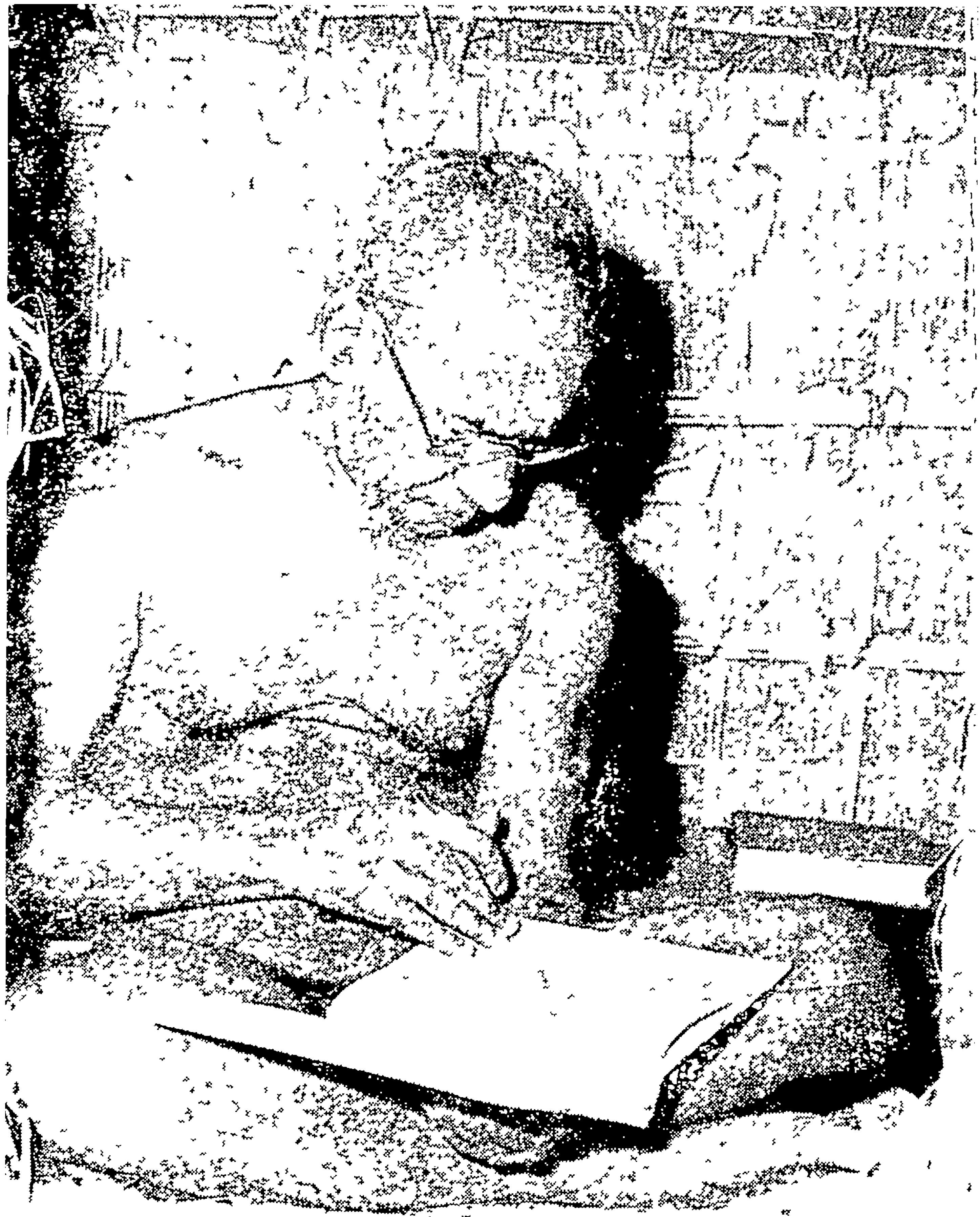
आज हम स्वतंत्र भारत में सास ले रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये लाखों प्राणियों ने बलिदान किया है। सरदार भगतसिंह आदि फाँसी पर चढ़ गये। देश को सदैव उनकी याद बनाई रखनी चाहिये। उनके त्याग के बिना देश कैसे स्वतंत्र हो सकता था ? हमारे साहित्य, सस्कृति, मंदिर आदि कैसे सुरक्षित रह सकते थे ? देश को बचाने की भावना से शहीद होने वाले अवश्य स्वर्ग में जायेंगे।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कथा दी है— जंगल में एक मुनि तपस्या कर रहे थे। एक शेर उधर से आया। वह मुनि को खा जाना चाह रहा था, इतने में एक जंगली सूअर आया। वह शेर के भावों को समझ गया। वह मुनि को बचाना चाह रहा था। दोनों में लड़ाई

होने लगी । लडते-लडते दोनों एक गहरे गड्ढे में गिर गये और मर गये ।  
 गेर मुनि की हत्या व खाने के भावसहित मरा इसलिये नरक में गया व सूअर  
 उनकी रक्षा के भावसहित मरा इसलिये स्वर्ग में गया । जिन्होंने इस देश की  
 रक्षा की, इसको स्वतंत्र कराया उन्हें नहीं भूलना चाहिये, उन पर श्रद्धा  
 रखनी चाहिये । उन्होंने अपना कर्तव्य निभाया, आप भी प्रतिज्ञा कीजिये  
 कि—हम भी सदैव अपना कर्तव्य निभायेंगे, तभी गणतंत्र सफल होगा ।  
 इसकी सफलता के लिये सकल्प कीजिये । सकल्प कल्पवृक्ष के समान है ।  
 'सकल्प कल्पवृक्षस्य', सकल्प फल देने वाला है । सकल्प कीजिये कि—“मैं  
 देश की उन्नति व विकास के लिये अमुक कार्य करूँगा । छोटे-छोटे आयुर्वेदिक  
 औषधालय खोलूँगा ।” पुण्य तिथियों पर जेलों में जाकर चार शब्द धर्म के  
 सुनाइये । आपही आपकी भाषा, संस्कृति व देश को मिटा सकते हैं और कोई  
 नहीं मिटा सकता और आपही उसकी उन्नति कर सकते हैं और कोई दूसरा  
 आपकी उन्नति नहीं कर सकता ।

देश का भविष्य उज्ज्वल हो, यहाँ महावीर, राम, गांधी, शास्त्री,  
 टैगोर, भगतसिंह जैसे महान् व्यक्ति पैदा हों, यही भावना है ।





अध्ययन के निरन्तर मुनिश्री

मगल-प्रदेश

जयपुर

मगल-विहार

२४ विगमर १९७८

४ मार्च १९७९

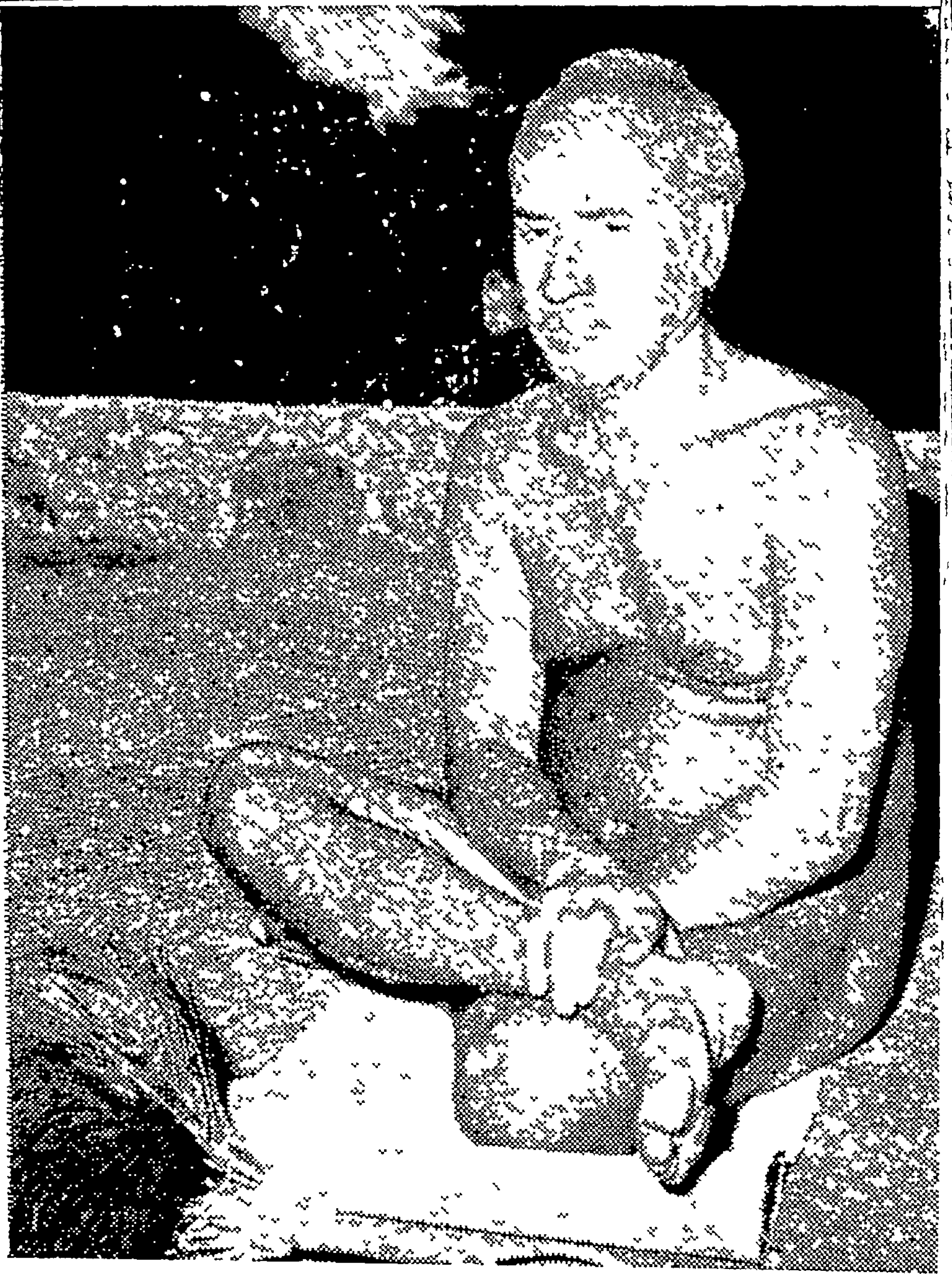


— પ્રત્તરજ્ઞેય શાલ દર્શને મળતર વિદ્વાન્ જો વિદ્યારાય પાણ ને  
વિદ્યારાયો જો સન્નિવિત કરને હ્યે ।

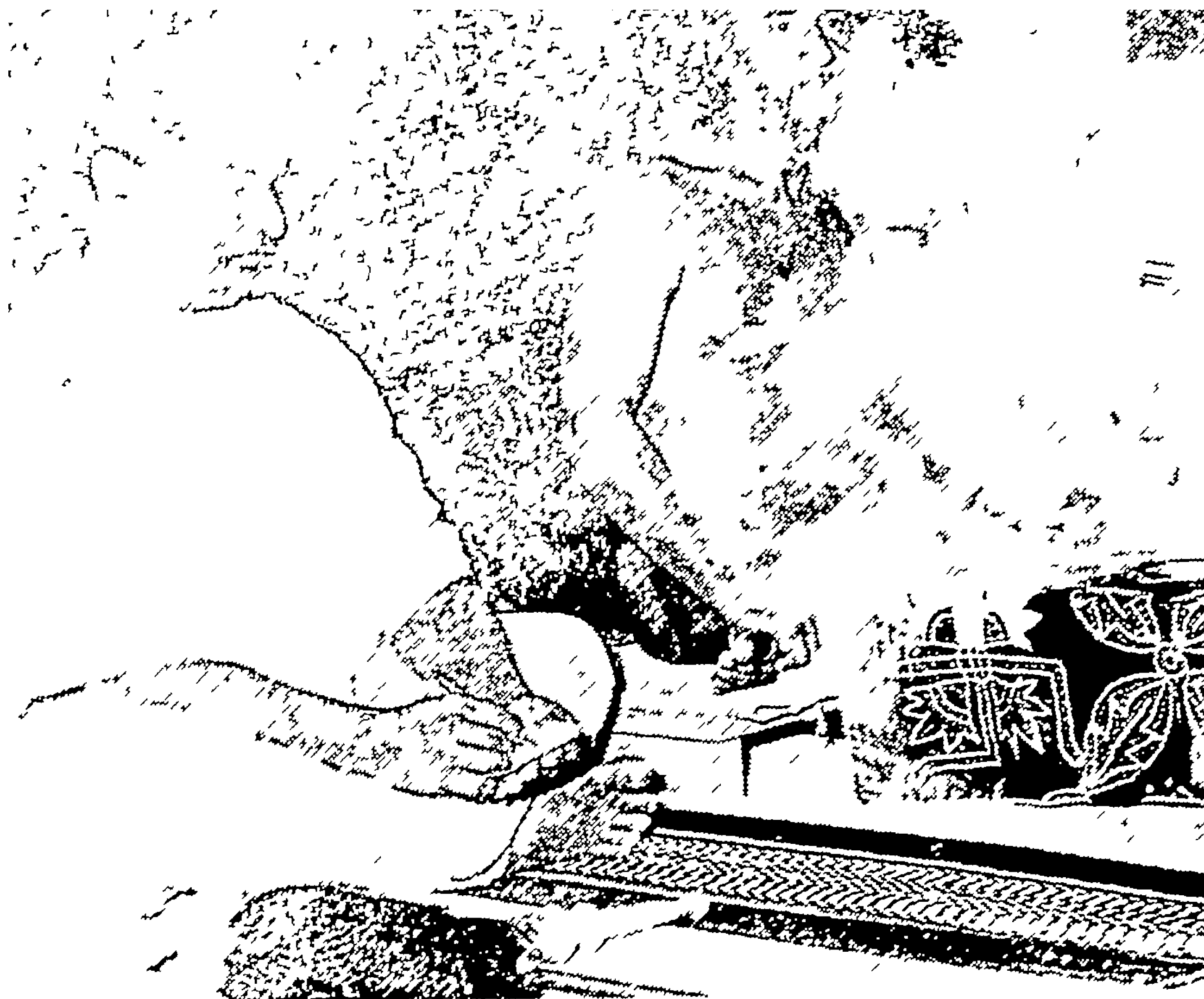
— ગુતાર્નઃ નગર જગપુર ને મુનિ શ્રી ના સ્વામિ ગુલ્લ







बाहर-भीतर नित्य दिगम्बर, निर्लिप्त हे जानी,  
शाश्वत आत्म-तन्त्र की कीमत तुमने पहचानी ।  
भौतिक लुब्ध के आज नहीं कल, उठेगे मेले सारे,  
'समयनार' को इसने पाने आतुर चरण तुम्हारे ॥



- ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਦੇ ਲਾਜ ਨਿਰਵਾਹ ਨੂੰ ਸੰਭਾਲਣ ਵਾਲੇ ਹੋਣੇ ਸੁਨਿਯੋ
- ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਦੇ ਸੇਵਾਦਾਰਾਂ ਨੂੰ
- ਸੁਨਿਯੋ, ਜਿਸ ਸੇਵਾਦਾਰ ਨੂੰ ਸਰਬੋਤਮ ਤੌਰ 'ਤੇ ਸੁਝਾਵਾਂ ਅਤੇ ਹੋਰ ਗੱਲਾਂ ਹੋਣ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ





# स्कूल आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माण शाला है

स्कूल ही आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माणशाला है । जहाँ बच्चों को स्वावलम्बन व सादगी की शिक्षा के साथ आध्यात्मिक शिक्षा भी देनी चाहिये । विद्यार्थियों को एकनिष्ठ होकर शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये । कौए की भाँति चंचलमन रखने वाले विद्यार्थी कभी बुद्धिमान नहीं बन सकते ।

आज भारत में सविधान लागू किये तीस वर्ष हो गये । भारतीय सविधान में स्वीकार किये गये सिद्धान्त बहुत मौलिक हैं ।

विश्व में, अनेक देशों में सत्ता के लिये संघर्ष चलता रहा है । उन्होंने हिंसा का मार्ग अपनाया, अपने नेताओं को जेलों में रखा, या उन्हें गोली से भून दिया । इस भारत देश में भी तीस वर्ष में अनेक संघर्ष चले, पर सब अहिंसात्मक रूप से चले । संघर्ष तो चलता है, पर उसका मार्ग व उद्देश्य पवित्र होना चाहिये, भारत में यह विचारधारा आज भी सुरक्षित है । वर्तमान में ही इस देश में सत्ता परिवर्तन हुआ है, पर उसमें भी हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया गया । जनता ने व नेताओं ने चुनावों के द्वारा ही सत्ता का परिवर्तन किया । पद-प्राप्ति भी अहिंसा व हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही की । उन्होंने हिंसा को नहीं अपनाया । भारत का यह प्राचीन सिद्धान्त रहा है ।

विद्यालयों में भाँकियों के माध्यम से गरीबों की सेवा, चिकित्सा-पद्धति, रोगियों की सेवा, परोपकार व सेवा भाव का पाठ पढ़ाना चाहिये ।

ऐसी भाकियों का वच्चो पर अच्छा असर पडता है। ऐसी भाकियों से उन्हे माता-पिता की सेवा, गरीबों की सेवा, दुखियों के प्रति दया की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य के साथ-साथ घायल पशु-पक्षियों की सेवा सुश्रूपा व उनके प्रति भी दयाभाव दिखाना चाहिये। वच्चो को सिखाना चाहिये कि वे किसी भी पशु-पक्षी को घायल न करें, तब ही राष्ट्र की परम्परा व प्रकृति की शोभा कायम रह सकती है। विद्यालयों में कभी भी हिंसात्मक व दुराचार की भाकियाँ जैसे—चाकू दिखाकर महिलाओं के गहने व पुरुषों से धन लूटना आदि नहीं दिखानी चाहिये। इससे वच्चो पर बहुत गलत प्रभाव पडता है, इससे वे गलत शिक्षाये ग्रहण कर लेते हैं, इन्हीं के परिणामस्वरूप अराजकता व अव्यवस्था फैलती है। बालक राष्ट्र की सेवा पर ध्यान दे, अपने कर्तव्य निभाये व आदर्श नागरिक बनें।

प्राचीनकाल में तक्षशिला व नालन्दा ये दो विश्वविद्यालय (भारत में) थे। वहाँ के इतिहास व खुदाई आदि से प्राप्त अवशेषों से ज्ञात हुआ है कि उस समय का विद्यार्थी पूर्ण रूप से स्वावलम्बी था। वह अपना कार्य अपने हाथ से करता था। उस समय वहाँ व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। सभी धर्म व दर्शनों का ज्ञान कराया जाता था, अपने धर्म व दर्शन के प्रति निष्ठावान् रहने की प्रेरणा दी जाती थी। सभी भाषाओं के प्रति प्रेम व वात्सल्य रखना सिखाया जाता था।

कौए की भाँति चंचल मन रखने वाले विद्यार्थी कभी बुद्धिमान नहीं बन सकते। कवि कालिदास ने इक्ष्वाकु वंश की परम्परा बताई है, उस परम्परा को आज के बालकों को अवश्य सिखानी चाहिये, वह परम्परा आज के युग में भी बहुत उपादेय सिद्ध होगी। उन्होंने कहा है—प्राचीन गुरुकुल प्रणाली यह रही है कि विद्यार्थी अध्ययन की पूर्णता के पूर्व किसी भी राजनैतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेते थे, एकनिष्ठ होकर विद्या-प्राप्त करते थे, उसमें प्रवीण होते थे। युवावस्था में जब अध्ययन समाप्त कर चुकते थे तब देश, समाज, माता-पिता व परिवार के प्रति अपना कर्तव्य पालन करते थे। वृद्धावस्था में त्याग व सादगी के साथ जीवन यापन करते थे, मरणोन्मुख होने पर भगवान् का नाम स्मरण करते हुये शरीर त्याग देते थे।

आज भी हमें इसी परम्परा को निभाने की आवश्यकता है। विद्यार्थियों को विद्याध्ययन की समाप्ति तक किसी भी प्रकार के राजनैतिक विवादों में, कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिये। उसे तो विद्याध्ययन को ही

एकमात्र लक्ष्य मानकर चलना चाहिये । अपने अध्ययन में मन लगाकर उस क्षेत्र में प्रवीण होना चाहिये । राष्ट्र व समाज के प्रति, माता-पिता व परिवार के प्रति पूर्णरूप से वफादार होना चाहिये ।

भारत में जन्म को ही नहीं, मरण को भी मागलिक माना गया है । हमारे जवानों ने, भगवान् का नाम स्मरण करते हुये, हँसते हुए देश के लिये प्राण न्यौछावर कर दिये । महाराणा प्रताप व भामाशाह की भाकियाँ इन वच्चों में इसी प्रकार के आदर्श व सस्कार उत्पन्न कर सकती हैं । भामाशाह के द्वारा देश के लिये अपनी सारी सम्पत्ति दान दे देना, बहुत सुन्दर आदर्श है । इन वच्चों को भी यही सीखना चाहिये कि हमें बुद्धिमान, चारित्रवान, शूरवीर व दानी बनना है । देश को ऐसे ही कर्णधारों की आवश्यकता है जो इन गुणों से परिपूर्ण हों । आध्यात्मिक शिक्षा भी देना चाहिये । वच्चों को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से स्वावलम्बन व सादगी की शिक्षा लेनी चाहिये ।

भारत एक शांति प्रधान अहिंसात्मक देश है । प्रत्येक स्कूल व कॉलेज में अहिंसा व कर्तव्य पालन की शिक्षा देनी होगी । हमें तो विश्व में आदर्श प्रस्तुत करना है कि समस्त पड़ोसी राज्य भी हमसे शिक्षा लेकर शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करें ।

आज वैज्ञानिक उपलब्धियों से समस्त विश्व एक सूत्र में बंध गया है । एक दूसरे के निकट आ गया है, ऐसे समय में हमें अपने आदर्शों को छोड़ना नहीं चाहिये, अपितु उन्हें दूसरों के सामने स्वयं पालन करते हुये प्रस्तुत करना चाहिये । अपनी भारतीय आचार-विचार व संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए, उनको भूलना नहीं चाहिये, भारतीय वेशभूषा ही धारण करनी चाहिये । महात्मा गांधी ने गोलमेज परिषद् में भी अपनी वेशभूषा को नहीं छोड़ा ।

देश के निर्माण में अध्यापकों का भी बहुत उत्तरदायित्व है, यद्यपि आज अध्यापकों के सामने अनेक समस्याएँ हैं, फिर भी उन्हें देश के लिये अच्छे नागरिक तैयार करने के लिये तत्पर रहना चाहिये । उनके त्याग व आदर्श का वच्चों पर भी अच्छा असर पड़ेगा । स्कूल ही आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माण-शाला है । सब विद्यार्थी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये देश, समाज व परिवार का नाम रोशन करें, तभी शिक्षा की सफलता है ।



सफलता का सूत्र—

## श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र साधन

सम्यक्दर्शन विश्वास ही है, जिसके साथ ज्ञान भी आवश्यक है व आचरण भी । विना क्रिया के किसी भी ज्ञान का महत्त्व नहीं है । श्रद्धा व ज्ञान के साथ आचरण की आवश्यकता है ।

समार मे समस्त वस्तुये अनगढ होती हैं, कच्चा माल कहलाती है, चाहे वह खान से निकले चाहे पहाड से । उसे फैक्ट्री मे डालकर शुद्ध किया जाना है, उसके साथ जिन अन्य तत्वो का मयोग रहता है, उन्हें दूर किया जाता है । जैसे—खान से मोना निकलता है उसके साथ कीट कालिमा आदि का मयोग रहता है, भरनो मे, पहाडो मे पानी आता है, उसमे भी कुछ दोष रहते हैं । इनके दोषो को प्रयत्नो मे दूर किया जाता है । मोने की कालिमा दूर की जाती है, पानी के दोष दूर किये जाते हैं । कच्चे-माल मे शुद्ध-वस्तु प्राप्त करने के लिये, उसे परिशुद्ध करने के लिये प्रयत्न किया जाता है । लोहे को लें, उसे भी भट्टी मे डालकर शुद्ध किया जाता है । हीरे को लें, उसे भी मान पर चटाकर नाफ चमकदार किया जाता है । रेती मे कुछ निश्चिन्न टिग्री का नाप देने पर काच बनाया जाता है । तब उस काच के आर-पार दिग्याई देने लगता है, जबकि ग्नी के आर-पार दिग्याई नहीं दे सकता । विना प्रयत्न व प्रश्रिया के, कच्चे माल मे शुद्ध माल प्राप्त नहीं किया जा सकता । रत्न, हीरे, मोना, लोहा सभी को शुद्ध व चमकदार बनाने के लिये प्रयत्न करते हैं । चौरामी नाव योनियो मे यह आत्मा भ्रमण करता रहता है तब उसे निर्व्यादृष्टि ग्हा जाता है । उस समय यह भी कच्चा माल है, इसको भी प्रयत्न से परिशुद्ध किया जा सकता है व किया जाता है । उसको

शुद्ध करने का साधन फैक्ट्री मन्दिर शास्त्र आदि हैं । भ्रमण करती हुयी आत्मा कच्चा माल है, इसी को शास्त्रीय भाषा में मिथ्या दृष्टि कहा है । एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणी कच्चा माल है, ये मिथ्यादृष्टि हैं । मिथ्यादृष्टि कहते हैं, तो इससे नियमित होता है कि यह सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है । ससारी जीव पर अन्य का संयोग है, आवरण है । वह संयोग है अन्य परमाणुओं का, जड़ पदार्थ का, पुद्गल का, जैसे सोने में कीट कालिमा आदि का रहता है । जब तक इनका वियोग नहीं करते तब तक आत्मा परिशुद्ध नहीं हो सकता । वस्तु का विपरीत श्रद्धान होगा तब तक मिथ्यादर्शन दूर नहीं होगा । नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत ।

ससयविमोहविबभविज्जिय होदि सण्णारण ॥

अर्थात् विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, संशय, विमोह और विभ्रम रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है । विपरीत श्रद्धान—जैसे सीप में चादी का श्रद्धान कर बैठना । विपरीत श्रद्धान करना सहज है, यह शीघ्रता से हो जाता है, क्योंकि इसमें ज्ञान का उपयोग व परिश्रम नहीं के बराबर होता है । एक बार विपरीत श्रद्धान हो जाने के पश्चात् उसे छुड़ाना अत्यन्त कठिन है, जैसे—किसी ने कह दिया कि बलि चढ़ाना धर्म है, और सब भेड़-चाल से इसको मान बैठे । अब यह बलि धर्म नहीं है ऐसा समझना अत्यन्त कठिन हो गया । किसी को भी दुर्व्यसन लगा दें, फिर वह उसे छोड़ता नहीं है, जैसे शराब ही है । कुछ लोग तो डाक्टर द्वारा छोड़ देने के निर्देश देने पर छोड़ देते हैं, पर कुछ ऐसे भी हठी होते हैं जो डाक्टर के कहने पर भी नहीं छोड़ते और स्वयं की हानि करते हैं ।

विपरीत श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा, अन्धश्रद्धा सस्ती व सहज है पर सम्यक्त्व प्राप्त करना कठिन है । सत्य को जानने के लिये मिथ्यात्व का स्वरूप, उसका परिणाम आदि भी जानना होता है, जैसे प्रकाश के ज्ञान व उपादेयता के लिये अन्धकार का ज्ञान भी आवश्यक है ।

विपरीत श्रद्धा का प्रथम कारण है 'संशय' । इससे ज्ञान में सदिग्धता बनी रहती है । विपरीत श्रद्धा से धोखा प्राप्त होता है । पर अध्यात्म में धोखा देने वाले को दोष नहीं देते, बल्कि आपके ज्ञान में कमजोरी थी, आपकी स्वयं की गलती थी कि आप गलत को सही मान रहे थे, विपरीत श्रद्धा कर

बैठे थे, इसलिये आपने धोखा खाया, ऐसा कहा जाता है । अध्यात्म-शास्त्र किसी पर दोष नहीं डालता, दूसरे पर दोषारोपण नहीं करता, अपितु तुमने जो विपरीत श्रद्धा की, उसी का फल तो मिलेगा, ऐसा बताया जाता है । क्योंकि जो कुछ भी प्राप्त होता है वह कर्म के आधार पर । दूसरे ने कुछ हानि पहुँचायी है तो—तुमने पिछले जन्म में उसे हानि पहुँचायी होगी, ऐसा कर्म सिद्धान्त कहता है । कर्म-सिद्धान्त बहुत अद्भुत है ।

एक तपस्वी साधु ध्यान में बैठे थे । किसी ने आकर उन पर लाठी से प्रहार कर दिया । बहुत से लोग एकत्रित हो गये और इस क्रिया पर अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करने लगे । वे विभिन्न विचारधारा के लोग थे । चर्चा चलने लगी कि इस व्यक्ति ने तपस्वी को लाठी मारी । बताइये इसके बारे में कर्म सिद्धान्त क्या कहता है ? एक व्यक्ति ने बताया कि—इन तपस्वी का तो अशुभ कर्म का उदय था जो इनको लाठी का प्रहार सहन करना पड़ा और इस मारने वाले का शुभ कर्म का उदय है, क्योंकि इसने एक तपस्वी साधु को लाठी मारी है, जिनकी तरफ से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई । यदि यह किसी साधारण व्यक्ति पर प्रहार करता तो बदले में इस पर भी प्रहार होते । यहाँ इस पर किसी भी प्रकार का प्रहार (बदले में) नहीं हुआ । इसलिये इसका शुभ उदय है । पर कर्म-सिद्धान्त को मानने वाले व्यक्ति ने कहा कि—जिसने प्रहार किया उसके आगे के लिए अशुभवन्ध हुआ है, क्योंकि उसके भाव खराब हुये और इसीलिए यह उदय भी अशुभ कर्म का ही था । पर इन तपस्वी साधु ने शांति के साथ, समता के साथ अपने इस अशुभ उदय को सहन किया इससे ये निर्जरा कर रहे हैं ।

राजा श्रेणिक ने तपस्यारत मुनि पर उपसर्ग किया, उन्हीं की रानी चेलना ने उस उपसर्ग को दूर किया । उपसर्ग दूर होने पर मुनि ने आखे खोली और दोनों को समान भाव से आशीर्वाद दिया । यह देख श्रेणिक की आखों में आसू आ गये । चेलना ने पूछा—ये आसू किसलिये ? श्रेणिक ने कहा—अरे ! मैंने उपसर्ग किया था, उसका निवारण तुमने किया । इस बात को जानते हुये भी मुनि ने दोनों को एक साथ समान भाव से आशीर्वाद दिया । कितने समताभावी है । जिसने लाठी मारी उसको भी आशीर्वाद, जिसने पट्टी बांधी उसे भी आशीर्वाद, यही तो समताभाव है । ऐसा समताभाव वारहवें गुणस्थानवर्ती के ही होता है, इसी में अहिंसा की पूर्ण परिपक्वता प्रकट होती है । ऐसी परिपक्वता प्रकट होने पर ही उनके सामने एक ही घाट

पर गाय और शेर पानी पीते हैं। वातावरण निर्मल हो जाता है, वैमनस्य नष्ट हो जाता है।

महावीर ऋजुकूला नदी के तट पर तपस्या में लीन थे। उधर से एक वनगाय नदी पर पानी पीने आ रही थी। उसे पीछे से एक शेर ने देख लिया, वह उस वनगाय को मारने दौड़ा। वनगाय भी दौड़ी, एक झाड़ी में उसके बाल उलझ गये। वनगाय को अपने बालों के प्रति इतना मोह होता है कि चाहे जान देनी पड़े, पर बाल नहीं टूटना चाहिये। पीछे से शेर आ गया, किन्तु समीप ही तपस्या में लीन महावीर की तपस्या व अहिंसा के प्रभाव से उस शेर ने गाय को कोई क्षति नहीं पहुंचाई, अपितु उसके बालों को झाड़ी से सुलझा भी दिया।

पातजलि ने भी लिखा है कि जो तपस्वी अहिंसा की पूर्णता पर पहुंच जाता है, उसके सामने गाय व शेर एक घाट पर पानी पीते हैं, उसकी अहिंसा का बहिरंग में भी अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। भगवान् महावीर जिस वन में जाते थे। वहां के पेड़-पौधों व पशु व पक्षियों पर भी प्रभाव पड़ता था।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में बाधक हैं—संशय, विमोह व विपर्यय। संशय में सदिग्धता रहती है वस्तुस्थिति का निर्णय ही नहीं कर पाते। यह सर्प है या रस्सी है, आत्मा है या नहीं, वह शाश्वत है या अशाश्वत है? आदि सदिग्ध विचार रहते हैं। विपर्यय में विपरीत मान्यता होती है, सर्प को रस्सी समझने लगता है, देह को आत्मा मान बैठता है, ये दोष हैं। जहर को अमृत समझकर पीने से वह मारक ही सिद्ध होगा। ज्ञान व श्रद्धा दोनों ही होने चाहिये। यदि श्रद्धा है और ज्ञान नहीं है तो धोखा उठाना होगा और यदि ज्ञान है पर श्रद्धा नहीं है तो धोखा उठाना होगा। जैसे सूर्य में रोशनी व आतप एक साथ रहते हैं वैसे ही ज्ञान व श्रद्धा दोनों ही होनी चाहिये। धर्मात्माओं के लिए सम्यक् श्रद्धा व ज्ञान आवश्यक है। धर्मात्मा वह है जिसने आत्मा व परमात्मा के विश्वास के साथ आत्मानुभव भी किया है। धार्मिक व धर्मात्मा में अन्तर है। धर्म को मानना, इसके अंग को स्पर्श करने वाला धार्मिक है। धार्मिक तो सब हो सकते हैं, धर्मात्मा नहीं। धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि होगा, उसके तीनों दोष नष्ट हो चुके होते हैं।

श्रद्धा व ज्ञान के साथ आचार्यों ने आचरण की आवश्यकता को माना है। जैसे—एक सेवक फल है, उस पर यह श्रद्धा है कि इसको खाने से स्वास्थ्य

ठीक रहता है। यह सेव का फल है, यह भी ज्ञान है परन्तु जब तक उसका सेवन नहीं करेंगे, क्या वह लाभप्रद सिद्ध हो सकेगा ? केवल गुणानुवाद करने से ही कि यह बहुत ताकतवर है, बहुत लाभप्रद है, से वह लाभप्रद सिद्ध नहीं होगी, जब तक कि उसका सेवन न किया जावे। बिना क्रिया के किसी भी ज्ञान का महत्त्व नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग में बिना प्रयोग के, बिना क्रिया के, बिना प्रैक्टिकल के ज्ञान की कोई कीमत नहीं है।

किसान व बनिये के बच्चे कम पढ़े लिखे होने पर भी बचपन से, ही अपने परम्परागत व्यवसाय में क्रियाशील रहने से, प्रैक्टिकल ज्ञान होने से, व्यावसायिक दृष्टिकोण से सफलता प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर पढ़े लिखे होने पर, बड़ी-बड़ी डिग्रियों के साथ दर-दर भटकते रहते हैं—म्हाने चाकर राखो जी, म्हाने चाकर राखो जी। क्योंकि उन्हें प्रैक्टिकल, क्रियात्मक ज्ञान नहीं है। स्वावलम्बन की शिक्षा नहीं है। अतः श्रद्धा व ज्ञान के साथ आचरण की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन व ज्ञान के साथ आचरण नहीं हो तो वह लाभप्रद नहीं है। स्वाध्याय के साथ आचरण होगा तभी लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

स्वास्थ्य ठीक न होने पर, घर से दवा लेने के लिये निकलते हैं, शहर में। राह में आठ-दस दवाखाने हैं, परन्तु हम तो एक निश्चित दवाखाने में घुस जाते हैं, क्योंकि उसके प्रति हमारा विश्वास है कि वहाँ उत्तम चिकित्सा होती है। वहाँ हम उस चिकित्सक के सन्दर्भ में यह नहीं देखते कि वह दाढ़ीवाला है, या साड़ीवाला है, जैन है, ब्राह्मण है या मुसलमान है। वह चिकित्सक भी यह नहीं देखता कि रोगी स्त्री है या पुरुष है, जैन है, ब्राह्मण है या मुसलमान है। बिना भेदभाव के हम चिकित्सक के पास पहुँच जाते हैं और चिकित्सक भी बिना भेदभाव के चिकित्सा करता है। बाह्य - व्यवहार में प्रपञ्च में यह दुनिया विश्वास के आधार पर चल रही है। व्यापार आदि विश्वास पर चलता है। दुकान मालिक नौकर के भरोसे दुकान छोड़कर चले जाते हैं। यदि विश्वास में कमी आ जावे तो नौकर व मालिक दोनों ही दुखी हो जाते हैं। मालिक को हानि उठानी पड़ती है और नौकर को दूसरी नौकरी नहीं मिल पाती। विश्वासो फलदायक विश्वास ही फलदायक है। यदि पति पर विश्वास न हो तो पत्नी सती नहीं कहला सकती, मालिक पर विश्वास नहीं तो वह नौकर नहीं हो सकता, गुरु पर विश्वास नहीं तो वह शिष्य नहीं कहला सकता। सम्यग्दर्शन विश्वास ही है। पर विश्वास के साथ ज्ञान भी आवश्यक है व



आचरण भी । चिकित्सक पर विश्वास रखा, उससे निदान करवाया, दवा लिखवायी । वह चिकित्सक इन सबके साथ परहेज बताता है, दवा लेने की विधि बताता है, उन सबको जाना, ज्ञान कर लिया, बिना जाने तो दवा ले भी कैसे सकते हैं ? पर, घर आकर यह सोचा कि यहा चिकित्सक देखने तो आ नहीं रहा, वस परहेज नहीं किया, तो रोग-मुक्त हो सकेगा ? व्यवहार मे, लौकिक जगत् मे शरीर की निरोगता के लिये श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र, (विश्वास, ज्ञान व आचरण) की आवश्यकता है तो आत्मा की निरोगता के लिये कैसे आवश्यक नहीं है ? जब तक इनका विधिवत् पालन नहीं किया जायेगा, दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकेगी ।

---

गम्भीरो दुद्धरिसो, सूरु धम्मपहावणासोलो ।

खिदि ससि सायर सरिसो कुसलो एलादरियोहोदि ॥

गभीर दुर्द्धर्य, स्वसमय और परसमय के ज्ञाता, शूर, धर्मप्रभावनाशील, क्षिति-तितिक्षा से युक्त शशि और सागर के सदृश गुण एव कुशल श्रमण ही जिनशासन मे एलाचार्य पद के योग्य होते हैं ।

---

## सर्वोदय धर्म-तीर्थ ही तरणतारण है

धर्म वही है जो सबके लिये कल्याणकारी हो। धर्म सर्वोदय में, स्याद्वाद में, अनेकान्त के द्वारा प्राप्त हो सकता है। किसी एकान्त के माध्यम से धर्म प्राप्त नहीं हो सकता। विशाल दृष्टि रखने पर ही सकीर्णता की दीवार टूटेगी। जब तक दीवार मौजूद है—तब तक आगे की वस्तु दिखाई नहीं देगी।

प्रत्येक आत्मा में अग्नि विद्यमान है। आवश्यकता है एक चिनगारी की। शक्ति सुप्त है उसे जगाने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है। आत्मा के, परमात्मा के ध्यान से यह आत्मा शुद्ध हो सकती है।

इस विशाल—विश्व की ओर जाता-दृष्टा बनकर दृष्टिपात करते हैं, इसकी ओर उपयोग लगाते हैं—तो अनुभव होता है कि यह समस्त पृथ्वी-मण्डल इस विशाल आकाश के नीचे ही समाया हुआ है। आकाश के बाहर कोई प्राणी या कोई वस्तु नहीं है। आकाश कितना विशाल है, जिसके हृदय में सारे पदार्थ समाये हुये हैं? आकाश निर्लेप है। वर्षा हो तो आकाश गीला नहीं होता, हवा से यह सूखता नहीं, शस्त्र के द्वारा इसके टुकड़े नहीं किये जा सकते, अग्नि से यह जलता नहीं है। सब पदार्थ आकाश के नीचे रहते हैं, हवाई-जहाज, पशु, मनुष्य, पक्षी आदि इसी के नीचे उड़ते हैं, इसी के नीचे चलते हैं, पर यह किसी को बाधा नहीं पहुँचाता है। जो भी आये, रहे, उनको स्थान देना इसका धर्म है।

दो देशों के बीच में पृथ्वी पर सीमारेखा होती है। दोनों सीमाओं पर

सेना रहती है, उसके द्वारा सुरक्षा की जाती है, पर आकाश पर कोई सीमा रेखा नहीं होती। आकाश से उड़कर आने वाले पक्षी को कोई नहीं रोकता। यदि मानव आकाश मार्ग से या थल मार्ग से दूसरे देश में प्रवेश करता है तो उसे पासपोर्ट की आवश्यकता होती है, पर पक्षी को किसी पासपोर्ट की आवश्यकता नहीं होती, कोई उसे बंधन में नहीं डालता, वह स्वच्छन्द होकर एक देश से दूसरे देश की सीमा में प्रवेश करता है। मानव तो सीमाओं में कैद है, उन सीमाओं के बाहर जाने के लिये उसे अनुमति की, पासपोर्ट की आवश्यकता है, पर पशु-पक्षी स्वतन्त्र है। कोई साप, शेर आदि भी, बिना पासपोर्ट, एक देश से दूसरे देश में वे रोक-टोक आते-जाते हैं। अर्थात् प्रकृति स्वभाव से स्वतन्त्र है, वह किसी की स्वतन्त्रता में बाधक भी नहीं है। पर मानव ने अपने लिये अनेक बन्धन बना लिये हैं—उससे वह कूपमण्डूक बन सकीर्ण हो गया है। राजमहल से निकल कर शालवृक्ष के नीचे बैठ चिन्तन मनन में रत महावीर ने इसी प्रकार के विचारों का मन्थन किया, अनुभव किया। उन्होंने देखा कि मानव जीवन सीमित बना हुआ है, बंधन में बंधा हुआ है, अपने शरीर को ही नहीं मन व आत्मा को भी इसने गुलाम बना रखा है। जब तक मन स्वतन्त्र नहीं होगा तब तक आत्मा भी गुलाम ही रहेगी, स्वतन्त्र नहीं हो सकती। मुझे स्वयं को इसका अनुभव प्राप्त कर विश्व को बताना होगा कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। आध्यात्मिक विद्या या धर्म से ही आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति हो सकती है और धर्म केवल मानव के लिये ही नहीं है, धर्म प्राणी मात्र के लिये है, धर्म सार्वभौम है। जो सार्वभौम होगा वही मेरा सिद्धान्त है, जो मेरा सिद्धांत है वह सार्वभौम है, सर्वोदयी है। भगवान् महावीर के धर्म तीर्थ को प्रवाहित करते हुये श्री समन्तभद्राचार्य ने युक्त्यानुशासन में कहा है कि—

सर्वान्तवत्तद् गुणमुख्यकल्प, सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकर निरत, सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव ॥ ६२ ॥

हे तीर्थंकर महावीर ! आपका धर्मतीर्थ प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है—सर्वोदय है। जिसमें सामान्य विशेष, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, अस्ति-नास्ति रूप सभी धर्म गौण व मुख्य रूप से रहते हैं, ये सभी धर्म धर्मों में परस्पर सापेक्ष हैं, अन्यथा द्रव्य में कोई धर्म या गुण रह ही नहीं पायेगा। तथा यह सभी की आपत्तियों को दूर करने वाला है और किसी मिथ्याएकान्तवाद से इसका खण्डन नहीं हो सकता, अतः आपका यह धर्म-तीर्थ सर्वोदय-तीर्थ कहलाता है। त्रिलोकसार में लिखा है कि जैसे तुलसी वनस्पति का पत्ता है वह किसी जाति, मनुष्य या प्रान्त विशेष को लाभ नहीं देता, वह सबको समभाव

से लाभान्वित करता है। वनस्पति में समभाव है, वह अपना धर्म परिवर्तित नहीं करती, वह समानरूप से सबका हित करती है। प्रायः सब पदार्थों में सबके कल्याण की भावना निहित है। पशुओं में देखे तो गाय का दूध सबको समानरूप से शक्ति प्रदान करता है, हृष्ट-पुष्ट करता है, वह शूद्र के लिये जहर व ब्राह्मण के लिये अमृत नहीं बनता। समन्तभद्र स्वामी ने इसलिये आगे कहा कि—हे महावीर ! इसी प्रकार आपका धर्म प्राणीमात्र के लिए समान रूप से उपयोगी है। आपका अहिंसामय, सत्यमय, वात्सल्यमय धर्म भी सार्वभौम है, सर्वकल्याणकारी है। आपने सत्त्वेषु मैत्री का सिद्धान्त दिया है। आपका सर्वोदयी सिद्धान्त तीन लोक के सब प्राणियों के प्रति मित्रता रखने की शिक्षा देता है। मित्र कहते ही शत्रु का अहसास होता है, कोई व्यक्ति किसी का मित्र है तो इसका तात्पर्य है कि कोई उसका शत्रु भी है, पर हे भगवन् ! आपने सबसे मित्रता रखने के लिये कहा। हे महावीर ! सर्वोदय तीर्थ को यथार्थ रूप से समझने के पश्चात् कोई वैर-भाव, भूठा दम नहीं रख सकता। आपका धर्म तीर्थ है, यह धर्म अनादि काल से चलता आ रहा है, इसमें भेद-भाव को कोई स्थान नहीं है। यह तीन-लोक के लिये कल्याणकारी है। धर्म सर्वोदय में, स्याद्वाद में, अनेकान्त के द्वारा प्राप्त हो सकता है। किसी एकान्त के माध्यम से धर्म प्राप्त नहीं हो सकता।

महावीर के सत्त्वेषुमैत्री सिद्धान्त का मन्तव्य है कि—ऐसी भावना रखो कि समस्त प्राणी, जगत् मेरे मित्र समान है। इससे समस्त मानसिक द्वन्द्व, व्यथायें व शल्य दूर होंगे, समताभाव उत्पन्न होगा तभी दृष्टि सम्यक् बनेगी। कोई कहे कि—भारतीय सस्कृति के लिये राजस्थान की देन, तो कोई कहेगा कि—भारतीय सस्कृति के लिए कर्नाटक की देन, तो कोई केरल की देन की महिमा गाने लगेंगे, पर ये सब तो एकान्त दृष्टिकोण रहेंगे। भारत को अखण्ड रूप में देखना चाहिये। जब इन सबका समन्वय कर यह कहे कि विश्व की सस्कृति को भारत की देन, तो राजस्थानियों, कर्नाटकों व केरलवासियों की सकीर्ण दृष्टि दूर हो जायगी। विशाल-दृष्टि रखने पर ही सकीर्णता की दीवार टूटेगी। जब तक दीवार मौजूद है तब तक आगे की वस्तु दिखाई नहीं देगी, जब सकीर्णता की दीवार टूटेगी तभी दृष्टि विशाल होगी और तभी वह सबके लिए कल्याणकारी होगी।

हे महावीर ! आपका धर्मतीर्थ सर्व कल्याणकारी है, सर्वोदयी है। इसमें सबका अभ्युदय निहित है। इसको स्पष्ट करते हुये पूज्यपाद आचार्य ने कहा—‘क्षेमं सर्वप्रजानां’, उन्होंने किसी प्रान्त विशेष, देश विशेष या जाति

विशेष के क्षेम के लिये नहीं कहा, सर्वप्रजा के क्षेम के लिये कहा । विशाल विश्व की समस्त प्रजा सुखी रहे, यही उनकी भावना थी । उनकी दृष्टि विशाल है, यह नहीं है कि मैं सुखी रहूँ, चाहे कोई और सुखी रहे या नहीं । ऐसे में कोई जीवित नहीं रह सकता, बगल की भोपड़ियों को आग लग गई हो तो आप अपनी बीच की भोपड़ी को कैसे बचा सकते हैं ? बगल की भोपड़ियों की आग बुझानी होगी तभी आपकी भोपड़ी बच पायेगी । पड़ोस के देशों में अकाल पड़ रहा हो तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना होगा । भगवान् महावीर ने अपने केवलज्ञान की प्राप्ति व अनुभव से जगत् को विशाल दृष्टि दी, अपने चिन्तन को सीमित दायरे में बाधकर नहीं रखा, उन्होंने कहा—आप विशाल दृष्टि रखो । आकाश में तैरो, कुये के मेढक जैसे सीमित दृष्टि मत रखो । विशाल ज्ञान-समुद्र में तैरो । आपके ज्ञान से, तीन-लोक के सारे प्राणी शांति प्राप्त कर सकते हैं, शांत रस में नहा सकते हैं । अपनी आत्मा को परमात्मा बनाओ । उन महावीर के सर्वोदय तीर्थ में सब भव्य प्राणी नहा सकते हैं व आत्मा से परमात्मा बन सकते हैं । भगवान् के धर्मतीर्थ में कोई भेदभाव नहीं है, गरीब अमीर, पशु-पक्षी सब धर्म का पालन कर सकते हैं । एक अकिंचन भी धर्म पालन कर सकता है तो एक मेढक भी धर्म-पालन कर सकता है और एक जरायु भी । उनका धर्मतीर्थ सर्वोदय के भाव को लिये हुये है । जैसे सूर्य की किरण सबके लिये प्रकाशमय है वैसे ही महावीर के सिद्धान्त भी सबके उद्धार व अभ्युदय के लिये है । वस्तुतः धर्म वही है जो सबके लिये कल्याण-कारी हो ।

भगवान् महावीर के द्वारा प्रदत्त सिद्धान्तों का चिन्तन-मनन करने पर दृष्टि विशाल होती है, मन की सकीर्णता दूर हो जाती है, चिन्तन-मनन सब एक रूप हो जाते हैं । धर्म एक है, पर उसके एक-एक अंग को पृथक् मान कर उसी को पूर्ण धर्म समझ बैठते हैं, यह एकान्त है । विश्व धर्म एक है, वह है 'अहिंसाधर्म' । मैं अहिंसा पर इसीलिये सर्वाधिक बल देता हूँ और इसी दृष्टि से विश्वधर्म की जय बोलता हूँ, विश्व के विभिन्न धर्मों की नहीं । साधनावस्था में धर्म का एक अंग रहता है, साध्यावस्था होने पर धर्म पूर्ण होता है ।

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है अपने शुभाशुभ के लिये । एक बार गलत मार्ग पर चलने पर लौटना कठिन होता है । धर्म ही तरण तारण है, इसके सिवा और कोई तरणतारण नहीं हो सकता । महावीर व राम भी धर्म के आधार से ही तिरें हैं, धर्म पशु-पक्षी को भी तिराता है ।

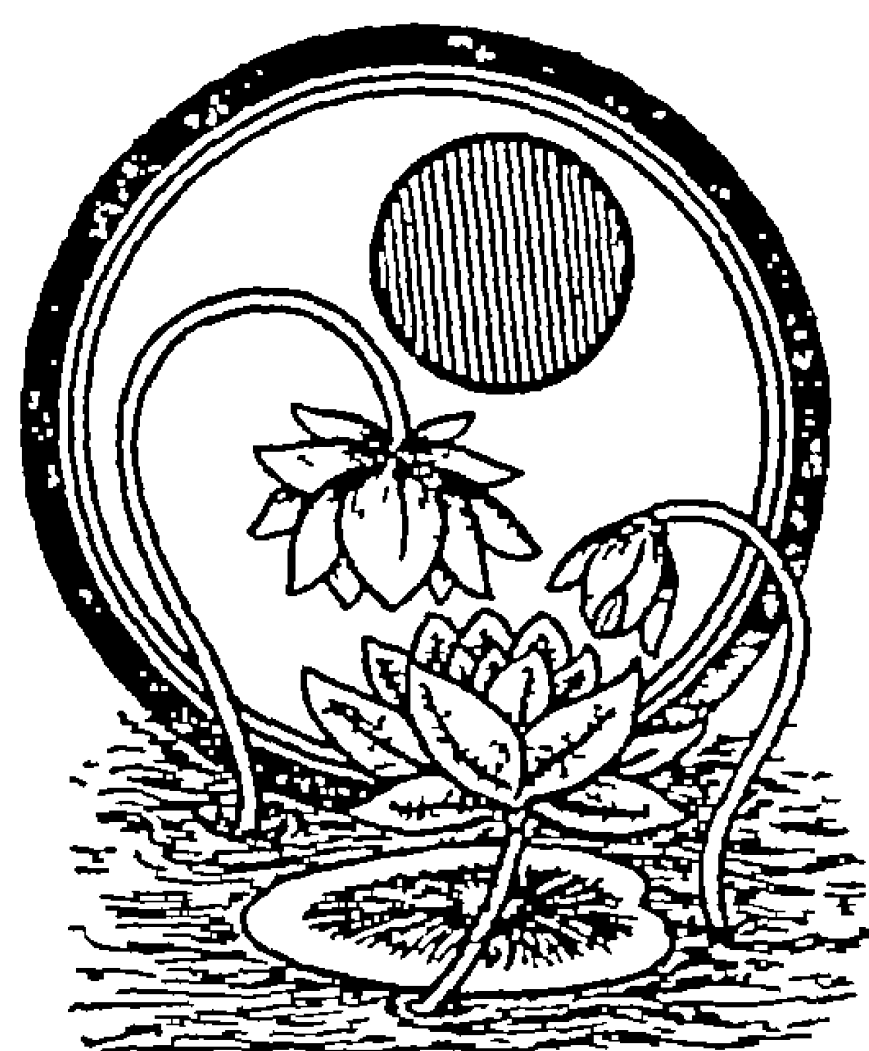
एक तालाब का काफी पानी सूख गया, थोड़ा सा पानी बीच में बचा था। एक हाथी पानी पीने आया, बीच में पानी देख वह बढ चला किन्तु वह बीच ही में कीचड़ में फस गया। हाथी चिल्लाने लगा। उसकी चिंघाड़ मुनकर नदी के आस-पास के विलो में से कुछ चूहे निकल कर आये। उन्हें हाथी की दशा देखकर दया आ गई। हाथी को कीचड़ से निकालने के लिये वे सारे चूहे को बुला लाये, एक रम्मी हाथी के सूँड में बांधकर वे हाथी को खींचने लगे, किन्तु हाथी कीचड़ में से निकल नहीं सका। थोड़ी देर बाद एक कुत्ता आया। उसे भी हाथी पर दया आई वह भी बहुत सारे कुत्तों को बुला लाया। वे हाथी को निकालने की कोशिश करने लगे, पर हाथी उनसे भी न निकल सका। वे सब मनुष्य को बुला लाये। मनुष्य ने हाथी को रस्सी से बांध दूसरे हाथी के द्वारा खिंचवाया, तब वह हाथी कीचड़ से निकल गया। अर्थात् फसे हुये हाथी को हाथी ही निकाल सकता है। उसी प्रकार संसार-पक में फंसी आत्मा को आत्मधर्म ही उबार सकता है, वस्तुतः धर्म ही तरणतारण है। आत्मा का, परमात्मा का ध्यान ही आत्मा को पार लगा सकता है। परमात्मा के वीतराग मार्ग, सर्वोदय धर्म को अपनाने से ही आत्मा परमात्मा हो सकता है, यह सर्वोदय धर्म प्रत्येक आत्मा में है, अन्तर केवल इतना है कि किसी ने इसको विकसित कर लिया है, जगा लिया है, किसी ने नहीं। प्रत्येक आत्मा में अग्नि मौजूद है। आवश्यकता है एक चिनगारी की, तीली की, जो उसे प्रकाशित करदे। शक्ति सुप्त है, उसको जगाने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। आत्मा के, परमात्मा के ध्यान से (ध्यानान्नि से) यह आत्मा शुद्ध हो सकती है। सम्यग्ज्ञान से यह आत्मा पवित्र होगी। हमारे अनेक ऋषि, मुनि, तपस्वियों ने, ज्ञानियों ने, सम्यग्ज्ञान रूपी जल दिया है जिससे हम अपनी आत्मा को प्रक्षालित कर पवित्र बना सकते हैं। कृष्ण ने भी कहा है कि—दुनिया में कोई चीज पवित्र है तो केवल ज्ञान है—नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते। समस्त संसार को पहचानने की शक्ति ज्ञान में है।

सर्वोदय की भावना सब पदार्थों में है, शिक्षा लेने वाले पर निर्भर करता है कि वह किससे शिक्षा लेता है। एकेन्द्रिय वृक्ष छाया, फल, पत्ते, लकड़ी आदि प्रदान करता है। जब एकेन्द्रिय वृक्ष इतना उपकारी है तो क्या पचेन्द्रिय मानव इससे भी गया बीता है? किसी का उपकार-भलाई न करने पर, सिर्फ अपने लिये ही जीने पर, जीवन को व्यर्थ गंवाने पर हमारी अनपढ़ ग्रामीण महिलायें भी कह उठती हैं कि ऐसे व्यर्थ की जिन्दगी से तो तू पत्थर ही हो जाता तो ठीक रहता, जिससे चक्की बनकर आटा पीसने के, दूसरे के

कुछ काम तो आता । एक व्यक्ति परार्थ में, सेवा कार्यों में ही जीवन व्यतीत करता है तो एक व्यक्ति केवल स्वार्थ में, अपने ही कार्यों में जीवन व्यतीत कर देता है । एक पत्थर आराध्य की मूर्ति बनकर, साकार से निराकार की ओर जाने का साधन बन जाता है और एक पत्थर किसी का सिर फोड़ने का साधन बन जाता है । दोनों में श्रेष्ठ कौनसा है ? आप ही निर्णय करें । एक कारीगर पत्थर को भगवान बना देता है, पर क्या स्वयं नहीं बन सकता ? एक प्रतिष्ठा-चार्य मूर्ति में मन्त्र फूँककर उसे प्रतिष्ठित कर देते हैं, पर वे स्वयं की आत्मा में मन्त्र नहीं फूँक सके इसलिये स्वयं प्रतिष्ठित न हो सके, स्वयं प्रकाशमान नहीं हो सके । सर्वोदयतीर्थ कहता है कि आप स्वयं अपनी आत्मा को भगवान बनाओ । इसलिये भगवान महावीर के सिद्धांत में कहा कि—

सपूजको को प्रतिपालको को  
यतीन को यतिनायको को  
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले  
कीजे सुखी हे जिन शांति को दे ।  
होवे सारी प्रजा को सुख,  
बलयुत हो धर्म धारी नरेशा ॥

अर्थात् सबका कल्याण हो, शांति प्राप्त हो । सबके कल्याण की भावना करो । इन्हीं भावनाओं के साथ स्वयं प्रकाशवान बनकर दूसरों को प्रकाश दिखाओ । स्वयं ही ससार में फसे रहोगे तो दूसरे को क्या मार्ग दिखाओगे ? दृष्टि को विशाल बनाकर प्राणीमात्र के कल्याण की बात करो । सम्यग्दृष्टि सकीर्णता में नहीं डूबता ।



## दान धर्म का सलाहकार है

आहार-दान की भाति ही औषधदान हेतु कुछ लोग शिविर लगाने, चिकित्सा प्रशिक्षण देने व तन-मन-धन से गरीब रोगियों का उपचार करने के लिये तत्पर हो जाये, तो देश की समस्या हल हो जाये। सरकार अकेली कुछ नहीं कर सकती—उसे जनता का सहयोग चाहिये। दान धर्म का सलाहकार है।

हमारे शास्त्रों में चार प्रकार के दान का उल्लेख है—ज्ञानदान, औषधदान, आहारदान व अभयदान। ज्ञानदान का प्रभाव, महत्त्व, भव-भवान्तर तक चलता है। एक भव से दूसरे भव तक चलता रहता है। देशना-लब्धि तब तक चलती रहती है जब तक आत्मानुभव न हो जाये। चारों दान उत्तम हैं, पर ज्ञानदान का सर्वाधिक महत्त्व है। माघनदि आचार्य ने शास्त्रसार समुच्चय में बताया है कि—

**आलस्यो मंदबुद्धिश्च, सुखिनो व्याधि-पीडित ।**

—अर्थात् ज्ञान प्राप्ति में आलस्य, मंदबुद्धि, सुख-सुविधाओं की अधिकता, व्याधि, व्याधि, रोग-पीडा आदि बाधक है। जो आलसी होगा, वह कभी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। मंदबुद्धि होगा तो वह भी ज्ञान-ग्रहण नहीं कर सकेगा। सुविधाओं की बहुलता होगी तो भी वह ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकेगा। स्वास्थ्य ठीक न हो, तो धर्म पालन कैसे होगा? 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं' यह हमारी भारतीय मान्यता है। इस लोक में, जन्म में अच्छे परिणाम नहीं तो आगे शुद्ध सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? भारतीय धर्म व संस्कृति में इन चारों दान का अत्यन्त महत्त्व है। दान धर्म के सलाहकार हैं। धर्म की प्राप्ति के साधन हैं। इनके बिना धर्म की बात, व्यावहारिकतः थोथी है। जब तक व्यवहार में हैं, मुक्त नहीं होते, तब तक चारों दान का अत्यन्त महत्त्व है।



व्यवहार में धर्मशाला, मंदिर आदि बनवाना वस्तुका दान है। इसका भी बहुत महत्त्व है।

एक शहर में एक मुनिराज का चातुर्मास हुआ। उस शहर में एक अत्यन्त कजूस सेठ रहते थे, वे कभी भी किसी को दान नहीं देते थे। उनकी पत्नी अत्यन्त धर्मिणी एवं दयालु थी। उसकी मुनिराज को आहार देने की बहुत इच्छा थी, परन्तु सेठजी नहीं देने देते थे। एक दिन सेठजी प्रातः काल ही किसी कार्यवश दूसरे शहर जाने के लिये घर से रवाना हो गये। सेठानी ने सोचा कि यह अवसर अच्छा है। उसने कजूस सेठजी की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर अपने घर मुनिराज के लिये चोका बनवाया और मुनिराज को आहार करवाया। सेठजी के कार्य में कुछ व्यवधान हो जाने से वे दूसरे शहर नहीं गये और घर लौट आये। घर पर उन्होंने जो कुछ देखा उससे ज्ञात हुआ कि मुनिराज को आहार कराया गया है। उन्होंने पहले तो सेठानी से झगडा किया, फिर पूछा कि इसमें कुल कितना खर्च बैठा तो सेठानी ने बताया कि कुल दस रुपये। सेठ ने कहा—अच्छा ठीक है। मैं यह रुपये मुनिराज से वसूल करूंगा। यह कहकर वह मुनिराज के पास गया। पर मुनिराज मंदिर में नहीं थे, वे तो जंगल में तपस्या के लिये चले गये थे। सेठ उन्हें तलाशता रहा। मुनिराज जिस जंगल में गये उसमें बहुत हिंस्र-पशु थे। वहाँ एक भील-युगल रहता था, उन्होंने मुनिराज को आगे जंगल में जाने से रोका कि—हे साधुराज ! रात होने वाली है, आप आगे मत जाइये। आज की रात हमारे मकान (जो दो मजिला था) में ही व्यतीत कीजिये, प्रातः ही पधारिये। मुनिराज ने उनका आग्रह स्वीकार कर लिया और दूसरी मजिल पर चले गये। बाहर गैलेरी में वह भील युगल लकड़ी लेकर रात पर पहरा देने के लिये खड़े हो गये, जिससे जंगली पशु मकान में न घुस पावें। आधी रात में भील-पुरुष को नींद का भोका आ गया और वह दूसरी मजिल से नीचे आ गिरा। नीचे हिंस्र-पशु खड़े थे, वे उसे ले भागे और मार डाला। भीलनी बहुत दुःखी हुई, किन्तु फिर भी चुपचाप खड़ी रहकर मुनिराज की सुरक्षा करती रही। प्रातः मुनिराज जंगल की ओर विहार करने लगे तब भीलनी को आशीर्वाद प्रदान किया। आशीर्वाद में भी बहुत शक्ति होती है। मा के द्वारा खिलाई जाने वाली सूखी रोटी भी अमृत के समान प्रतीत होती है, क्योंकि वह वात्सल्य-भावना से ओत-प्रोत होकर खिलाती है। होटल में बहुत अच्छा खाना भी खाते हैं तो भी वह आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। मुनिराज ने कहा कि—वह भील युवक दान की पवित्र भावना के साथ मरा है, उसे सद्गति प्राप्त

हो, यही हमारा आशीर्वाद है। मुनि जंगल की ओर चल दिये। कुछ समय बाद वे दूसरे शहर की ओर गये। सेठजी उनकी ताक में बैठे ही थे, वे वहाँ पहुँच गये। उन्होंने मुनिराज को प्रणाम किया और कहा—मुनिराज! आपने उस शहर में चातुर्मास किया था? मुनिराज ने कहा—हाँ, किया था। सेठजी ने कहा—उस समय आपने मेरे घर पर मेरी अनुपस्थिति में आहार किया था, मेरे दस रुपये खर्च हो गये थे। आप मेरे दस रुपये लौटाइये। मुनिराज परिग्रह-त्यागी, कहाँ से रुपये दे? सेठ ने कहा—आपके बहुत भक्त हैं, किसी से मागकर देदे। मुनिराज हैरान। वे किमसे रुपये मागे? सेठजी भी अपनी जिद पर अड़े रहे। मुनिराज! अमुक शहर के राजा-रानी आपके परम भक्त हैं, आप उनके नाम हुण्डी लिख दीजिये, वे मुझे दस रुपये दे देंगे। मुनिराज बहुत असमजस में पड़ गये, वे हुण्डी क्या जानें? परेशान हो, उन्होंने एक पत्र पर रामोकार मंत्र लिखकर दे दिया और कहा—जाओ अमुक राजा-रानी को दे दो। सेठजी उस शहर में पहुँचे। द्वारपालो से कहा—मुनिराज ने यह पत्र लेकर राजा की सेवा में भेजा है। द्वारपाल ने उन्हें अन्दर भेज दिया। सेठजी ने कहा—यह आप लोगो के लिये मुनिराज ने भेजा है, राजा ने पत्र पढ़ा। उस समय रानी प्रसव-वेदना से पीड़ित थी। राजा ने उन्हें यह पत्र दिया, कहा—मुनिराज ज्ञानी है, उन्होंने तुम्हारे कष्ट निवारण हेतु यह मंत्र भेजा है, इसे पढ़ो। रानी ने वह मंत्र पढ़ा और तत्काल एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजा ने पुत्र प्राप्ति व मुनिराज का पत्र लाने की प्रसन्नता में पत्रवाहक सेठजी को खूब धनधान्य भेंट किया। उसी समय वह नवजात बालक बोल उठा कि “अरे सेठ! मैंने केवल एक रात भील रूप में मुनिराज को वस्तिका-दान दिया था। उसी रात मेरी मृत्यु हो गई। उस वस्तिका दान के फलस्वरूप मैं आज इतने उच्च कुल में, धर्मप्राण कुल में जन्मा हूँ। आहारदान की तो तुलना ही नहीं है। एक आस आहार (मुनि को) दान करने का पुण्य फल सुमेरु-पर्वत जितना प्राप्त होता है। तू उस आहार-दान का पैसा वसूल करना चाहता है। धिक्कार है तुझे।” यह सुन कर सेठ लज्जित हो गया, उसे दान का महत्त्व समझ में आने लगा और वह राजा से प्राप्त धनधान्य को स्वीकार करने से इन्कार करने लगा।

आहार-दान की भाँति औषध-दान भी बहुत उत्तम है। शुद्ध-औषधि का मिलना, वह भी त्यागी-व्रतियों के लिये, अत्यन्त कठिन है। पर आपके जयपुर शहर में श्री मुशीलजी ने ‘वैयावृत्य-भवन’ की स्थापना कर त्यागी-व्रतियों के लिये शुद्ध औषधि की व्यवस्था की है, वह निश्चय ही सराहनीय

है । यदि कुछ और लोग शिविर लगाने, चिकित्सा प्रशिक्षण देने व तन-मन-धन से गरीब रोगियों का उपचार करने में सुशीलजी की भाँति तत्पर हो जायें तो देश की समस्या हल हो जाये, ऐसी चीजों को प्रोत्साहन देना चाहिये । वास्तव में केवल सरकार ही सब कुछ नहीं कर सकती । उसे जनता का सहयोग चाहिये । जनता स्वयं अपने भाईयों के लिये, उनकी सेवा हेतु आयुर्वेदिक चिकित्सालय खोले तो बहुत लाभप्रद होगा । आदर्श नगर में भी भाईयों ने 'महावीर कल्याण केन्द्र' खोला है, नि सन्देह वह भी प्रशंसनीय है । औषधदान भी धर्म-ज्ञान ग्रहण, पालन करने में अत्यन्त सहायक है ।

एकमात्र चीन देश में शत-प्रतिशत गाँवों में चिकित्सा सेवा विद्यमान है । अमेरिका जैसे विकसित देश में भी अस्सी प्रतिशत गाँवों में ही यह सुविधा उपलब्ध है, बीस प्रतिशत में अभी भी उपलब्ध नहीं है । हमारे यहाँ एक डाक्टर पर तीन-चार लाख के लगभग रुपया खर्च हो जाता है, पढ़ने व अनुभवी होने तक दस बारह वर्ष का समय लग जाता है, तब वह एक कुशल डाक्टर बनता है । इतना खर्च (इसमें अधिकतम सरकार का होता है) होने पर वह अपने आप को चन्द्रलोक पर पहुँचा हुआ समझने लगता है, उसके अपने खर्चें बढ़ जाते हैं, रहने का स्तर बढ़ जाता है, हर कार्य में परान्मुखी होता है, मसलन् दवा कम्पाउण्डर देगा, इन्जेक्शन नर्स लगायेगी, दवा की पुडिया नौकर बाधेगा, वह स्वयं कुछ नहीं करेगा और फिर दहेज में हजारों-लाखों की माग करेगा । ऐसा चिकित्सक कैसे गाँवों में जाकर सेवा कर सकता है ? गाँव का जीवन कैसे व्यतीत कर सकता है ? वह बड़े शहरों में ही रहना चाहेगा और रहता भी है, इसलिये हमारी आमीण जनता, गरीब भाई-बहिन चिकित्सा के अभाव में ही दम तोड़ देते हैं । परन्तु चीन में ऐसा नहीं है । वहाँ की व्यवस्था अच्छी है, वहाँ के व्यवस्थापक बुद्धिमान हैं ।

चीन में दसवी कक्षा तक पढ़ने के पश्चात् नौ महीने का एक प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) दिया जाता है, जिसमें कुछ सामान्य रोग जैसे खासी, जुकाम, बुखार आदि के बारे में समझाया जाता है, लगभग बीस औषधियों का ज्ञान कराया जाता है, जिससे वह प्रारम्भिक चिकित्सा कर सके । तत्पश्चात् उसे गाँवों में भेज दिया जाता है । वहाँ वह अत्यन्त सादगी के साथ रहता है । जहाँ रहता है वही एक आलमारी में औषधियाँ रखी रहती हैं, रोगी चाहे रात में आवे या दिन में, हर समय वह तत्पर रहता है । स्वयं ही पुडिया बाधकर देता है । अपना सब कार्य भी स्वयं करता है । रोगियों से औषधि के पैसे नहीं लेता,

सरकार ही जीवन-यापन के लिये पर्याप्त तनखाह देती है, औषधियाँ देती है, उसमें वह पूर्ण ईमानदारी बरतता है। इस प्रकार छोटे-छोटे गावों में इस प्रकार के चिकित्सक रहते हैं, बड़े रोगों के लिये शहरों में बड़े चिकित्सक रहते हैं, उनको वह वहाँ पहुँचा देता है।

जब तक हमारे इस गरीब देश में भी चिकित्सा नीति में परिवर्तन नहीं होगा तब तक गावों की गरीब व अशिक्षित जनता को चिकित्सा सुविधा सुलभ नहीं हो सकती। बड़े-बड़े डाक्टरों की आवश्यकता है, पर वे बड़े शहरों में, बड़े चिकित्सालयों के लिये ठीक हैं। गावों के लिये ऐसे बड़े-बड़े दिग्गज डाक्टर उपयोगी नहीं, क्योंकि वे छोटे गावों में जाते ही नहीं। वस्तुतः उनमें सेवा की भावना नहीं होती। उनका ध्येय तो धन व यश कमाना होता है।

जनता को स्वयं इस प्रकार के औषधालय खोलकर सरकार के कार्य में मदद करनी चाहिये। जिनसेनाचार्य ने महापुराण के सोलहवें अध्याय में जैनो के लिये सविधान प्रस्तुत किया है—उसमें पच्चीस प्रतिशत आपको धार्मिक कार्यों हेतु दान देने के लिये लिखा है, छ प्रतिशत सरकार को कर रूप में देने के लिये लिखा है, (आजकल तो यह कर अत्यन्त बढ़ गया है, वह भी उचित नहीं है) शेष बचा उनहत्तर प्रतिशत (६९), उसमें से पचास प्रतिशत व्यापार में लगाइये, तथा शेष उन्नीस प्रतिशत में से कुछ अन्य आवश्यकताओं के लिये खर्च कीजिये व कुछ बचाइये। इसको उन्होंने वर्णलाभ क्रिया का नाम दिया। इस प्रकार अकलक संहिता, जिनसेन संहिता, अरहन्नि संहिता आदि कुल दस सविधान (जैनो के लिये) बने हुये हैं, जिनमें सबमें दान को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।

जैसे यहाँ वैयावृत्य व आरोग्य का कार्य प्रारम्भ किया गया है, प्रोत्साहन देकर वैसे और भी औषधालय प्रारम्भ करवाने चाहिये। अपने भाईयो की सेवा के लिये आपको स्वयं ही तन-मन-धन से तत्पर होना चाहिये, तभी समस्याएँ हल होंगी। केवल सरकार की ओर ताकने से कार्य नहीं होगा। जनतंत्र का तात्पर्य है—जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिये, सरकार तो केवल रखवाली करने के लिये है। सब लोग एक दूसरे के प्रति प्रेम व सेवा भाव रखें, तभी जनतंत्र सफल हो सकेगा। अपनी पर्वतिथियों में जैसे—महावीर जयन्ती, निर्वाण-दिवस, रामनवमी, अन्य पुण्य दिवसों पर रोगियों, कुष्ठियों व कारागृहियों को आहार-दान दीजिये, मिष्ठान्न बाँटिये, कारागृहियों

को लड्डू वांटिये और थैलियो पर कोई नीति वाक्य लिखवाइये । जिससे जीवन में वे उन दिनों की महिमा समझे, उन महापुरुषों का नाम लें, जिनके जन्म आदि दिवसों के उपलक्ष्य में उन्हें यह प्राप्त हुआ । थैली पर लिखे नीति-वाक्य की भी उपयोगिता है । कभी कभी एक वाक्य ही जीवन परिवर्तित कर देता है । नि सन्देह औषध व आहार दान, अत्यन्त उपकारक हैं, स्व के लिये भी व पर के लिये भी ।



---

### उत्तम उपकार—

“अथ मिथ्यादृष्टि जीवनि कौ मोक्षमार्ग का उपदेश देय, तिनका उपकार करना, यह ही उत्तम उपकार है । तीर्थंकर गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करै हैं । तातैं इस शास्त्रविषे भी उनही का उपदेश के अनुसारि उपदेश दीजिये हैं ।”

♦ मोक्षमार्ग प्रकाशक ८/३६३

---

जीवन के तीन सूत्र—

## सुसंस्कार, सादगी और संयमाचरण

आत्मा पर सुसंस्कार के लिये, उसे पूज्य व मूल्यवान् बनाने के लिये ही मन्दिर आदि बने हैं। वहाँ वीतराग को इसी भावना से नमस्कार करते हैं कि उनके सै गुण हमारी आत्मा में भी प्रकट हो। आत्मा के संस्कार ही मानव के लिये उपादेय है। सुख चाहते हो तो धन-सम्पत्ति से पूर्व अपनी आत्मा की रक्षा करो।

मन्दिर निर्माण कराया जाता है धर्मध्यान के लिये। वहाँ सादगी न होकर यदि आडम्बर और वैभव है, तो उसके कारण वह आतंरौद्र का कारण बन जाता है। मन्दिर, शास्त्र ये सब साधन हैं। पर आत्मा की ओर ध्यान न देकर प्रदक्षिणा में ही समय लगादे, तो जहाँ है वही रह जायेंगे। मन्दिर जाने का अर्थ है—कुसंस्कारों को छोड़ना। वैभाविक संस्कार स्थायी नहीं होते।

मानव जीवन में संस्कारों का बहुत महत्त्व है। संस्कारित वस्तु ही मूल्यवान् होती है। सोने के एक टुकड़े पर जब सुनार संस्कार करता है, तो उसकी कीमत उस सोने के टुकड़े से बढ़ जाती है। मानव-जीवन में बचपन से ही सुसंस्कार डालने चाहिये। पशु-पक्षियों में भी जब संस्कार डालते हैं तो वे संरक्षक में अनेक करतब दिखाते हैं, आज्ञा प्राप्त होते ही तुरन्त उसका पालन करते हैं। बालक को जैसे-जैसे सुसंस्कार व शिक्षा दी जाती है वह गहरा गम्भीर होता जाता है।

एक राजा था। उसके राज्य में एक शिकारी को जंगल में अत्यन्त सुन्दर, समान-वय के दो तोते के बच्चे मिले। शिकारी ने उन्हें बेचना चाहा।

वह राजमहल में आया । तोते बहुत सुन्दर थे, राजा ने उन्हें खरीद लिया । दोनों के लिये दो सोने के पिजरे बनवाये गये । एक पिजरे को अपने अन्तःपुर में टाँक दिया, और एक पिजरे को अपने अस्तबल में । अस्तबल में घोड़े की मालिश करने वाला घोड़े को अनेक गालियाँ देता था । तू गधा है, चल पीछे हट, इत्यादि । अन्तःपुर में सब बहुत आदर सत्कार व तमीज के साथ बातें करते थे, आने वाले का स्वागत करते थे—आइये, पधारिये, आपका स्वागत है, आदि । दोनों तोते जैसी बातें सुनते थे, वैसी ही सीख गये । एक दिन राजा उन तोते का निरीक्षण करने गये । अस्तबल के तोते ने राजा के आते ही कहा—तू गधा है, चल पीछे हट । राजा को बुरा लगा । इतनी सुविधायें, उत्तम खान-पान उपलब्ध कराने पर भी यह मुझे गधा कहता है । फिर वह अन्तःपुर वाले तोते के पास गये । उसने राजा को देखते ही कहा—आइये । पधारिये । आपका स्वागत है । राजा खुश हो गया । वह समझ गया कि यह सगति व सस्कार का अन्तर है । तभी तो एक कवि ने कहा है—

एक ही माता, एक ही पिता, एक ही तख्तर बसे ।

अरे, अरे राजा, सगत इसकी उसे ।

एक ही पेड़ पर, एक ही मा से उत्पन्न होने के बाद अलग-अलग सस्कार डाले गये, इसी के परिणामस्वरूप एक पर सुसस्कार हो गये और दूसरे पर कुसस्कार ।

लोहे पर सस्कार करते हैं उसका ताला-चाबी बनाते हैं, तो उसकी कीमत बढ़ जाती है । इससे भी अच्छी वस्तुएँ बनाते हैं तो कीमत और भी बढ़ जाती है । जैसे-जैसे अच्छे सस्कार करते जाते हैं वस्तु की कीमत बढ़ती जाती है, वह मूल्यवान् होती जाती है । इसी प्रकार आत्मा पर सुसस्कार करने से वह मूल्यवान् हो जाती है, पूज्य हो जाती है । आत्मा पर सुसस्कार करने के लिये ही मन्दिर आदि बने हैं । घर में बैठकर इतने अच्छे परिणाम व सस्कार नहीं हो सकते । घर में बैठकर तो घर गृहस्थी की बातें ही ध्यान में आती रहेगी, बच्चा रोयेगा तो ध्यान विचलित हो जायेगा । वहाँ 'आत्मलीन' नहीं हो सकते । मन्दिर में वीतराग भगवान् के सामने भगवान् के गुण, उनकी महिमा आदि अच्छी बातें स्वयमेव हमारी आँखों के सामने, मस्तिष्क में घूमने लगती हैं । मन्दिर एक पवित्र स्थान है । वहाँ नित्य दस-पाच मिनट बैठकर भगवान् का ध्यान करते हैं, मन को स्वच्छ व निर्मल बनाते हैं, उनके गुणों को अपनी आत्मा के साथ जोड़ते हैं, तो मन में पवित्रता

आने लगती है। 'वन्दे तद्गुण लब्धये'—हम उन्हें नमस्कार भी इसी भावना से करते हैं कि उनके से गुण हमारी आत्मा में भी प्रकट हो।

लौकिक जगत् में कौन पिता ऐसा है जो अपने बालक को शूरवीर न देखना चाहता हो। कौन मा होगी जो बालक को सुसम्कारित नहीं देखना चाहेगी? प्रत्येक माता अपने बच्चों को 'आदर्श' देखना चाहती है, पर बच्चों को सुसम्कारित करने के लिए उसके पास समय नहीं होता। प्रत्येक महापुरुष पर माता पिता के द्वारा डाले गये संस्कार ही प्रतिफलित हुये हैं। महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर पर माता-पिता के सुसंस्कार ही तो थे, वे कोई मोटेसरी स्कूलों में नहीं गये थे। आजकल मोटेसरी स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों को, मातायें अपने कर्तव्यों व भक्तों से बचने के लिये भेज देती हैं। वहां उन पर इतना ध्यान नहीं दिया जा सकता जितना मा दे सकती है। जो संस्कार मा डाल सकती है, वे कोई दूसरा नहीं डाल सकता। यदि मा स्वयं सुशिक्षित होगी, सुसंस्कृत होगी व पवित्र आचार-विचार वाली होगी तो वह बच्चों में शाश्वत संस्कार डालेगी। कच्चे घड़े को कुम्हार जैसा आकार देना चाहता है, दे सकता है, पर जब घड़े का अग्नि के साथ संयोग हो जाता है, उसके बाद उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, फिर वह टूट सकता है पर परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि वह कठोर हो जाता है। बच्चा भी कच्चे घड़े के समान कोमल होता है उसमें संस्कार डालना माता का कार्य है।

### सादगी अपनाइए :

अपने अच्छे संस्कारों के परिणाम से ही आप यहां सेठी कॉलोनी में रहने वालों ने मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर बनवाना इतना कठिन नहीं जितना उसका प्रबन्ध व व्यवस्था को बनाये रखना है। प्रबन्ध के लिये कीमती सामान की आवश्यकता नहीं है। मन्दिरों में सादगी होनी चाहिये। मन्दिरों में विलासिता की वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है। तीर्थंकरों ने कपड़े, छत्र-चवर, वैभवादि छोड़ दिये, फिर उनके लिये अत्यन्त मूल्यवान सोने-चांदी के चवर-छत्रों की क्या आवश्यकता है? वहां सादगी होनी चाहिये। शास्त्र-वेष्टन (शास्त्र बाधने के कपड़े) भी सादा, चांदी के बने होने चाहिये। मन्दिरों में जितना आडम्बर किया जाता है, वे ही सब चोरी के कारण हैं। आजकल आये दिन मन्दिरों में चोरियां होती हैं, वे सब इन वैभवादि की वस्तुओं व आडम्बर के कारण ही होती हैं। मन्दिर निर्माण कराया जाता है, धर्म-ध्यान करने के लिये। किन्तु छत्र-चवर व अन्य आडम्बर



व वैभव होने के कारण वह आर्त्त-रौद्र ध्यान का कारण बन जाता है । रात में कोई चोर तो नहीं आ जायेगा, चौकीदार अपना कर्त्तव्य पूरा करता है या नहीं ? आदि विचार चलते रहते हैं और इस प्रकार धर्मध्यान के स्थान पर आर्त्तरौद्र ध्यान प्रारम्भ हो जाता है । प्राचीन मन्दिर बहुत सादगी लिये हुये होते थे । दक्षिण के मन्दिरों में छत्र-चँवर चादी के, सोने के नहीं हैं, वे पाषाण में ही उत्कीर्ण हैं । अष्टमंगल भी पाषाण में ही वेदी के नीचे उत्कीर्ण हैं । चादी-सोने की वस्तुएँ मन्दिर में रखकर आप स्वयं ही तो चोर के लिये रास्ता बनाते हैं ।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप यह (सेठी कालोनी में) मन्दिर निर्माण करा रहे हैं तो प्रथम निर्णय यही लें कि मन्दिर में कोई वैभव, कीमती सामान नहीं रखेंगे । मन्दिर को अत्यन्त सादगीयुक्त रखेंगे । पूजादि के वर्तन चादी-सोने के नहीं रखेंगे । मन्दिरों में चादी-सोने की आवश्यकता क्या है ? किसी स्थान पर लोगों के पास धन बहुत अधिक हो गया, कोई दान लेने वाला नहीं बचा । तब उन लोगों ने मन्दिर में सोना-चादी देना प्रारम्भ कर दिया । जिनने सब परिग्रह छोड़ दिया, उन्हीं के मन्दिरों में परिग्रह लगा दिया । मन्दिरों की व्यवस्था-निर्माणादि के लिये रुपया तो लगाइये, पर सोना-चादी एकत्रित मत कीजिये ।

मन्दिर पूजा प्रक्षाल करने के लिये है, पर वहाँ भी होड़ हो गई, प्रतिस्पर्धा हो गई कि अमुक मन्दिरों में चादी के वर्तनों द्वारा पूजा-प्रक्षाल होती है तो हम भी चादी के वर्तनों द्वारा करेंगे अथवा सोने के वर्तनों द्वारा करेंगे । मन्दिरों में ये वैभवादि का संग्रह व प्रदर्शन करना बुद्धिमानी नहीं है । भगवान् महावीर ने परिग्रह छोड़ने को कहा है । मरने के बाद इनमें से कोई चीज साथ जाने वाली नहीं है । रत्नाकर कवि ने एक कविता में यह भाव प्रस्तुत किये हैं कि जब तक हेय व उपादेय को नहीं जानेंगे तब तक यह मन्दिर जाना, पूजा-पाठ करना सब व्यर्थ है । पुष्पमाला, रत्न, मोती, माणक, आभूषण ये सब शरीर के लिये, हाडमांस की खूबसूरती के लिये हैं, आत्मा के लिये नहीं हैं । आत्मा की खूबसूरती के लिये तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र ये त्रिरत्न हैं । इनको एक बार भी आत्मा में धारण कर लेते तो पुनः ससार में न आना पड़ता । शरीर को तो अनन्तभव तक आभूषण पहनाये, उसका श्रृंगार किया, पर ये सब आत्मा के लिये निष्प्रयोजन हैं, आत्मा के लिये इनका कोई लाभ नहीं है, उपयोग नहीं है । वादिवृषभाचार्य ने लिखा है कि—ये आभूषण आर्त्तरौद्र ध्यान के हेतु हैं । पहले आभूषण बनाने की चिन्ता, सोच-विचार

रहता है, जब आभूषण बनवा लेते हैं तब उन्हें सम्भालने की चिन्ता व सोच-फिक्क हो जाता है। मरने के क्षण तक आर्त्त-रौद्र ध्यान बढाते रहते हैं। महावीर ने इसीलिये समस्त वैभव को त्याग दिया।

कुछ वर्षों पूर्व तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री पाठक ने महावीर जयन्ती के अवसर पर कहा था कि--महावीर भगवान् ने स्वेच्छा से धन-सम्पत्ति व राज्य को त्याग दिया, पर आज के राजा नहीं छोड़ रहे, इसलिये हमें जवर्दस्ती (उनके प्रिवीपर्स आदि) छुड़ाने पड़ रहे हैं। महावीर में और हम में यही फर्क है।

मनुष्य धन-सम्पत्ति को कोई सकट या आपत्ति आने पर ही छोड़ता है अन्यथा नहीं। धन-सम्पत्ति के पीछे मानव धर्म को भूल जाता है। महावीर ने अपरिग्रहवाद को इसीलिये महत्त्व दिया था कि परिग्रह से मानव धर्म को भूल जाता है। मनु ने मनुस्मृति में कहा है कि यदि सुख चाहते हो तो धन-सम्पत्ति से पूर्व अपनी आत्मा की रक्षा करो। यही तो महावीर ने कहा था। उनके सिद्धान्तों की आधारशिला है—‘आत्मरक्षा की भावना’। आत्मा की रक्षा नहीं करोगे तो किसकी करोगे? कौनसी चीज शाश्वत है, जिसकी रक्षा की जा सकती है? शरीर अशाश्वत है, इसकी रक्षा करने पर भी यह छूट जायेगा। इससे काम करते हैं इसलिये इसके लिये भोजनादि जुटाना है पर इसी में रमकर क्या आत्मा को भूल जाये? जो अशाश्वत है उसके पीछे रात दिन लगे हैं, जिससे मृत्यु के बाद सम्बन्ध छूट जायेगा, जो केवल संयोग है उसके पीछे लग रहे हैं, अध्रुव के पीछे लग रहे हैं और ध्रुव को छोड़ रखा है, शाश्वत को भूल रहे हैं।

इसलिये वच्चो में प्रारम्भ से ही सुसस्कार डालिये, उन्हें प्रातः काल अपने साथ मन्दिर लेकर जाइये, उन्हें णमोकार मंत्र सिखाइये, महावीर का जीवन चरित्र बताइये, उनके प्रमुख व प्रेरणादायक जीवन-प्रसंग समझाइये। वच्चे के जन्मते ही कीमती कपड़े पहनाते हैं, उमका शृगार करते हैं, पैन्ट पहनाते हैं, वह नहीं चाहता तो भी जवर्दस्ती पहनाते हैं, पर आत्मा परमात्मा की बात करने में थोड़ी सी भी जवर्दस्ती नहीं अपनाते। शृगार सिखाने के लिये तो माताओं के पास समय रहता है, पर सुसस्कार डालने के लिये उनके पास समय नहीं होता। वास्तव में हम चमड़े का शृगार करते रहने से चमार हो गये हैं। जैन नहीं रहे। जैन तो तब होंगे, जब वच्चे-वच्चे में

आत्मा के प्रति रुचि, धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करेंगे, उनमें सुसस्कार डालेंगे ।  
आचार्य कुन्दकुन्द की माता पालने से ही उनमें सुसस्कार भरती रही ।

आप णमोकार मन्त्र बोलते हैं, आपका टेपरिकार्डर उसे पकड़ लेता है और बार-बार उसे सुनाता है । यदि बच्चे को भी णमोकार मन्त्र सिखाया जाये तो वह भी तुरन्त उसे पकड़ लेगा, सीख लेगा, क्योंकि उस समय उसकी ग्राह्य शक्ति व स्मरण शक्ति बहुत अच्छी होती है । वह बार-बार आपको णमोकार मन्त्र सुनायेगा, हजारों लोगों को सुनायेगा । यदि श्रृंगारिक बातें उसे सिखाते हैं तो वह वैसी ही बातें सुनायेगा । अचेतन टेपरिकार्डर भी णमोकार मन्त्र पकड़ लेता है तो बालक तो चेतन है, उसे णमोकार मन्त्र सुनाये तो वह क्यों नहीं याद कर सकता ? उस पर क्यों नहीं अच्छे सस्कार पड़ सकते ?

ब्रिटेन में दो-तीन साल से यह चर्चा व प्रयोग चल रहे हैं कि कुये के पानी को मन्त्रोच्चार कर उसे रोगी को पिला देने से उसका रोग दूर हो सकता है । अर्थात् जल मन्त्रों को पकड़ लेता है । हम जब अभिषेक करते हैं तब णमोकारादि मन्त्रोच्चारित करते हैं, उसके गधोदक को सिर पर लेते हैं, वह इसलिये कि जल ने उन मन्त्रों को पकड़ लिया, इससे वह अत्यन्त पवित्र हो गया है । आधुनिक मानव मनोवैज्ञानिक तरीकों से प्रभावित होता है और तब उसके भाव बदलते हैं । सिद्धचक्र का पाठ पढ़ते हैं । उसमें पढ़ते हैं कि मैनासुन्दरी ने गधोदक के प्रभाव से अपने पति व उनके साथियों को कुष्ठ रोग से मुक्त कराया, इनसे भी विश्वास जमता है ।

रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है कि इस शरीर के लिये जीवनभर, जितना भी किया वह सब हेय है, ये सब तो पशु-पक्षी भी करते हैं । बिना किसी स्कूली शिक्षा के वे खाना-पीना करते रहते हैं । मानव बुद्धिमान है, उसे अपने लिये हेय-उपादेय को जानना चाहिये । आत्मा के सस्कार ही मानव के लिये उपादेय हैं ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र्य, ये त्रिरत्न आत्मा में मौजूद हैं, ये बाहर से नहीं लाने पड़ते । परन्तु धार्मिक सस्कारों के द्वारा, तत्त्व-ज्ञान को समझने पर जब अपनी आत्मा पर परिपूर्ण विश्वास करें, स्वयं का स्वयं में ही विश्वास प्राप्त करें, तभी सम्यग्दर्शन प्रकट होगा । मन्दिर-शास्त्र ये सब साधन हैं ।

मील का पत्थर दूरी ज्ञात करने का साधन है, यदि हम दो घण्टे तक उस पत्थर के चक्कर लगाते रहेगे तो जहा थे वही रह जायेंगे, किंचित मात्र भी दूरी तय नही कर सकेगे, रास्ता पार नही कर सकेंगे । इसी प्रकार केवल मंदिर की प्रदक्षिणा मे ही समय लगादे, आत्मा की ओर ध्यान न दें, तो जहा है वही रह जायेंगे, कुछ भी कल्याण नही होगा । रास्ता तो तय करने से पूरा होगा, चलने से पूरा होगा ।

हम अपने जीवन मे बीस वर्ष से निरन्तर मन्दिर जा रहे है तो परिणामो मे कितनी निर्मलता आई, जीवन मे कितनी सादगी आई । जब तक इसकी जाच-पडताल नही करेंगे तब तक सारा क्रियाकांड करने पर भी जहा थे वही रह जायेंगे । नित्य प्रति मन्दिर जाने पर जीवन मे कुछ भी परिवर्तन नही आये, परिग्रह जरा सा भी कम न हो, कपाय नही छोडी, तो क्या लाभ हुआ ? मन्दिर जाने का मतलब है इन सब कुसस्कारो को छोडा जाये । जब मन्दिर जाने वालो के जीवन मे कोई परिवर्तन नही होता, तभी तो युवावर्ग को मन्दिर मे विश्वास नही होता । यदि एक व्यक्ति मे परिवर्तन आये तो उसका प्रभाव युवावर्ग पर पडेगा, ऐसे प्रभाव से वह भी उस मार्ग पर चलने लगेगा ।

एक ठाकुर थे । उन्होने किसी से कुछ रुपये उधार ले रक्खे थे । जब भी वह व्यक्ति अपने रुपये मागने आता ठाकुर कोई वहाना बना लेते, दो-तीन दिन वाद देने का वाग्रदा करने लगते । एक दिन वह व्यक्ति आने वाला था । ठाकुर ने अपने पाच-छ वर्षीय बालक को दरवाजे पर बैठने को कहा और ममभाया कि जब वह व्यक्ति मुझे पूछने आये तो तुम कह देना कि पिताजी घर मे नही है । थोडी देर बाद वह व्यक्ति आया, बालक ने कह दिया पिताजी घर मे नही हैं । पर वच्चे पर इस प्रकार झूठ बोलने का बहुत गलत प्रभाव पडा । उसने एक दिन अपने पिताजी के कोट की जेब से चार रुपये निकाले और खर्च कर दिये । ठाकुर ने जब कोट की जेब से चार रुपये कम पाये तो घर मे सबसे पूछताछ की, सबने इन्कार कर दिया । उस बालक ने भी इन्कार कर दिया । ठाकुर के बार बार पूछने व सत्य बोलने पर पिटाई न करने के आग्रवासन पर बालक ने कहा—हा, मैंने ही वे रुपये लिये थे । तब ठाकुर ने पूछा—तो तुमने झूठ क्यों बोला ? बालक ने कहा—पिताजी, आपने भी तो उस दिन झूठ बोला था । तब उस ठाकुर को ममभ आया कि यह वच्चा मेरे कारण झूठ बोलना सीख गया । तो आप वच्चे पर जैसे सम्कार टालेंगे वैसे ही तो पनपेंगे ।

महात्मा गांधी ने कुछ ईसाई बच्चों की सगति से अपने बचपन में एक बार अभक्ष्य भक्षण (बकरे का मांस का भक्षण) कर लिया। रात में सपने में उन्हें बार-बार उस बकरे की आवाज सुनाई दी, लगा कि वह पेट में से बोल रहा है। सोचा, अरे उच्च कुल में जन्म लेकर वैष्णव धर्मावलम्बी होकर यह क्या कर डाला मैंने? प्रातः पिताजी के कमरे में जाकर उन्हें सब वृत्तान्त कहा। पिता सारी बात सुनकर रोने लगे, उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। गांधीजी ने कहा—आप दुःखी हो रहे हैं? मैंने आपको कहकर क्या गलत किया है? पिता ने कहा, नहीं बेटे। यह आसू तो खुशी के हैं कि तुमने सत्य बोला। तुम अवश्य महान् बनोगे। वास्तव में सत्य बहुत शक्तिशाली है। सत्य बोलने वाला ही महान् बन सकता है।

वैभाविक संस्कार, कुसंस्कार स्थायी नहीं होते, वे छूट सकते हैं, छूट जाते हैं, पर तभी जब अन्तरंग में उनका अहसास होता है, तब तक कभी-कभी बहुत अनिष्ट हो चुकता है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये खान-पान आदि का विवेक रखें। मन्दिरों के माध्यम से माता-पिता बच्चों में खान-पान आदि का विवेक उत्पन्न करें। तभी आपका यह मन्दिर बनाना सार्थक है, चावल चढ़ाना सार्थक है, अन्यथा कोई भी क्रियाकांड करे, उससे कोई लाभ नहीं।

### जल छानकर पीजिये :

जैन धर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार लिये हुये हैं। जैन धर्म में कहा—पानी छानकर पीओ। सब इस सिद्धान्त का मजाक बनाने लगे। पर दो वर्ष पूर्व संयुक्तराष्ट्र की रिपोर्ट में लिखा था कि प्रतिवर्ष अनछाने पानी पीने से उत्पन्न रोगों के कारण सम्पूर्ण विश्व में पचास लाख मानव मर जाते हैं।

भागवत में भी लिखा है कि पानी छानकर पीओ और देखकर चलो। देखकर चलने में स्वयं की सुरक्षा होगी, किसी गड्ढे आदि में नहीं गिर सकोगे और दूसरे छोटे-छोटे जीव जो जमीन पर चलते रहते हैं उनकी भी सुरक्षा होगी। पानी स्वयं में पवित्र है, पर उसमें अन्य तत्त्व मिल गये, तो वे हमें रोगी बनाते हैं, उन्हें दूर करने के लिये पानी छानते हैं। हमें धर्म की दृष्टि से भी और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी खान-पान को शुद्ध बनाये रखना चाहिये।

इन्दौर में १९७१ में चातुर्मास था। वहाँ एक महिला अधिकारी अस्पताल का निरीक्षण करने के लिये आई थी। हमारे पास भी वह आई।

चर्चा चली तो वह बोली—मैं यहा टी० वी० अस्पताल का निरीक्षण करने आई हूँ । हमने पूछा—आजकल कई टी० वी० के रोगी रोगमुक्त नहीं होते, क्या बात है ? उन्होंने कहा—टी० वी० तो जैन धर्म से ठीक हो सकती है । हमने कहा—जैन धर्म का टी० वी० से क्या सम्बन्ध है ? तब उन्होंने बताया कि—मेरे घर में एक जैन स्त्री रहती है, वह खाने-पीने, नहाने धोने सब कार्यों में छना हुआ पानी उपयोग करती है, सीमित व उचित भोजन करती है । इससे मैं कहती हूँ कि टी० वी० जैन धर्म पालन से दूर हो सकती है । केवल श्रीपथ खाने से रोग दूर नहीं होता, उसके साथ सयम भी आवश्यक है । महावीर ने सयम की बात बताई, वह बहुत उपयोगी है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सयम पालन करना चाहिये । प्रारम्भ से सयम का पालन (खान-पान में) करे तो कोई रोग ही न हो ।

महात्मा गांधी ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि—“जब से मैंने रात्रि भोजन त्याग दिया, मैं अनेक परेशानियों से बच गया हूँ । आखिर पेट को भी विश्रान्ति चाहिये । डजन गर्म हो जाता है तो उसे ठण्डा करने के लिये कुछ देर विश्राम दिया जाता है । बैल थक जाते हैं, उन्हें भी विश्राम दिया जाता है, तो पेट को भी कुछ देर आराम की जरूरत है, सुबह उठने के बाद रात्रि में सोने तक खाते ही रहोगे तो कैसे स्वस्थ रहोगे ? मत्स्य तो यह है कि हम खाना खाने की विधि भी नहीं जानते । दिन में दो या तीन बार भक्ष्या-भक्ष्य का विवेक रखते हुये जो कुछ भी खाये चवा-चवाकर खायें । अस्पताल में आज जो रोगियों की संख्या बढ़ रही है, उसका प्रमुख कारण असयम है । जीवन में सयम विल्कुल नहीं है । व्यर्थ में ही राष्ट्र की सम्पत्ति व शक्ति नष्ट हो रही है । आज जरा से रोग होने पर इन्जेक्शन ले लेते हैं, कोई घरेलू उपचार नहीं करते, यह नहीं सोचते कि वह इन्जेक्शन और दो बीमारियों को पैदा करेगा । आज कैसर, पोलियो आदि घातक बीमारियाँ फैल रही हैं । जिस मा के बच्चा जन्मी रहती है उससे उत्पन्न बालक के पोलियो हो जाता है, और भी अन्य कारण हैं ।

धर्म में अष्टमी, चतुर्दशी को एकासन, रस-परित्याग कर भोजन ग्रहण करना बताया है, ये व्यर्थ नहीं हैं । इनसे अनेक परेशानियों से बचेंगे, स्वास्थ्य लाभ होगा । आज खूब अस्पताल खुल रहे हैं, उनमें शैय्याएँ बढ़ाई जा रही हैं, उनको कम करने का उपाय नहीं करते, उन्हें बढ़ाने का ही प्रयास कर रहे हैं ।

शारीरिक व्यायाम, समयित भोजन, नियमित जीवन ही उपयोगी है। भक्ष्य-अभक्ष्य का समय, ध्यान रखना अत्यावश्यक है। बच्चों को भी इस बात को सिखाना व पालन कराना बहुत आवश्यक है, आज बच्चों को विस्किट खिलाते हैं, यह सर्वथा अच्छे नहीं हैं। कभी आपात्काल में, मुश्किल के समय इसका उपयोग करें तो ठीक है पर हमेशा प्रयोग नहीं करना चाहिये।

सामाजिक जीवन आदर्श बनाने के लिये मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखना आवश्यक है, ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। मानसिक स्वास्थ्य के लिये मन्दिर, पूजा-पाठ, ध्यान, योग, जप-तप, त्याग महत्त्वपूर्ण हैं।

समस्त प्राणी जीवन में शांति के साथ मृत्यु के समय भी शांति चाहते हैं। भारतीय संस्कृति में जन्म को ही नहीं, मरण को भी मांगलिक बनाया है। इसी का नाम सल्लेखना है, भागवत् में इसी को प्रायोपवेशण कहा है। जब मृत्यु निश्चित है तो उससे घबराना क्यों? डाक्टर ने जवाब दे दिया, इन्जेक्शन भी कारगर नहीं हो रहा, तब तो भगवान का नाम लेना चाहिये। पशु व मनुष्य में यही तो फर्क है कि—पशु का विवेक केवल खाने-पीने तक सीमित है पर मनुष्य इससे ऊपर उठा हुआ है। उसमें आत्मा-परमात्मा का चिन्तन करने की शक्ति है, इसलिये मनुष्य अपने मरण को मांगलिक बना सकता है।

---

आयु अतिमूल्य से परे है। ससार की विपणी में सर्वस्व मिला है, परन्तु आयु नहीं मिल सकती। कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम इसकी वृद्धि का उपाय नहीं जानता। कोटि स्वर्ण देकर भी आयु का क्षण नहीं खरीदा जा सकता। यह अमूल्य है। यदि इसे ऐसे ही गवा दिया तो इससे बढ़कर और क्या हानि हो सकती है।

---



## जिनालय : आत्मा का बीमा भवन

जिन्होंने आत्मा को अजर-अमर बनाने के लिए आगम दिये, सिद्धान्त दिये, शास्त्र दिये, चिन्तन दिया, उनका उपकार नहीं माने तो क्या यह कृतघ्नता नहीं है ? आचार्यों ने आत्मा के बीमे के लिये ये मन्दिर बनवाये । वीतराग की वाणी व सिद्धान्त भी आत्मा को अजर-अमर बनाने का सन्देश व मार्ग प्रशस्त करती है ।

आचार्यों ने शास्त्रों में सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार समझाया है, बताया है कि—पदार्थों में अनन्त शक्ति है । आचार्यों ने कहा है कि सामान्य मति-श्रुत ज्ञान वाले व्यक्ति अपने जीवन में अनेक प्रयोग व प्रयत्न करके देखते- रहते हैं । जैसे अमेरिका में एक गाजर के सुई की नोक जितने दस हजार सूक्ष्म अणु करके नई दस हजार गाजर उत्पन्न की गई हैं । हमारे ग्रन्थों व प्रतिक्रमण आदि में वनस्पति में अनन्त जीवों की मान्यता है उसे विज्ञान ने प्रयोगों के आधार पर सिद्ध किया है । भौतिक विकास का कोई अन्त नहीं है । जन्म से ही भौतिकता में रचे-पचे रहने के पश्चात् मानव वृद्धावस्था में इसमें (भौतिकता से) थक जाता है, ऊब जाता है, भौतिकता में फिर उसका मन नहीं लगता और तब वह शान्ति की खोज करता है कि शान्ति कहाँ मिलेगी, कैसे मिलेगी ? बालक को प्रारम्भ से ही परम्परागत उद्योग जैसे बुनाई, काष्ठकला, मूर्तिकला आदि की, परम्परागत व्यापार व्यवसाय की शिक्षा देते हैं । आखिर जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य क्या है ? हमारे ऋषि-मुनियों ने तपस्वियों ने चिन्तन मनन के पश्चात् कहा कि ये सारे कार्य, उद्योग व व्यवसाय—व्यापार सिर्फ शरीर के पोषण के लिये हैं, आत्म-पोषण व कल्याण के लिये इनका कोई उपयोग नहीं है, कोई मूल्य नहीं है ।



मैं जब मेरठ में था वहाँ उस समय रूस से एक हिन्दी अध्ययन दल आया हुआ था, जिसके अध्यक्ष श्री चेलिसेव थे। वहाँ के टण्डन हिन्दी भवन में शुद्ध हिन्दी में बोलते हुए श्री चेलिसेव ने एक बहुत मार्मिक बात कही—  
 “हम रशियन शरीर के इन्जीनियर हैं, हमने शरीर की सूक्ष्मतम चिकित्सा की, करेंगे और करते रहेंगे परन्तु हमने इस शरीर में रहने वाली आत्मा के बारे में कभी नहीं सोचा, उसकी चिकित्सा नहीं की, उसकी विद्या नहीं सीखी, मैं भारत इसीलिए आया हूँ कि हम आपस में इस विद्या की अदला-बदली कर लें।”

मैंने उनकी (चेलिसेव की) जिज्ञासानुसार प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य की ‘जैनदर्शन’ नामक पुस्तक पढ़ने को दी, उसको देखने के पश्चात् उन्होंने कहा कि— हम सामान्य लोगों को भी धर्म का ज्ञान कराने हेतु कोई सरल ग्रन्थ दीजिये। यह ग्रन्थ बहुत गूढ़ है। आप कहानी रूप में तत्त्वज्ञान समझा देने वाला ग्रन्थ दीजिये। रूस में आचार्य अमितगति के ग्रन्थ ‘धर्मपरीक्षा’ को रूसी भाषा में अनुवाद कर गत तीन वर्षों से विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रखा जा रहा है। उसमें तत्त्वज्ञान को समझाने के लिए आरम्भ से अन्त तक कहानी का सहारा लिया गया है। अर्थात् तत्त्वज्ञान समझाने के लिए कहानी का प्रयोग किया है। तत्त्वज्ञान को भगवती-आराधना में, जिनसेनाचार्य ने महापुराण व आशाधरसूरि ने अनागारधर्मामृत में अच्छी तरह समझाया है। इनमें बताया है कि आप अपने तत्त्वज्ञान को समझाते जाइये, किसी चीज का, तथ्य का खण्डन या निराकरण स्वतः हो जायेगा। आप केवल सत्य को, सिद्धान्त को बताइये, अपनाते वाला अपना लेगा, समझने वाला समझ लेगा। जैसे कमल पानी में उत्पन्न होता है, अग्नि में उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि कोई तर्कों के आधार पर सिद्ध करना चाहे कि कमल अग्नि में भी उत्पन्न होता है तो क्या इसका कोई विश्वास करेगा? इसी तरह धर्म अहिंसा में है। यदि कोई तर्कों के आधार पर हिंसा में धर्म मानना चाहे, मनवाना चाहे तो भी मनवाया नहीं जा सकता।

माँ जब गुस्से में आकर बच्चे के चाटा मार देती है तो साथ में स्वयं भी दुःखी हो जाती है कि मैंने क्यों उस बच्चे को चाटा मार दिया? उसको यह ज्ञात है कि मेरा मारना उचित नहीं था। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के मन में भी छोटे से हिंसात्मक भाव भी उत्पन्न होते हैं तब उसको यह ज्ञात रहता है कि यह उचित नहीं है। फिर भी चारित्र्य-मोहनीय कर्म के उदय से हिंसा करते रहते हैं।

जैसे चेलिसेव ने कहा कि हम शरीर के इन्जिनियर हैं और भारतीय आत्मा के; भारतीय दर्शन की प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक विचार-धारा रही है। हमारे आचार्यों ने सर्वप्रथम देवदर्शन के लिए कहा। आप एक अच्छे दर्जी से कपडे सिलवाने जाते हैं, बदले में उसे मजदूरी देते हैं। जिस-जिस वस्तु की आपको आवश्यकता होती है, उसे प्राप्त करते हैं, खरीदते हैं। आप उसी व्यक्ति से वस्तु खरीदते हैं जिसकी प्रामाणिकता पर आपको विश्वास होता है। आप सदैव उमी व्यक्ति से वस्तु खरीदते रहे और फिर भी उसकी प्रामाणिकता पर सदेह करें, यह उचित नहीं है। वीतराग भगवान् ने स्वयं सर्वज्ञ-प्राप्ति के बाद समवशरण में आत्म कल्याण का उपदेश दिया, मार्ग बताया। उस वाणी को सुनने के बाद कोई कहे कि इस वाणी से कल्याण नहीं हो सकता, तो क्या उसके विचार, उसकी दृष्टि सम्यक् है? एक व्यक्ति गाय को पाले, उसका दूध पीवे और बाद में उसे किसी बधिक (कसाई) को बेच दे, क्या यह कृतघ्नता नहीं है? तीर्थंकर की, वीतराग की वाणी को पढ़े, सुने और फिर ऐसा कहे कि इससे कल्याण नहीं हो सकता, इससे मुक्ति नहीं हो सकती, क्या यह उस कसाई जैसी बात नहीं हुई? दाँत में फसे पदार्थ को एक छोटे से तिनके के माध्यम से निकालते हैं, उम फसे हुए पदार्थ से जो वैचेनी हो रही थी उसे वह तिनका दूर करता है, शरीर की इस तकलीफ को दूर करने वाले छोटे से तिनके को उपकारक मानते हैं, तो जिनने अपनी आत्मा को अजर-अमर बनाने के लिए आगम दिये, सिद्धान्त दिये, शास्त्र दिये, चिन्तन दिया उसका उपकार नहीं मानें, तो क्या यह कृतघ्नता नहीं है। प्यासे को राह में कोई पानी पिलाता है तो वह उसका उपकार मानता है, धन्यवाद देता है तो हम उम आगम का उपकार न मानें?

एक बहुत पुरानी घटना है। मैं रेल से पूना से वेलगाव जा रहा था। प्लेट फार्म पर एक अफ्रीकी-दम्पति खड़े थे। उन्हें कहीं पर भी स्थान नहीं मिल रहा था, रेल में बहुत भीड़ थी, बहुत दौड़-धूप भी की थी, बहुत परेशान हो रहे थे। मुझे एक डिब्बे में स्थान मिल गया था, मैं बैठा था, उसी डिब्बे में एक पत्रकार भी बैठे थे। उन्होंने (पत्रकार ने) सीट पर से अपना विस्तर हटा कर उनका विस्तर लगा दिया और स्वयं का नीचे आने जाने वाले मार्ग पर लगा लिया। मैं बैठा सोच रहा था कि कैसा व्यक्ति है? अच्छी भली जगह मिली थी, उसे भी दूसरो को दे दी। मैंने आखिर उनसे पूछ ही लिया कि आपने ऐसा क्यों किया? पत्रकार ने उत्तर दिया कि ये लोग भारत में अतिथि बन कर आये हैं। जब यहाँ से वापस जायेंगे तब वे क्या प्रभाव लेकर

जायेंगे कि भारतीयों ने हमें कोई सहयोग नहीं दिया ? ये हमारे देश की सम्म्यता लेकर जायेंगे । इसीलिये हमारा कर्तव्य है कि स्वयं असुविधा प्राप्त करके भी इन्हें सुविधा प्रदान करें । हम चाहते हैं कि दूसरे हमारी सेवा करें, पर हम स्वयं किसी की सेवा न करें, तो यह कैसे सम्भव होगा ?

धर्म में सकीर्णता नहीं है, विशालता है । धर्म मानव-मात्र के कल्याण के लिये है । कोई आपका उपकार करता है, पर आप उसके प्रति कृतघ्न रहे तो धर्म भी कल्याणकारी नहीं हो सकता ।

वेल्लियम में विश्व धर्म सम्मेलन था । महात्मा गांधी पीस फेडरेशन के सचालकगण हमारे पास आये कि भारत से दो प्रतिनिधि चाहिये । डा० ए० एन० उपाध्ये व भट्टारकजी को इसके लिये तैयार किया गया । समाज में भट्टारकजी के विदेश जाने का विरोध होने लगा कि ये ब्रती-तपस्वी हैं, ये वहाँ विदेश में भोजन कहाँ करेंगे ? सब मुँह पर नाराज होने लगे । हमने वेल्लियम के भारत स्थित राजदूत से सम्पर्क किया, उनसे वेल्लियम में रह रहे जैन निवासियों के बारे में पूछा । ज्ञात हुआ कि वेल्लियम में पैंतालीस घर जैनो के हैं । राजदूत से उनके पते व फोन नम्बर आदि प्राप्त किये गये फिर उन जैन व्यक्तियों से सम्पर्क किया गया व उनसे पूछा गया कि हम भारत से एक माधु को भेज रहे हैं, आप क्या सहयोग दे सकते हैं ? क्या आप उनके भोजन-आहारादि की व्यवस्था कर सकेंगे ? उन लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया और अपनी ओर से भी आग्रह किया । उन्होंने भट्टारकजी के पधारने को अपना अहोभाग्य माना । भट्टारकजी वहाँ गये, वहाँ के जैन घरों में आहार ग्रहण किया । भट्टारकजी ने उनका रहन-सहन देखा, उनका खान-पान देखा, तो पाया कि कई जैनो ने तो वहाँ जाकर भी प्याज खाना प्रारम्भ नहीं किया । वहाँ के भारतीय राजदूत एक मुसलमान व्यक्ति थे उन्होंने भी भट्टारकजी व डा० उपाध्ये के लिये बहुत सुन्दर व उत्तम व्यवस्था करवाई ।

इसी प्रकार सिंगापुर में हुए विश्व धर्म शान्ति सम्मेलन के समय ज्ञात हुआ कि वहाँ पर पिच्चासी परिवार हैं जैनो के । वहाँ के लोग धर्म-श्रवण के लिये तरसते हैं । उन्होंने भट्टारकजी को कहा कि हमारे यहाँ सब सुविधायें हैं, भौतिक साधन हैं, पर धर्म-ध्यान का साधन नहीं है, वस यही दुःख है । भट्टारकजी के लौटने पर वे रोने लगे, अश्रुपूरित नयनों से वे उनसे कुछ समय ठहरने की प्रार्थना व आग्रह करने लगे ।

विश्व धर्म शान्ति सम्मेलन भारत के सचिव मेजर जनरल एस. एस. ऊवान ने कहा कि आपके भट्टारकजी की ओर से कभी कोई तकलीफ नहीं हुई। हम जहाँ भी जाते हैं वही पर आपके अनुयायी मिल जाते हैं और इनकी भोजन-आहारादि की सारी व्यवस्था कर देते हैं।

आज विदेशों में हमारे धर्म-प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। शास्त्रों में लिखा है कि समवसरण में पशु-पक्षी भी आकर धर्म सुनते थे तो क्या हमारे विदेशी भाई इनसे भी गये बीते हैं जो हमारे धर्म का श्रवण-अध्ययन भी नहीं कर सकते? हमें अपनी परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए धर्म का भी ध्यान रखना चाहिये, धर्म को नहीं भूलना चाहिये। धर्म की रक्षा करते हुए उसका प्रचार करना चाहिये। धर्म की सीमाओं में रहकर भी उसे विदेशों में प्रचारित कराइये।

मुनि सुशील कुमार जब विदेश गये तो सवने बहुत विरोध किया। इस सन्दर्भ में बहुत विचार-विमर्श, परामर्श चला। मैंने कहा—आप जा रहे हैं तो सफल होकर लौटिये, यही भावना है, शुभ सदेश है। उन्होंने मुझे लिखा है कि आपने मुझे इस कार्य के लिये बहुत प्रेरणा व सम्बल दिया है। आज वे विदेश में एक हजार व्यक्तियों को जैन धर्म का ज्ञान करा रहे हैं, उनको प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल णमोकार मंत्र का जाप कराते हैं।

काका कालेलकर ने 1971 में अपने मंगल-प्रभात नामक अखबार के अग्रलेख में लिखा था कि विश्व-कल्याण के लिये अनेकान्त धर्म का प्रचार करना चाहिये। यह सिद्धान्त मानवमात्र के कल्याण के लिये है, इसका लाभ उठाना चाहिये।

इंग्लैण्ड में रह रहे एम० के० गांधी ने हजारों व्यक्तियों को शाकाहारी बनाया है। उनसे एक सौ अस्सी व्यक्तियों ने जैन-विवाह पद्धति से विवाह कराने का आग्रह किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आज हमारे धर्म को विदेशों में भी प्रचारित व प्रसारित कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जब हम एक कुत्ते को णमोकार मंत्र सुना सकते हैं तो क्या उन विदेशियों को नहीं सुना सकते? जब एक भील भी जैन बन सकता था तो क्या ये उत्सुक, जिनासु विदेशी जैन नहीं बन सकते? तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने निगोदकाय जीव को भी आश्वासन दिया है। धर्म हमारा ही नहीं है,

प्राणीमात्र का है। सूर्य का प्रकाश किसी एक के लिए नहीं होता, वह सबके कल्याण के लिये है, वीतराग-वाणी भी सबके, प्राणीमात्र के कल्याण के लिये है। पारस पत्थर जिस लोहे को स्पर्श कर जाये उसे स्वर्ण बना देता है, वीतराग भगवान की वाणी व सिद्धान्त भी आत्मा को अजर-अमर बनाने का सदेश व मार्ग प्रशस्त करती है।

एक वन में एक बारहसीगा विचरण कर रहा था। वह अपने शरीर की ओर निहार रहा था। जब उसने अपने खूबसूरत सींग देखे तो अत्यन्त गर्वित हो उठा और जब उसने अपने पैरों की ओर देखा तो उनकी बदसूरती देख कर घृणा करने लगा। इतने में उसे वाण उठाये एक बहेलिया आता दिखाई दिया, उसे देख कर वह घबराया। उससे अपनी जान बचाने के लिये वह भागा, भागता गया। एक स्थान पर रुका तो देखा एक मुनिराज बैठे हैं। मुनिराज ने भी उसकी ओर देखा। उसकी घबराहट देख कर उन्होंने पूछा—क्या बात है? उसने कहा कि—मैं अपने सींगों की खूबसूरती पर व पावों की बदसूरती पर विचार कर रहा था, इतने में बहेलिये को देखा, बस जान बचाने के लिये भागा चला आ रहा हूँ। मुनिराज ने कहा—अरे! तुम जिन सुन्दर सींगों पर गर्व कर रहे हो वह ही तुम्हारे लिये प्राणघातक सिद्ध हो रहे हैं और ये बदसूरत पैर जिन पर तुम घृणा कर रहे हो, इन्होंने ही तुम्हें बचाया है। हम भी शारीरिक—सौन्दर्य की ही देखभाल-साजसवार करते हैं जो हमारे ससार भ्रमण का कारण है और आत्मा, (जिसको लोग शुष्क विषय मानकर उस) की कोई साजसवार नहीं करते।

हमारी अपनी आत्मरक्षा के लिये वीतराग भगवान ने जो सिद्धान्त दिये, आचार्यों ने उन्हें अंकित कर सुरक्षित रखा है। आज सब जीवन-बीमा की बातें करते हैं, यह धर्म आत्मा के बीमे की बात करता है। हमारे आचार्यों ने आत्मा के बीमे के लिये ये मन्दिर बनवाये हैं। चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, सब स्वाध्याय से, वीतराग भगवान के भजन-पूजन, जप-जाप से अपनी आत्मा को अमर बना सकते हैं, वे हमारी आत्मा की बीमा कम्पनिया है। हमारे वीतराग भगवान् गारन्टी देते हैं कि जैसे मैंने मार्ग अपनाया, वैसे तुम भी अपनाओगे तो निश्चित रूप से मुक्त हो जाओगे, अजर-अमर हो जाओगे। जिस भवन में उन वीतराग भगवान की प्रतिमा विराजमान है, उस भवन के दर्शन से भी भवभवान्तर के अशुभ मिट जाते हैं—

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवताप हारि, भव्यात्मना विभव सम्भव भूरिहेतु ।  
दुग्धाब्धि फेन धवलोज्ज्वल कूटकोटि, नद्धध्वज प्रकर राजि विराजमानम् ॥

जब केवल जिनेन्द्र भगवान् का भवन देखने से ही भवभवान्तर के अशुभ दूर होते हैं तो उस वीतराग के मार्ग पर चलने से तो भवभवान्तर ही मिट जायेंगे । जब वीमा-कम्पनियो का उपचार मानते हैं तो मन्दिर-शास्त्र स्वाध्याय से उपकार कैसे नहीं होगा ? हम हड्डी-चमड़े के इस ढाँचे का तो ध्यान रखते हैं पर इसके अन्दर विराजमान आत्मा का भी ध्यान करले तो आत्मा अवश्य ही परमात्मा बन जाये । पानी खींचते-खींचते रस्सी घिसने से पत्थर पर गढ़्ढे बन जाते हैं तो क्या नित्य प्रति श्रद्धा व भावना के साथ मन्दिर जाने, शास्त्र स्वाध्याय करने से कल्याण नहीं होगा ? क्या इनसे कर्मक्षय नहीं होगा ? जो मन्दिर का, शास्त्रो का उपकार नहीं मानते यह उनकी भूल है ।



- 
- ♦ जिस दीपक में ज्योति होती है, वह भगवान की आरती में पहुँच जाता है, किन्तु ज्योतिहीन कहीं फेंक दिया जाता है । मूल्य ज्योति का है । अपने शरीर में आत्मज्योति छिपी है उसे जगाओ ! नहीं तो क्रमज्ञान के ई धन और वृथाजीवी मनुष्यों में क्या अन्तर है ?
  - ♦ मन, जो निरन्तर भटकने का आदी है, स्वाध्याय में लगा देने से स्थिर होने लगता है । मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि में परम सहायक होती है । एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्षता प्रदान करते हैं ।
-

## धर्म बिना कोई नहीं अपना

क्षण भर के सत्संग व स्वाध्याय से असख्यात कर्म कट जाते हैं, आलस्य बुद्धि दूर होती है, प्रसन्नता द्विगुणित होती है, पुण्य बंध होता है और वीतराग भी हो सकते हैं। वीतराग भगवान की वाणी मन को, आत्मा को जरा भी छू जाये तो उसका अवश्य ही आत्म कल्याण होगा।

अपना समय विकथा में, आर्तरौद्र ध्यान में न लगा कर, धर्म की कथाओं, गाथाओं को समझने में लगाइये। रुचि व श्रद्धा आसन्न भव्य का लक्षण है।

ऋषि मुनियों ने अपने तत्त्वज्ञान, चिन्तन व मनन के द्वारा शास्त्रों की रचना की है। हम उन शास्त्रों को उनकी रचनाओं को पढ़कर आनन्दित होते हैं। जब छोटे बच्चे प्रारम्भ में विद्यालय में पढ़ने जाते हैं, उनको वहाँ चिड़िया की कविता सिखायी जाती है, तब वे प्रसन्न हो उठते हैं, उसको याद कर लेते हैं, गाते हैं, सबको सुनाते हैं। जब वे बच्चे कुछ बड़े होते हैं, उनका अध्ययन-स्तर आगे बढ़ता है, तो वे चिड़िया की कविता से भी उत्तम कविता सामग्री ढूँढने लगते हैं और पर्याप्त रुचि व सस्कार हो तो तत्त्वज्ञानी जिज्ञासु भी बनते हैं।

हमें तत्त्वज्ञान की, शास्त्रों को पढ़ने की कला भी सीखनी चाहिये। उनका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये। शास्त्रों की गाथाओं का यदि शुद्ध उच्चारण के साथ सगीतमय, काव्यमय पाठ करते हैं तो वह पढ़ने वाले व सुनने वाले दोनों को भाव-विभोर, आनन्दमग्न कर देती है। सगीत, गाने वाले व सुनने वाले दोनों को भाव-विभोर कर जाति-पाति, काला-गोरा, ऊँच-नीच का भेद मिटा देता है। सगीत के प्रभाव में जहरीला नाग भी भूमने लगता



है, रोता हुआ बालक चुप होकर सो जाता है। सगात वातावरण को ही प्रभावक बना देता है। यदि हम समयसार आदि ग्रन्थों की गाथाओं का सुमधुर स्वयं में पाठ करें तो आनन्द के साथ तन्मयता भी द्विगुणित होगी। संगीत में बहुत शक्ति है। यदि वाद्य यंत्रों को शृंगार की राग में, धुन में, बजाते हैं तो श्रोता के मन में शृंगारिक भाव उत्पन्न होने लगते हैं। यदि प्रातःकाल मंदिरों में वीतराग-भाव के भजनों का सस्वर-पाठ हो, मधुर घटियाँ बजे तो वैराग्य-भाव क्यों नहीं उत्पन्न हो सकते? आमपास का वातावरण स्वच्छ व शुद्ध रखने हेतु ही गली-मोहल्लों में मंदिरों की आवश्यकता हुई। उन मंदिरों के माध्यम से हम कुछ समय तो आत्म-चिन्तन के लिये दे सकते हैं। चौबीस घंटे हम इस शरीर की सेवा में, राग में शृंगार में ही बिता देते हैं, इसमें से थोड़ा सा समय तो हमें अपनी आत्मा के लिये देना चाहिये, तत्त्वज्ञान के मनन-चिन्तन में ही लगाना चाहिये। जीवन में तत्त्वज्ञान का बहुत महत्व है।

जब राम की आज्ञा से कृतान्तवक्र सेनापति सीता को वन में छोड़ने गया, उस समय उसे सीता पर बहुत ही करुणा-दया आई कि इस सीता का भी भाग्य है? विवाह के कुछ समय पश्चात् ही चौदह वर्ष का वनवास भोगा, उसमें भी रावण के यहाँ पहुँच गई तो अत्यन्त मानसिक कष्ट भोगा, राम युद्ध करके रावण के चंगुल से छुड़ा कर लाये तो अब फिर एक धोबी के कहने मात्र से पुनः वनवास भोगना पड़ रहा है। सीता को वन में छोड़ते समय बहुत अश्रुपूरित नयनों से सेनापति ने उससे राम के प्रति कुछ सदेश देने के लिये पूछा। सीता ने कहा कि—वस तुम उनसे यही कहना कि जैसे लोकोपवाद के डर से मुझे त्याग दिया है, वैसे किसी के बहकाने से, किसी के कहने से कि धर्म ढकोसला है, कभी धर्म को मत छोड़ना। यह सीता के तत्त्वज्ञान का ही फल था कि उसने इतने कष्ट उठाने के बाद भी अपने पति राम पर या अन्य किसी पर उन कष्टों के लिये दोषारोपण नहीं किया तथा राम के लिये धर्म न छोड़ने का ही सदेश दिया।

जब सीता की अग्नि-परीक्षा ली गई और उसमें वह सफल हो गई तो राम ने अयोध्या चलने के लिये कहा, तो सीता ने राम से कहा—हे राम! आप विवाह न होने तक तो बहुत सुखी थे, परन्तु जब से मुझसे विवाह हुआ तबसे आपको अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ रहा है। पहले चौदह वर्ष का वनवास, उसमें भी मेरे कारण रावण से युद्ध, फिर लोकापवाद आदि कठिनाइयाँ आपके जीवन में आईं। ये सब कष्ट व दुःख मेरे अशुभ कर्म के उदय के कारण, मेरे कारण ही उत्पन्न हुये। मेरे कारण ही आपको एक क्षण के लिये भी



शान्ति न मिल सकी । रविपेणाचार्य ने पद्मपुराण में इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है । तत्त्वज्ञानी सीता ने सब दोष का कारण स्वयं को मानकर अपने पति को निर्दोष सिद्ध कर दिया । यह सब धर्म-ज्ञान का ही प्रभाव था ।

हमारी भारतीय सस्कृति आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है । मेरा सब मुमुक्षुओं से यही कहना है कि चौबीस घंटों में से आधा घंटा तो स्वाध्याय, सत्संग के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लाभ उठाये । भर्तृहरि ने लिखा है कि—क्षण भर के सत्संग व स्वाध्याय से भी असंख्यात कर्म कट जाते हैं, आलस्य बुद्धि दूर होती है, प्रसन्नता द्विगुणित होती है, पुण्यवध होता है, इससे वीतरागता भी उत्पन्न हो सकती है और प्रयास से सम्यग्दृष्टि भी हो सकती है । सत्संग व स्वाध्याय आत्मा की अजरता-अमरता प्राप्त करा सकते हैं ।

आपके घरों में रेडियो, टेलीविजन तथा मनोरंजन के, भौतिक सुविधाओं के अनेक साधन हैं, आप उनको छोड़कर प्रातःकाल ही यहाँ (प्रवचन सभा में) क्यों आये ? क्योंकि आपको इन भौतिक सुविधाओं-साधनों से शांति नहीं मिलती, आप शांति के लिये धर्म का ही सहारा लेते हैं । अतः सिद्ध है कि शांति धर्म में है, स्वाध्याय में है, तत्त्वज्ञान में है, चिन्तन में है और इसके लिये भौतिकता से विमुख होकर इन्हीं की ओर लौटना होगा ।

एक बालक मेले में अपने पिता की अंगुली पकड़ कर घूम रहा था । मेले में लगी दुकानें व अन्य सभी वस्तुओं को देख कर वह अत्यन्त आनन्दित व खुश हो रहा था । अचानक पिता की अंगुली छूट गई । बालक पूरे मेले में, घबराया हुआ, रोता हुआ घूमता रहा । यद्यपि मेले में वे ही वस्तुएँ अब भी विद्यमान थीं जो पहले थीं, जिन्हें देखकर वह बालक पहले प्रसन्न हो रहा था, पर अब पिता की अंगुली छूटने मात्र से वह दुःखी हो रहा था, वे वस्तुएँ भी उसे प्रसन्न नहीं कर पा रही थीं । इस प्रकार यदि सब वैभवादि होते हुये भी यदि धर्म का सहारा, धर्म का आश्रय, धर्म की पकड़ छूट गई तो कोई सुखी नहीं रह सकता । उन वैभवादि की वस्तुओं में कोई सुख नजर नहीं आयेगा । जो वैभव पहले, धर्म का अवलम्बन रहने से सुख का कारण बना हुआ था, वही दुःख का कारण बन जायेगा । इसीलिये धर्म का आश्रय लेकर प्रतिदिन आत्मचिन्तन के लिये थोड़ा सा समय अवश्य देना चाहिये ।

भर्तृहरि ने लिखा है कि—

आयुर्वर्षशतंनृणायदिमित रात्रौतद्धं गत ।  
 तस्याद्धं स्यपरस्यचाद्धं मरमं वैवालवृद्धत्वयो ॥  
 शेष व्याधि वियोगदु ख निहितं सेवादिभिर्नोभते ।  
 जीवेवादितरग चंचलतरे सौरव्य कुत प्राणिनाम् ॥

मान लीजिये कि आपकी आयु सौ वर्ष की है । उस सौ वर्ष की आयु में से पचास वर्ष तो सोने में, निद्रा में ही व्यतीत हो गये । शेष रहे पचास वर्ष, उनमें से पच्चीस वर्ष विद्याध्ययन में, खेलखूद में ही व्यतीत हो गये, शेष रहे पच्चीस वर्ष, उसमें विवाह-प्रपच, दुनियादारी के धन्वे, रोजी-कमाई आदि में लगे रहे, अब मौत कब आकर तुम्हें ले जायेगी यह पता नहीं, धर्म ध्यान कब करोगे ? क्या आयु आपके हाथ में है ?

किसी प्रसिद्ध साहित्यकार ने कहा है कि धन कमाते समय स्वयं को अजर-अमर समझ कर उद्यम करना चाहिये और धर्म करते समय मदैव तत्पर रहना चाहिये, यही समझना चाहिये कि क्या पता अगले क्षण भी जीवन है या नहीं ? मृत्यु के लिये कोई भेद-भाव नहीं है, वह समय आने पर छोटे को, बड़े को, ऊँच को, नीच को, अमीर को, गरीब को, सबको डस लेती है, उसे किसी के प्रति दया नहीं होती ।

आज हम अपनी आध्यात्मिक सस्कृति, तत्त्वज्ञान को भूल गये हैं । आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित ग्रंथ लघुतत्त्वस्फोट का अमेरिका के कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के बौद्ध-दर्शन विभाग के अध्यक्ष ने अंग्रेजी में अनुवाद कर गत एक हजार वर्ष में प्रथम बार प्रकाशित करवाया है । विदेशों में तत्त्वज्ञान के जिज्ञासु व पिपासु बैठे हैं, उन्होंने हमारे आध्यात्मिक ग्रंथ को अपनी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित करवा दिया, पर हमारे यहाँ कोई अनुवादक, पाठक, जिज्ञासु व पिपासु भी नहीं हैं । जैसे तत्त्वज्ञान के एक सौ पचहत्तर ग्रंथों का जर्मन-वासियों ने अपनी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशन करवाया है । 'पञ्चमचरिय' ग्रंथ का आज से एक सौ पच्चीस वर्ष पूर्व अनुवाद करके प्रकाशन करवा लिया । हम तो अपने तत्त्वज्ञान से उदास हो गये और विदेशी सब भौतिक सम्पदा साधनों में युक्त होते हुये भी शांति के अभाव के कारण हमसे हमारा तत्त्वज्ञान मागते हैं । हम वहाँ से मशीनरी व अन्य भौतिक वस्तुएँ मगा रहे हैं और वे हमसे तत्त्वज्ञान माग रहे हैं । हमें अपनी निधि के महत्त्व का ज्ञान नहीं है । हमारे नवयुवकों को, बच्चों को इसका ज्ञान कराना आवश्यक है ।

जैसे एक मा बच्चे के हाथ से काच का गिलास छुटना चाहती है, उसे फूटने से बचाना चाहती है तो बहुत प्यार से समझाते हुये, दूसरे हाथ में लड्डू आदि पकड़ा कर उस गिलास को छुड़ा लेती है, अपना काम पूरा कर लेती है, उसी प्रकार हमें अच्छे व सरल साहित्य के द्वारा तत्त्वलाभ के प्रति रुचि उत्पन्न करानी चाहिये, जो उनका मनोरंजन भी करे, आत्मरंजन भी करे। अच्छे धार्मिक साहित्य के द्वारा, सरल धार्मिक साहित्य के द्वारा, धार्मिक कहानियों के द्वारा, संगीतमय भजनों के द्वारा युवा वर्ग व बालकों की धर्म के प्रति रुचि प्रदीप्त करनी चाहिये।

बालक को माता-पिता, मकान, दुकान, स्कूटर तो उत्तराधिकार में सौंपते हैं। बेटा-दामाद को कर्जा लेकर भी, झूठी शान के लिये अथवा मजबूरी में, धन-दौलत, मकान, रेडियो, टेलिविजन आदि देते हैं, पर क्या कभी उनमें धार्मिक विचार उत्पन्न कराने हेतु कभी कोई धर्म ग्रन्थ उन्हें सौंपा है ? क्या कभी उन लोगों की रुचि उत्पन्न कराने हेतु नवीन सरल धार्मिक साहित्य का सृजन, प्रकाशन कराया है ? पुत्री के जन्मते ही उसके विवाह की, उसको देने के लिये दहेज की चिन्ता करने लगते हैं, उस समय से ही थोड़ा-थोड़ा सामान जुटाने में लगते हैं। बस सारा समय आर्तरीद्र ध्यान में ही व्यतीत कर देते हैं। पर क्या कभी उनके आत्म-कल्याण के बारे में आपने विचार किया है ? यह दोष माता-पिता का है, पर दोष थोप देते हैं बच्चों पर, युवा वर्ग पर। अपना समय विकथा में, आर्तरीद्र ध्यान में न लगाकर धर्म की कथाओं, गाथाओं को समझने में लगाइये। यदि विनाश से बचना है तो धर्म का सहारा लीजिये। अपने पुत्र-पुत्री को उत्तराधिकार में सब सम्पत्ति व दहेज देते समय एक-दो धार्मिक पुस्तकें भी साथ दीजिये और उसको पढ़ने की प्रेरणा भी दीजिये। यदि उनमें से एक-दो गाथाएँ भी जीवन में प्रभावी हो जायें जीवन में उतर जायेगी तो आत्मा अजर-अमर बन जायेगी। यदि लेखक वर्ग, चिन्तक वर्ग ऐसे उपाय खोजे, नवीन धार्मिक साहित्य का सृजन करें, तो युवावर्ग भी धर्म में पीछे नहीं रहेगा। यदि घर में मा सुशिक्षित है, तो वह बच्चों में धार्मिक सुसंस्कारों का बीज वपन कर सकती है। शिक्षित नारियाँ एक स्वस्थ व शिक्षित समाज का निर्माण कर सकती हैं।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि—

जह् एगम को वि पुरिसो  
रायाण जाणिदूण सदहदि ।

तो त अणुचरदि पुणो  
 अत्यथीओ पयत्तेण । १७।  
 एव हि जीवराया  
 णादव्वो तह य सद्वहेदव्वो ।  
 अणुचरिदव्वो य पुणो  
 सो चेव दु मोक्खकामेण ।

अर्थ—जैसे कोई वन का इच्छुक पुरुष राजा को छत्र, चैवर आदि राजचिन्हों से पहचान कर श्रद्धान-निश्चय करता है और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उनकी सेवा करता है, इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को जीव रूपी राजा का ज्ञान करना चाहिये, उसी का श्रद्धान करना चाहिये, फिर उसी का अनुसरण-अनुभव करना चाहिये ।

आज अनेक साधन मौजूद हैं । उन आधुनिक साधनों का उपयोग आत्मकल्याण के लिये करें तब ही लाभ है । महानुभावो ! आत्म-कल्याण के लिये प्रतिदिन निश्चित रूप से आधा घंटा तो कम से कम दीजिये, स्वाध्याय कीजिये । जब आपकी रुचि प्रदीप्त हो जायेगी तो आप स्वयं ही इसका समय बढ़ा देंगे ।

इस देह की डज्जत आत्मा के कारण है, आत्मा के निकल जाने के बाद इस देह को तुरन्त श्मशान घाट में पहुचाने की व्यवस्था करते हैं । फिर तो यह चमड़ा भी किसी उपयोग का नहीं रहता । हम इस देह की, हड्डी-चमड़े की सेवा तो करते हैं, इसका ध्यान रखते हैं, पर आत्मा का नहीं ।

एक महिला ने एक बहुत प्रसिद्ध सुनार से एक नथ बनवाई । सुनार ने छह महीने के परिश्रम व प्रयास से अत्यन्त सुन्दर नथ बनाकर दी । अब वह महिला उठते-बैठते, मन्दिर में, समाज में हर समय उस सुनार की कुशलता के गीत गाती रहती । एक दिन मन्दिर की सीढ़ियों में एक पंडितजी मिले, उन्होंने उस महिला की, नथ की व सुनार की चर्चा सुन रखी थी । महिला ने पंडितजी को रोककर अपनी नथ व सुनार की प्रशंसा में गीत गाना प्रारंभ कर दिया । पंडितजी हँसे, महिला ने हँसने का कारण पूछा । पंडितजी बोले—अरे बावली ! जिसने तुम्हें नाक दी उसके तो तू गीत नहीं गाती और उस सुनार के गीत गाती है ।

हम भी उस महिला की भांति इस शरीर के शृंगार का, शरीर के मेल हटाने का तो ध्यान रखते हैं पर इसके अन्दर विराजमान आत्मा के

शृगार का, उसका मैल हटाने का विचार नहीं करते । ऋषि मुनियों की वाणी, जिनवाणी, आत्मा पर लगे मैल हटाने का सर्वोत्तम साधन है । तभी तो कहा है कि—

जग सुहित कर, सब अहित हर  
श्रुति सुखद, सब संशय हरे ।  
भ्रम रोग हर जिनके वचन—  
मुख चन्द तें अमृत भरें ॥

‘पद्मनन्दि पञ्चविंशति’ में आचार्य गारण्टी देते हैं कि यदि आपने रुचि व श्रद्धापूर्वक आत्मा व परमात्मा की बात सुनी तो आप निश्चित रूप से निकट भविष्य में मोक्ष जाओगे । रुचि व श्रद्धा आसन्नभव्य का लक्षण है—

तत्प्रति प्रीत चित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।  
निश्चित स भवेद् भव्यो, भाविनिर्वाण भाजनम् ॥

भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये, मुकद्दमा जीतने के लिये वकील से सलाह लेते हैं तो बदले में उसे फीस देते हैं । पर उन ऋषि-मुनि, तीर्थंकरों ने कर्मों को जीतने का मार्ग बताया हम उनकी कोई फीस नहीं लौटा रहे । यह हमें मुफ्त में मिल गया इसलिये हम इसकी कोई कीमत नहीं समझ रहे ।

हमें परस्पर प्रेम व वात्सल्य से धर्म का प्रचार करना चाहिये, स्वाध्याय, मनन व चिन्तन करना चाहिये । जैसे पारस पत्थर से लोहा थोड़ा भी छू जाता है तो वह भी स्वर्ण बन जाता है, इसी प्रकार वीतराग भगवान की वाणी मन को, आत्मा को जरा भी छू जाये तो अवश्य ही आत्म-कल्याण होगा । थोड़ा सा भी वीतराग वाणी को समझ लें, जीवन में उतार लें तो जन्म सफल हो जायगा ।



## हमारा कर्तव्य और पुरुषार्थ

दिव्य-दर्शन मे आत्म-दर्शन है । समस्त आत्मा का धर्म एक है । चिन्तन उदार, विशाल व वीतराग दृष्टि-वाला तभी हो सकता है, जब अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करेगे, एकान्त से नहीं । एकान्त डुबो देता है, मनुष्यत्व को समाप्त कर देता है, चिन्तन को कुण्ठित कर देता है ।

इस विश्व मे मानव जन्म लेता है, जन्म के पश्चात् वह अपने सस्कारों के अनुसार, परिवार, वातावरण, परिस्थिति, देश, राष्ट्र आदि मे से अच्छाईयो व बुराईयो को अपनी दृष्टि से अच्छा समझ कर सहज ही ग्रहण कर लेता है अपना लेता है । अच्छाई-बुराई का निर्णय, तत्त्वज्ञान का निर्णय करना इतना आसान नहीं है जितना उनके बारे मे पढ़ना, चर्चा करना, उपदेश देना है । आप किसको सर्वथा अच्छा व किसको सर्वथा बुरा समझेंगे ? तटस्थ दृष्टि वाले महापुरुषो ने, महान् आत्माओ ने, तीर्थंकरों ने किसी भी वस्तु-तत्त्व को सर्वथा एकान्तरूप से अच्छा या बुरा नहीं माना ।

जैसे अग्नि, यह स्वयं मे न अच्छी है न बुरी है । जब यह पच पकवान बनावे, धातु आदि गलाने मे सहायक हो, प्रकाश फैलाये, तब हम इसे अच्छी समझते हैं और जब यह शरीर को, मकान को जलाये, भस्म करे, तब बुरी समझते हैं । तो क्या अग्नि को एकान्त रूप से अच्छी या बुरी कह सकते हैं ? अग्नि पवित्र, शुद्ध है, भेदभाव रहित है । यह पवित्र है, इसीलिये विवाह, धार्मिक-अनुष्ठान आदि मे अग्नि को साक्षी रखते हैं । यह पंडित, मूर्ख, ब्राह्मण, शूद्र किमी के प्रति भेदभाव नहीं रखती, यह किमी को नहीं छोड़ती, सबको जला देती है ।

जैसे अग्नि को सर्वथा अच्छा या बुरा नहीं कह सकते, उसी प्रकार जब विशाल विश्व की ओर दृष्टि डालते हैं, लौकिक वस्तुओं की ओर देखते हैं तब अपने सस्कारों के आधार पर ही वस्तुओं को अच्छी या बुरी समझते हैं। एक प्रदेश में जिस वेशभूषा को सुन्दर व उचित समझते हैं, उसी वेशभूषा को दूसरे प्रदेश में असुन्दर व अनुचित मानते हैं। इस प्रकार का व्यवहार हमारे जीवन में प्रत्येक वस्तु के साथ होता है, इससे ज्ञात होता है कि आखिर हमें अनेकान्त की शरण लेनी होगी, अनेकान्त-तत्त्वज्ञान के चौराहे पर खड़ा होना होगा। जैसे—चौराहे पर खड़ा सिपाही चारों ओर से आने वाले ट्रैफिक का नियन्त्रण करता है, एक ओर का ट्रैफिक रोकता है, दूसरी ओर का चालू रखता है। इसी प्रकार एक का प्रमुख तो दूसरे का गौण दृष्टिकोण रखकर सतुलन बनाये रखेंगे तभी सत्य-ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

अमृतचन्द्राचार्य ने लघुतत्त्वस्फोट में कहा है—

स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम् ।

त्वपीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो ! किमर्थं बहिरर्थसाधनम् ॥१३॥

यदि मिट्टी स्वयं, अपने आप कुंभ (घड़ा) बन जाये तो फिर उसके लिये दण्ड की, चाक की, कुम्हार की क्या आवश्यकता है ? वह मिट्टी अपने आप घड़ा बन जाये, स्वयं ही उसमें पानी भर जाये, आप को पिला दे, तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है ? सारे साधन हैं पर कुम्हार नहीं हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। कुम्हार है, पर मिट्टी आदि नहीं तो भी घड़ा नहीं बन सकता। बिना साधनों के, बिना पुरुषार्थ के तथा बिना विधि के कुम्भ स्वयं नहीं बन सकता।

इस देश में दैववाद ने बहुत हानि पहुँचायी है कि ऐसा होना ही था, ऐसा ही होगा। प० टोडरमलजी ने इसलिये कहा है—‘होनहार काल-लब्धि कछु नाहि, जो करे, जो होवे वही काल-लब्धि है, होनहार हैं।’ टोडरमलजी दैववाद से निकम्मे बनने वालों को बचा रहे हैं, सोने वालों को जगा रहे हैं।

इस ससार में अच्छाई या बुराई सब पुरुषार्थ के द्वारा ही होती है, बिना पुरुषार्थ के कोई वस्तु नहीं हो सकती। यदि वस्तुयें बिना पुरुषार्थ के, स्वयं ही निर्माण हो जायें तो फिर भाग-दौड़ की, दौड़-धूप की आवश्यकता क्या है ?

किसान कितना परिश्रम करता है, बूँप, बारिश, ठंड, सब कुछ सहन करता है, हमें उसके पुरुषार्थ, मेहनत, का पता नहीं होता, जब हम भी वैसी मेहनत करें तभी ज्ञात होगा। किसान से बढ़कर कौन महान् है ? कोई बहुत पढ़े लिखे, डिग्रीधारी व्यक्तियों को बड़ा या महान् समझते हैं। पर किसान अत्यन्त परिश्रम के साथ एक बीज से ढेर सारा अनाज उत्पन्न करता है, शांति के साथ जीता है और सबको शांति से जीने के लिये अनाज वितरित करता है और दूसरी ओर ये कॉलेज में पढ़ने वाले, डिग्री लेने वाले, उपद्रव करते हैं, आग लगाते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं, यह पढाई किस काम की ? हमारे यहाँ सिर्फ ज्ञान की कीमत नहीं, उसके साथ उसी के अनुकूल पुरुषार्थ-आचरण हो, तभी उसकी कीमत है। जब तक नागरिक सभ्य-संस्कृत नहीं होगा, पुरुषार्थी नहीं होगा तब तक वह सफल नहीं हो सकता।

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो सिर्फ ब्राह्मणों की वस्ती बसा कर दिखा सके ? उस वस्ती में दर्जों का कार्य भी ब्राह्मण ही करे, बड़ईगिरी का कार्य ब्राह्मण ही करे, हरिजनो का कार्य भी ब्राह्मण ही करे, क्या यह सम्भव है ? सबके सहयोग व उपकार से ही समाज व्यवस्थित रह सकता है। हम अपने जीवन में दूध-घी पशुओं से प्राप्त करते हैं, जीवन में उनका भी सहयोग है। यदि इनका सहयोग न मानें तो ज्ञात होता है कि हम धर्मान्विता व दिव्यदर्शन में फर्क नहीं मानते। धर्मान्विता सरल है, यह जितनी शीघ्रता से प्राप्त होती है, उतनी ही शीघ्र पतित-पातिनी भी होती है, पर दिव्यदर्शन में आत्मदर्शन है। दिव्यदर्शन में वह जाता-दृष्टा के रूप में ससार को देखता है, किसी को छोटा नहीं समझता, किसी को तिरस्कृत दृष्टि से नहीं देखता, विश्व के समस्त प्राणियों को आत्माओं को अपने समान देखता-समझता है। समस्त आत्मा का धर्म एक है। आत्मा ब्राह्मण या ईसाई नहीं है, अन्यथा बताइये गधा किस जाति का है ? गधा ब्राह्मण है अथवा ईसाई ? आज चिन्तन कूपमण्डूकवृत्तिमय हो रहा है। चिन्तन उदार विशाल व वीतराग दृष्टि वाला तभी हो सकता है जब अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करेंगे, एकान्त से नहीं। एकान्त मनुष्य को डुबो देता है, मनुष्यत्व को समाप्त कर देता है, उसके चिन्तन को कुण्ठित कर देता है।

सब कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, सब में जीवत्व शक्ति है, ये भी जीव हैं। इनके सहयोग के बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। पेड़-पौधों के अभाव में क्या मानव-जीवन सम्भव है ? खाद्य सामग्री प्रदान करने के साथ ये पेड़-



पौधे प्रकृति का सौन्दर्य बढ़ाते हैं और वायुमण्डल को दूषित होने से भी बचाते हैं । ब्रिटेन में यह सिद्ध कर दिया गया है कि पेड़-पौधों के बीच रहने वाला मानव स्वस्थ व निरोग रहता है ।

भगवान् महावीर ने केवल मानव संस्कृति का नहीं प्राणी संस्कृति का विधान किया है । उन्होंने एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय, सजी पचेन्द्रिय व सिद्धालय तक के समस्त जीवों में परमात्मा का दर्शन किया । समन्तभद्र ने बताया है कि इनमें परमात्मा का दर्शन कैसे किया गया है —

‘अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।’

उन्होंने अहिंसा के द्वारा कृमि-कीटों में भी अपने समान जीव देखा । वह अहिंसा ही ब्रह्म है, धर्म है । वीतराग-परमात्मा के ज्ञान में व हमारे ज्ञान में द्रव्यदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है । वह प्रत्यक्ष जानते हैं हम परोक्ष जानते हैं, वे युगपत् जानते हैं, हम क्रम से जानते हैं, पर ज्ञान दोनों में है, प्रगट कितना किया, विकसित कितना किया, इतना ही अन्तर है । हम राग व मोह के कारण फस रहे हैं, वे राग-मोह रहित हैं ।

मैं वह हूँ जो है भगवान्,  
जो मैं हूँ वह है भगवान् ।

अन्तर यही ऊपरी ज्ञान,  
वे विराग, यह राग वितान ॥

यह राग और मोह ही हमें सकीर्णता व कूपमण्डूक वृत्ति में डालता है । आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि —

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।

तथेति वक्तुं मृतरुद्धं गौरवादहञ्जजातं प्रथयन्तुविद्विष ॥

द्वात्रिंशिका—६।२

यह मान्यता कि ये हमारे पुराने विचार हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं, ये नये विचार हैं, इसलिये श्रेष्ठ हैं, भ्रामक हैं, गलत हैं । न पुरातन ही श्रेष्ठ है, न नया ही श्रेष्ठ है, न वर्तमान ही श्रेष्ठ है, केवल सत्य ही श्रेष्ठ है । सत्य

किसकी देन है ? सत्य न महावीर की देन है, न राम की देन है । सत्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है । महावीर ने केवल उसे अनुभूत कर प्रगट किया है । स्वयं उस मार्ग पर चलकर उसको प्रशस्त किया है और उस धर्म मार्ग पर सत्य मार्ग पर चलने से ही वे महावीर बने ।

हम महावीर की जय बोलते हैं, राम की जय बोलते हैं, पर चिन्तन कीजिये कि उनके बताये हुये मार्ग पर कितना चलते हैं ? यदि उनके बताये मार्ग पर नहीं चलते तो उनका नाम लेने का, उनकी जय बोलने का क्या अधिकार है ? प० टोडरमलजी की जय बोलते हैं तो उनके पदचिह्नो पर चलकर दिखाना है । गांधीजी का नाम लेकर वोट मागने वाले यदि उनके बताये मार्ग पर न चले, तो उनका नाम लेने का उनके नाम से वोट मागने का क्या अधिकार है ?

तत्त्वज्ञान से कोसो दूर रहने वाले शुष्क-मस्तिष्क की कोई कीमत नहीं । हमें ज्ञान व क्रिया का सामन्जस्य बैठाना होगा । ज्ञान रहित क्रिया व क्रिया रहित ज्ञान दोनों ही हानिकारक हैं ।

हतंज्ञान क्रिया हीनं, हता च अज्ञानिना क्रिया ।

धावन किलान्धको दग्धा, पश्यन् अपि च पगुलः ॥

जो जीवादि पदार्थ का, आत्मा का चिन्तन करता है वह अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता कायम रखते हुये समस्त आत्मा को स्व-समान समझता है । चैतन्य-चैतन्य में स्वरूपगत दृष्टि से कोई भेद नहीं है । इसलिये धवला, महाधवला में आचार्यों ने, आचार्य नेमिचन्द्र ने, सब ने पूछा—‘मव्वे शुद्धा शुद्धनया’ । निगोद काय से सिद्धालय तक के जीव एक समान हैं, उनमें द्रव्य-दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है । यही सही आस्तिक दृष्टि है । सकीर्णता में डूब कर केवल अपने परिवार-धर्म के प्रति ही विश्वास व आस्था रखना आस्तिकता नहीं है । केवल अपने परिवार को, अपने धर्म को अपना समझे शेष को पराया, यह अपने-पराये की दीवार हटाये बिना दृष्टि, चिन्तन सम्यक् नहीं हो सकता । वह स्याद्वादी नहीं बन सकता, जो यह कहे कि—‘मैं कहूँ वही सत्य है शेष सब असत्य । स्याद्वाद-अनेकान्त दृष्टि रखने पर ही हम महावीर के सच्चे अनुयायी बन सकते हैं ।

जिसमें सत्य है, जो सत्यमय है, वही धर्म है, भगवान् है । हम केवल

अपने पूर्वजों का, महापुरुषों का महान् आत्माओं का नाम स्मरण करे, उनकी जय बोले, स्वयं उस पर शक्ति अनुसार आचरण न करे तो कभी भी सफलता नहीं मिल सकती ।

आज विज्ञान युग है । इसमें विज्ञान के नाम में जो कुछ भी कहा जाये वह सब सत्य है और आज विज्ञान की स्थिति यह है कि एक वैज्ञानिक एक तथ्य को प्रस्तुत करता है और दूसरा उसका खण्डन कर देता है । सत्य का कभी खण्डन नहीं हो सकता । अग्नि अनादि काल से जलती आ रही है, क्या कोई इसका खण्डन कर सकता है ? वह स्वयं जलती है, पर सर्वथा दूसरों को, सबको नहीं जलाती, यदि वह सबको जलाती तो फिर आकाश को क्यों नहीं जलाती ? वह कागज को, शरीर को जला देती है, पर आत्मा को नहीं जलाती । आत्मा को, आकाश को जलाने की शक्ति उसमें नहीं है । इसीलिये तत्त्वज्ञों ने कहा कि—आत्मा निराकार, निरजन, चैतन्यमय है, न वायु इसे सुखा सकती है, न आग इसे जला सकती है, न तलवार इसके टुकड़े कर सकती है, न पानी इसे गीला कर सकता है, इस अजर-अमर आत्मा के प्रति जब यह विश्वास होगा तभी वह आस्तिक होगा, तभी दृढ़ता आयेगी व अनुभूति के लिये सक्षम होगा और अमरता प्राप्त करने के लिये बढ़ सकेगा ।

कोई कहता है कि—पेड़-पौधे सुन्दर हैं, कोई नदी-तालाबों को सुन्दर बताते हैं, तो कोई पहाड़ों-गुफाओं को, पर कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि—इन वस्तुओं को जानने की शक्ति आत्मा में है । अतः आत्मा के समान सुन्दर वस्तु अन्य कोई नहीं । समस्त बाह्य सौन्दर्य को जानने वाला सबसे सुन्दर है । हम आत्मा के सौन्दर्य को भूलकर बहिरंग सौन्दर्य पर ही मोहित हो रहे हैं । जब हम आत्मा के सौन्दर्य को देखेंगे, पहचानेंगे, उसका अनुभव करेंगे तभी हमारी दृष्टि सम्यक् होगी, कर्मों का नाश होगा और तभी सासारिक दुखों से मुक्त होंगे ।

दुनिया में अनेक पक्ष हैं । एक पक्ष यह है कि इस दुनिया को ब्रह्मा ने बनाया है । यदि कुछ समय के लिये यह मानले तो जिस ब्रह्मा ने हमें बनाया है, उसी ने इन पशु-पक्षियों को भी बनाया है, अन्य मानवों को भी बनाया है । फिर जब पशु-पक्षियों का शिकार, मानव-जाति पर अत्याचार करते हैं तो क्या उस सृष्टा-ब्रह्मा के विरुद्ध कार्य नहीं करते ? अपने सृष्टा के विरुद्ध कार्य करना, क्या नीतियुक्त है ?

हमें केवल मानवीय दृष्टि व संस्कृति पर ही चिन्तन नहीं करना है । हमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल, छहो द्रव्यों का चिन्तन करते हुये अपनी आत्मा का वीतराग भाव में चिन्तन करना होगा, तभी दृष्टि विशाल बनेगी । मानव-जाति तक ही सीमित न रहते हुये प्राणी-मात्र के अन्दर चैतन्य का दर्शन करना है । हमें एकांगी नहीं बनना, अनेकान्त दृष्टि रखने पर ही समस्त समार में से चीरते हुये तत्त्वज्ञान को, सत्य को पा सकेंगे । हम दोनों पैरों से ही सम्यक् गति से चल सकते हैं, दूसरा सहारा लेना पड़ता है ।

सब प्राणियों में जीवत्व को पहचानेंगे, समझेंगे, तभी हमारे जीवों के प्रति सम्मान की भावना रख सकेंगे । तभी 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्', को समझ सकेंगे और तभी जीवन की अनेक बाधाओं व दुखों से मुक्त हो सकेंगे ।

कोई हमें, प्यास लगने पर पानी पिलाकर तृप्त करता है, तो हम उसका भी उपकार मानते हैं, तो जिन सर्वज्ञ-वीतराग भगवान् ने हमारे आत्म-कल्याण के लिये चिन्तन दिया, मार्ग प्रशस्त किया है, उनका हम उपकार न मानें इसमें बड़ी कृतघ्नता व विडम्बना क्या होगी ? हमारे वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि, दिव्य अर्थों की ध्वनि के द्वारा हमारी आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि बताई है, हम उनके ऋण से कैसे मुक्त हो सकते हैं ?

यदि हम किसी गलती पर हों तो हमें तुरन्त अपनी गलती महसूस कर लेनी चाहिये, स्वीकार कर लेनी चाहिये, उसे स्वीकार करने में हिच-किचाहट क्यों ? जब कभी कोई असत्य बोलता है तो उस असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये अनेक बहाने ढूँढता है । इसलिये आचार्यों ने अधिक बोलने के लिये मना किया है, क्योंकि बोलने के पश्चात् उन शब्दों के गुलाम हो जाओगे । तभी तो तीर्थंकर भी सर्वज्ञता प्राप्ति के बाद ही बोले, तभी उनकी वाणी खिरती है । छद्मस्य जीव के तो मिथ्यात्व के कारण वीतराग वाणी निकल ही नहीं सकती, इसलिये वह अपने कथन का गुलाम होता है ।

सत्य की पूर्णता को मापना आसान नहीं है । सत्य कहीं बाजार में नहीं मिलता, वह आत्मा की आवाज है, वह आत्मा में से ही प्रसृत होगा । सत्य की प्राप्ति तपस्या से, विनम्रता से होगी, सत्य किसी जाति विशेष में,

धर्म विशेष में जन्म लेने से प्राप्त नहीं होता । यह तो प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है । ससार के समस्त प्राच में रच-पचकर आग्निर मय की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक जगत् की ओर लौटना होता है ।

आज स्वीडन सरकार ने हिंसात्मक अस्त्र-शस्त्रों के प्लास्टिक खिलौनों के रूप में प्रचलन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है, जैसे टैंक, पिस्तौल आदि, क्योंकि इनसे इसी प्रकार की हिंसात्मक भावना उत्पन्न होती है । इसीलिये भगवान् महावीर ने भावहिंसा को भी त्याज्य माना है । हम अहिंसक देश-वासी आज हिंसात्मक कार्यों में मग्न हैं । यदि हम सुख-शान्ति चाहते हैं तो हमें अहिंसा की ओर लौटकर आना होगा ।

हमें प्राणी-मात्र के प्रति कल्याणकारी भावना रखनी होगी । मानव-जाति के प्रति सेवा-भावना रखनी होगी, सेवा मानव-जीवन के लिये कल्याणकारी है । जब आपको कोई तकलीफ होती है तो आप तुरन्त डॉक्टर के पास, वकील के पास भागते हैं, इनका सहयोग लेते हैं । समाज में, देश में परस्पर सहयोग की, सेवा भावना की, सहिष्णुता की आवश्यकता है ।

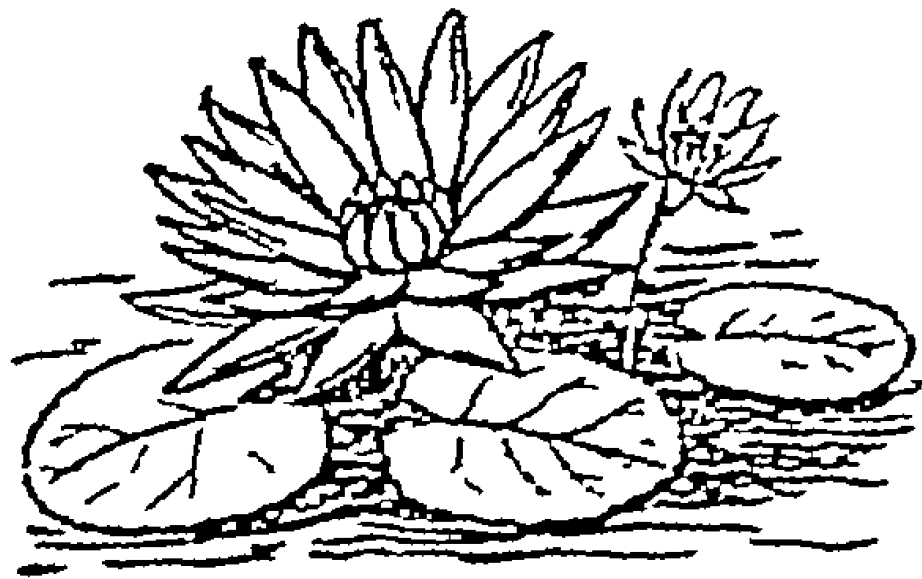
यह नगर विकास न्यास भी तभी सफल व विकसित होगा जब यहाँ के कर्मचारियों की अपने कर्तव्य व देश के प्रति निष्ठा हो । उनकी विचारधारा स्वच्छ व निर्मल हो ।

जब तक कर्तव्य बोध की भावना व कर्तव्य बोध नहीं होगा तब तक नागरिक, नगर विकास न्यास और सरकार सफल नहीं हो सकते । आज देश में सर्वज, सब कर्तव्य को भूलकर केवल अधिकार की बातें करते हैं, इसलिये हमारा देश उन्नत नहीं हो पाया, वातावरण अशांत हो गया । सफलता की कुंजी कर्तव्य-पालन है । इसी से देश उन्नत होगा । नागरिकों में राष्ट्रीय, मानवीय व प्राणी-मात्र के कल्याण की भावना होगी तभी देश आदर्श बन सकेगा । केवल सुन्दर-साफ सड़के, सुन्दर भवन बनाने से, शस्त्रास्त्र इकट्ठा कर होड़ से, देश विकसित नहीं होगा । चाहे मंत्री हो या नागरिक सबको अपने कर्तव्य को निभाना होगा ।

रूस में टेलिविजन पर राष्ट्रीय ध्वज दीखते ही वहाँ के एक छोटे से बच्चे ने भी स्वयं खड़े होकर राष्ट्रीय ध्वज को सम्मान दिया, अर्थात् वहाँ

छोटे से बालक से भी राष्ट्रीय भावना है। जब तक राष्ट्र के प्रति श्रद्धा-विश्वास नहीं होगा तब तक विकास नहीं हो सकता। मोचिये, जिसका अन्न-जल ग्रहण करने हो उनके प्रति कैसे कृतघ्न हो रहे हो ?

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, निश्चयनय से, तो यह शरीर भी अपना नहीं है, राष्ट्र क्या ? पर व्यवहार में इन सबको सम्मान देना होगा। न्याय-नीति के साथ गरीबों को भी आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों, नगर विकास न्यास की यही भावना व कर्तव्य होना चाहिये। प्राणी-मात्र सुखी रहे यही भावना हो।



- 
- ससार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसे काल स्पर्श नहीं करता हो। जैसे माला के पुष्पों में से सूत निकलता है वैसे ही काल समस्त जड़-चेतना को विद्ध कर स्थित रहता है। जन्म और मरण के स्मृतिपल समयाकन से जाने जाते हैं। काल ने बलि को इन्द्र बनाया और काल ने ही उसे हटा दिया—“समय एव करोति बलाबलम्” अर्थात् बलवान् तथा निर्वल समय के ही पर्याय हैं।

- दीपक अधरे में जलता है, जहाँ प्रकाश का अभाव है, वहाँ जा पहुँचता है। दीपक के उपादान बहुत सीमित हैं—रुई, तेल और मिट्टी, परन्तु उसका दान असीमित है।
-

## कर सेवा जन जन की ....

सेवा व्यवहार दृष्टि से धर्म है। धर्म केवल मन्दिर जाने में ही नहीं है। यदि हम मानवीय धर्म छोड़ देते हैं, तो माला-जपना, शास्त्र पढ़ना सब अधूरे हैं। जो परिग्रह की चिन्ता में लगे रहे, वे सब वह गये और जिन्होंने परिग्रह को छोड़ दिया, वे वच गये।

सेवा धर्म का अंग है। एक जीव दूसरे जीव की सेवा व उपकार करके ही जीवित रह सकता है। जो सेवा को धर्म नहीं समझते, वे अज्ञान में हैं। यदि आप सेवा न कर सकें, तो अनुमोदना तो कीजिये।

शास्त्रों में आचार्यों ने 'मनु' से मनुष्य की उत्पत्ति बताई है। गोम्मटसार में भी कहा है कि मनु मनुष्य का मार्गदर्शन करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मान कपाय की अधिकता के कारण मनुष्य (गति) कहा गया है। मनु की परम्परा में होने के कारण ही मनुष्य कहलाये।

समाज, धर्म व तत्त्वज्ञान, ये परस्पर पूरक हैं। धर्म व समाज के बीच की कड़ी है—मनुष्य। मनुष्य जन्मता है, अपना कल्याण करता है। अपने कल्याण के साथ वह दूसरे का मार्गदर्शक भी बन सकता है। मार्गदर्शक के व्यवहार में, समाज में व शास्त्रों में बहुत से भेद-प्रभेद हैं। उनमें से एक भेद सेवा है। बहुत से कवियों ने लिखा है—

**‘सेवा धर्म समाज की, आगम के अनुकूल’**

सेवा क्या चीज है? इसके लिये तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—‘परोस्परोप-ग्रहो जीवानाम्’। सेवा धर्म का सलाहकार है, सेवा भी धर्म है। धर्म का दो

दृष्टिकोणों से विचार किया गया है । १ व्यावहारिक दृष्टि व २ निश्चय दृष्टि । सेवा व्यवहार दृष्टि से धर्म है ।

प्राकृतिक चीजों में निरपेक्ष-सेवा भाव दिखाई देता है जैसे पेड़, पहाड़ आदि । कई जीव भी निरपेक्ष सेवी होते हैं जैसे—गाय । आप गाय को सूखी घास, तिनके देते हैं और वह आपको अमृत-कलश, दूध देती है । आपसे वह पैसा-धन क्या चाहती है ? कुछ नहीं । केवल घास व जल चाहती है । ये दोनों चीजें आप उसे देते हैं, इसके प्रतिदान में वह आपको दूध दे देती है वह अपने मिर पर आपका एहसान नहीं रखती । उससे ज्यादा दूध प्राप्त होने पर दूध बेचकर धन-लाभ भी करते हैं । आपने अपने स्वार्थ के लिये सूखी घास व तिनके दिये, इसके बदले में उसने क्षीर मरिता बहादी । उसके दूध से मानव-जाति को कितना पोषण प्राप्त होता है पर क्या उसके मन में आपसे कुछ प्राप्त करने की लालसा है ? उसे कोई चाह नहीं है, वह निःस्वार्थ सेवा करती है । साधु भी गृहस्थ से प्रतिदान में आहार लेता है, पर उस गाय में कोई चाह नहीं है, उसे जो घास घास के रूप में देते हैं वह भी निज-स्वार्थ के लिये । ऐसी सेवा महान् है । पेड़ है, वह फल देता है, छाया देता है, लकड़ी देता है अर्थात् प्रकृति की सारी चीजें परोपकारी हैं, परोपकार के लिये हैं । इसीलिये हमारे आचार्यों ने 'परस्परपरोपग्रहो जीवानाम्' कहा । प्रकृति की सब वस्तुयें जीवों के उपकार के लिये हैं । पहाड़ से पत्थर निकालते हैं, उनसे मन्दिर, मूर्ति, मकान आदि बनवाते हैं । पेड़ एकेन्द्रिय जीव है, उसका फल देने के पीछे, पहाड़ की पत्थर देने के पीछे क्या इच्छा है ? इनका जीवन ही परोपकार के लिये है । पेड़ धूप सहन करता है, सर्दी सहन करता है, वर्षा सहन करता है, तब आपको फल प्रदान करता है । पेड़ को भुक्कर एक घड़ा पानी नित्य दे देते हैं और वर्षों तक वह फल देता रहता है ।

जब हम प्रकृति पर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि प्रकृति के मनुष्य पर बहुत उपकार हैं । बादल समुद्र में जल लेता है, लेता रहता है, इसलिये उसका मुँह काला हो जाता है, पर जब वह देने लगता है तो देता जाता है और तब उसका मुँह स्वच्छ, उज्ज्वल-धवल हो जाता है । इसी प्रकार यदि मनुष्य केवल लेता ही रहे, देवे नहीं तो ससार खत्म हो जाय, नष्ट हो जाय । वह भी सद्गति नहीं प्राप्त कर पाये । इसीलिये उसके लिये सेवा-भाव आवश्यक बताया है । आचार्य शिक्कोटि ने भगवती-आराधना में (गाथा सख्या ३३३) कहा है कि—जो सेवाभावी हैं, परोपकारी हैं, जो मन-वचन-



काय व तन-मन-धन से सेवा करते हैं उनके तीर्थंकर प्रकृति का वध होता है ।

माँ, बच्चों की सेवा करती है । क्या उसमें उसका कोई स्वार्थ निहित है ? बच्चे की सेवा में माँ का किंचित् स्वार्थ है—मेरा बेटा बड़ा होगा, वह आयेगी, वो हमारी सेवा करेगी । पर पशु-पक्षियों में यह भावना नहीं होती कि हमारी सन्तान बड़ी होगी, बेटे की वह आयेगी, वह हमारी सेवा करेगी, वे हमारे लिये अनाज के दाने लाकर देगे आदि । चिड़ियाँ आदि भी अपने बच्चों से यह वाछा नहीं रखती कि ये बड़े होकर मेरे हाथ-पैर दवायेंगे, मेरी सेवा करेगे दाने-चुग्गा लाकर देगे । किन्तु मनुष्य चाहता है कि मैंने इस पुत्र को जन्म दिया है तो यह जीवन भर मेरी सेवा करे, हाथ-पैर दवावे, वह भी आवे तो वह भी मेरी सेवा करे । यद्यपि मनुष्य सबसे बुद्धिमान प्राणी है पर स्वार्थवश माँ भी अपने बच्चे से सेवा की आकांक्षा रखती है । पर कुछ बच्चे बड़े होकर अपने माता-पिता की सेवा नहीं करते, उनका तिरस्कार करते हैं ।

तीन वर्ष पूर्व की घटना है । ब्रिटेन में एक अत्यन्त धनी परिवार में एक पुत्र व पुत्री, दो सन्तानें थी । पुत्र बड़ा होकर व्यवसाय हेतु दूसरे शहर में जाकर रहने लगा । पुत्री ससुराल चली गई । घर में केवल माँ बच गई, अब उसका मन न लगता । मन लगाने के लिये माँ ने एक कुत्ता पाल लिया, उसके कार्यों में स्वयं को व्यस्त रखने लगी । एक बार बहुत दिनों तक उस घर का दरवाजा ही नहीं खुला । बिजली-विभाग वाले, टेलिफोन-विभाग वाले आय । दरवाजे खट खटा कर चले गये । इस तरह छ महीने व्यतीत हो गये । तब कुछ लोगो ने पुलिस को सूचित किया । पुलिस आई, दरवाजा तोड़ा गया तो देखा वह महिला मरी पड़ी है, पास ही उसका कुत्ता मरा पड़ा है, उनके शवों पर कीड़े-मकोड़े तैर रहे थे केवल हड्डी के कंकाल, ढाँचे मात्र रह गये थे । वहाँ की विधान सभा में इस घटना की चर्चा चली कि—यह कैसा जीवन है कि पुत्र-पुत्री तक को यह ज्ञात नहीं कि हमारी जन्म-दात्री मर गई है, उन्होंने अपनी माँ की कभी खबर ही नहीं ली । अन्तिम समय भगवान का नाम सुनाना, सेवा-उपचार करना कुछ भी तो नहीं हुआ । हम ब्रिटेनवासियों का जीवन कुत्ते के जीवन से भी गया बीता हो गया । हमारा वैभव, सम्पत्ति बेकार है । इस प्रकार का जीवन तो पशुओं से भी निम्न स्तर का है ।

इसीलिये महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में बार-बार कहा कि—माता-पिता की सेवा करो, बुजुर्गों की सेवा करो, रोगियों की सेवा करो । उन्होंने व्यावहारिक जीवन के इस पहलू पर बहुत अधिक जोर दिया । एक बौद्ध-भिक्षु

आनन्द कोशावी ने चातुर्यामिधर्म व अहिंसा-धर्म नाम की पुस्तक लिखी । चातुर्यामिधर्म (पुस्तक का प्रकाशन बम्बई में हुआ है जिसका प्राक्कथन काका कालेलकर ने लिखा है) में उन्होंने कहा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के युग में सेवा-भाव केवल जैनो में ही था । ईसाईयो ने भी सेवाभाव वही में प्राप्त किया है । जैनो ने तो आज सेवाभाव छोड़ दिया, पर उन्होंने ग्रहण कर लिया । जीवन्धर राजकुमार ने कुत्ते को रामोकार मंत्र सुनाया उसकी सेवा की । तभी तो आशाधर सूरि ने कहा कि यदि पुत्र अपने माता-पिता की सौ वर्ष तक भी सेवा करता है तब भी वह उनके ऋण में मुक्त नहीं हो सकता । उन्होंने पुत्र को, माता-पिता की तन-मन-वन व मन-वचन-काय में सेवा करने का उपदेश दिया । ऐसा उन्होंने इसलिये कहा कि पशु-पक्षी तो यह चाहते ही नहीं हैं कि हमारी सतान हमारी सेवा करें, वे तो स्वावलम्बी होकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं और जो चाहते हैं कि हमारा पुत्र हमारी सेवा करे तो उनके पुत्र उनकी सेवा नहीं करते । फिर भी अभी मानव-समाज में बहुत से ऐसे पुत्र हैं जो अपने माता-पिता की सेवा करते हैं ।

मैं मध्यप्रदेश में महावीरजी आ रहा था । मार्ग में एक स्थान पर देखा कि एक युवक अपने वृद्ध पिता को गोद में उठाकर बेल गाड़ी तक ले जा रहा है । पिता ने बहुत कहा कि—मैं स्वयं ही चला जाऊंगा, पर बेटे ने कहा—नहीं पिताजी, आपने मुझ पर इतने उपकार किये हैं, गोद में खिलाया है, तो मैं आपको कैसे वृष में पैदल चलने दू ? मैंने देखा, एक अनपढ़ किसान में भी सेवाधर्म विद्यमान है । उसको किस आशाधर सूरि ने सेवा भाव सिखाया ? किस पंडितजी ने सेवा पाठ पढ़ाया कि तुम माता-पिता की सेवा करो ? केवल स्कूल-कालेज में डिग्री लेने मात्र से कोई जानी व बड़ा नहीं हो जाता । वह गांव का अनपढ़ किसान भी एम ए की डिग्री में बड़ा जानी था, क्योंकि वह अपने वृद्ध पिता की तन-मन से सेवा कर रहा था ।

आप चाहें कि आपके पुत्र आपकी सेवा करें, पर आप अपने माता-पिता की, दूसरों की सेवा न करें, यह कैसे सम्भव है ? यदि आपने अपने माता-पिता की सेवा की है तो आपका पुत्र भी आपकी सेवा करेगा । यदि आपने माता-पिता को ठुकराया है, उनका तिरस्कार किया है तो आपका पुत्र भी आपको ठुकरायेगा, आपका तिरस्कार करेगा । इसी आशय से एक आचार्य ने कारिका लिखी—

जावो हरइ कलत्तं बढतो बढिमाहरइ ।

अत्यं हरइ सम्मत्यो पुत्तसमो वेरियेणत्थि ॥

भावार्थ है कि दुनिया में कोई वैरी है तो एक शत्रु है व दूसरा पुत्र है । प्राण में प्यारा पुत्र भी वैरी है, यह कैसे ? इसके लिये उन्होंने कहा कि—जन्म में पूर्व वह अपने माता-पिता की शक्ति हरण करता है, जन्म के पश्चात् वह माता द्वारा पिता की सेवा का पचास प्रतिशत भाग हरण कर लेता है । उसे बड़ा करते हैं, पढ़ाते लिखाते हैं, शादी करते हैं । तब उसे कुछ कहो तो वह कहता है कि हमें उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है । बड़े होने पर पुत्र हमारी सेवा करे, इस भावना से उसको सब सुविधायें प्रदान करते हैं । पर कुछ ऐसे भी लोग हैं दुनिया में जो अपने पुत्र व उसकी पत्नी से सेवा नहीं कराते, वे कहते हैं कि हम क्यों उनके गुलाम बनकर रहे ? वे चाहें तो आज भी उनकी सेवा कर दें, पर स्वयं की सेवा नहीं करायेंगे ।

मुनियों के मरण के समय सल्लेखना का विधान है, वह इसीलिये कि वे मरण समय किसी के द्वारा भी सेवा न करावे । मरणोन्मुख जीव की पर के द्वारा सेवा भी छोड़ दी जाती है ।

जिनसेनाचार्य ने महापुराण के सोलहवें अध्याय में लिखा है कि—विवाह के बाद बेटे-बहू को माता-पिता अपने पास न रखें । ऐसा क्यों ? आपके कारण (माता-पिता के कारण) उनकी स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न होगी, इसलिये वह बेटा आपका दुश्मन बन जायेगा और फिर वह सेवा नहीं करेगा । यदि तुम उसको पृथक् कर दोगे, वह अपना भोजन पृथक् बनायेगा तो वह आपकी सेवा के लिये तरस जायेगा । यदि आप उसको गुलाम रखेंगे, यह भावना रखेंगे कि वह आपकी सेवा करे तो विस्फोट, विरोध उत्पन्न हो जायेगा । इसीलिये महापुराण में वर्णलाभ-क्रिया के अन्तर्गत जिनसेनाचार्य ने लिखा कि पुत्र के विवाह के पश्चात् पचो को बुलाकर सिद्ध-परमेष्ठी की पूजा कर, सब के सामने पुत्र को उसके हिस्से का धन देकर उसे पृथक् कर दो । जो धन अपने लिये रखे वह भी उसे सच्चाई के साथ दिखादो-बतादो कि यह मैं अपने लिये रख रहा हूँ । आचार्य ने कहा कि—पुत्र को गुलाम मत बनाइये, उसे स्वतन्त्र कर दीजिये । वह स्वयं सोचेगा कि मुझे मेरे माता-पिता ने जन्म दिया है, उन्होंने मुझे पाल-पोस कर इतना बड़ा किया है, मुझे भी उनकी सेवा करनी चाहिये । यह बात स्वाभाविक रूप से उसके मन में आयेगी । इस डर से नहीं कि गली-मोहल्ले वाले क्या कहेंगे, इसलिये कृत्रिमता के साथ सेवा न करें । कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणसार में कहा है कि बिना भक्ति के सेवक नहीं बन सकता । सही है—जब तक माता-पिता के प्रति श्रद्धा नहीं होगी तब तक उनकी तन-मन-धन व मन-वचन-काय से सेवा नहीं कर सकता । माता-पिता की सेवा तो फिर भी

लोग करते हैं, पर आचार्यों ने कहा है कि कई व्यक्ति सब की सेवा हेतु कार्य करते हैं, अनेक प्रकार में निस्वार्थ सेवा करते हैं, कोई धर्मशाला बनाकर वस्तिका दान करता है, कोई औषधालय खोलता है कि हजारों लोग नीरोगी हों। किसी के पास धन नहीं है तो वह तन व मन से ही रोगियों की, आने-जाने वालों की सेवा करता है।

मैं हिमालय की तरफ था। उस समय वहाँ बाढ़ आने के कारण सब तरफ पानी भर गया। हजारों यात्री उसमें फँस गये। एक मजिस्ट्रेट उधर से गाड़ी में जा रहा था, उन्होंने जब उन हजारों परेशान यात्रियों को देखा जो जान बचाने के लिये दस-पन्द्रह मील से पैदल चले आ रहे थे, जिनका सब सामान बाढ़ की भेंट हो चुका था। वे रुके और तुरन्त उन लोगों को हजारों रुपये के कपड़े, भोजन, कम्बल आदि आवश्यक सामान दिलाये और उन यात्रियों को अपने स्थान तक जाने के लिये टिकटों की व्यवस्था करवाई। वही पर कुछ ऐसे भी दुकानदार थे जो एक कप चाय पाँच रुपये में दे रहे थे कि यही मौका है धन कमाने का? धर्म केवल मन्दिर जाने में ही नहीं है सेवा में भी धर्म है। उस मजिस्ट्रेट ने उन यात्रियों की सकट के समय में सेवा की। उस समय सत्ताईस बरसों बाढ़ में वह गई, एक बस यात्रियों सहित वह गई, क्योंकि वे अपने सामान का लोभ नहीं छोड़ सके। जो परिग्रह की चिन्ता में लगे रहे, वे वह गये और जिन्होंने परिग्रह को छोड़ दिया वे बच गये। तत्त्वार्थ सूत्र में भी लिखा है कि—“बहुआरभपरिग्रहत्वं नारकम्यायुषः”। मैं वहाँ जिस धर्मशाला में ठहरा था, वहाँ भी उन दुखी यात्रियों को ठहराया गया, उनकी व्यवस्था हेतु हमने मेरठ व सरधना के जैन समाज के लोगों से कहा तो मेरठ के शीतलप्रसादजी व सरधना के लोग तुरन्त भोजन, कपड़े व कम्बल आदि लेकर आये।

सेवा, मानवीय धर्म है। इसे हम कैसे छोड़ सकते हैं? यदि हम मानवीय धर्म छोड़ देते हैं तो माला जपना, शास्त्र पढ़ना सब अधूरे हैं, केवल बहिरंग हैं। कुत्ते को, नाग-नागिन को णमोकार मंत्र सुनाया, निगोद-काय जीवों को भी आश्वामन दिया, दया को धर्म माना तो सेवा भी तो दया के साथ है। प्राणीमात्र का कल्याण हो, इस दया-भाव के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है, उनमें आत्मा-परमात्मा के अनुभव के साथ यह भावना भी रहती है कि—“सुखी रहे सब जीव जगत के” —

“क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल,  
काले काले च वृष्टिं वितरतु मघचा व्याधयोऽप्यतु नाशः,

दुर्भिक्षं चौरमारो क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जोवलोके,  
जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रसरतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ।”

जब आप पूजा करके मन्दिर से बाहर आने लगते हैं तो हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि—

संपूजकाना प्रतिपालकानां—  
यतीन्द्र-सामान्यतपोधनाना ।  
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ  
करोतु शांति भगवान् जिनेन्द्र ।

हे भगवान् ! मैंने जो पूजा की वह मेरे लिये ही नहीं, मेरी शांति के लिये ही नहीं, जो आपकी पूजा करता है, प्रतिपालक है, यतीन्द्र हैं, सामान्य साधु हैं, उनको देश को, राष्ट्र को, सब नागरिकों व समस्त प्राणीमात्र को शांति प्राप्त हो, उनका कल्याण हो, तीनलोक के प्राणियों को सुख शांति मिले । कितनी उच्च भावना है, श्रेष्ठ भावना है । पूजा स्वयं ने की, किन्तु उस पूजा के पुण्य को वाटते चला जा रहा है, सबको वाट रहा है । सबको शांति मिले यही भावना है । जब एक की सेवा से इतना पुण्य मिल सकता है तो समस्त प्राणियों की सेवा-भाव रखने वाले को इतना पुण्य क्यों नहीं मिलेगा ? जबकि बिना किसी फल प्राप्ति की अपेक्षा के, प्राणी मात्र के कल्याण की आपकी भावना है ।

मैं मथुरा में था, एक सभा में ‘संपूजकाना प्रतिपालकाना’ श्लोक के बारे में ही बोल रहा था । उस समय राष्ट्रीय स्वयं-सेवक सघ के कुछ लोग वहाँ उपस्थित थे । उन्होंने कहा आप यह श्लोक हमें लिख कर दीजिये । हम इसे अपनी प्रार्थना में रखेंगे । हमें तो ज्ञात ही नहीं कि जैनधर्म में इतनी बड़ी बात कही है । उन्होंने इसको लिख लिया, याद कर लिया ।

हमको राष्ट्रीय भावना, सामाजिक भावना, सेवा-भावना हमारे आचार्यों ने दी है, आज उसे हम भूल गये हैं । जब से हम उन भावनाओं को भूल गये हैं, तब से दुःखी हैं, कष्ट में हैं, एकागी बन गये हैं । हमें जीवित रहना है तो सेवाभाव आवश्यक है । सेवा भी आप अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार करें । आप वचन से भी सेवा कर सकते हैं । मैं कवि कालिदास की एक घटना पुनः दोहराता हूँ ।

एक अत्यन्त गरीब व्यक्ति भूखा था, उसका परिवार, पत्नी व दो नन्हे-नन्हे बच्चे भी भूख से बिलबिला रहे थे । पत्नी के आग्रह पर वह किसी से

धन उधार लेने गया, किन्तु किसी ने कुछ नहीं दिया। वह उदास खाली हाथ अपने घर वापस लौट आया। जब वह अपने घर की देहरी के पास आया तो सुना कि — पत्नी वच्चो को पिता के आने तक बैर्य रखने के लिये कह रही थी। वच्चे इसी आशा में बैठे थे। उसने सोचा कि ये मेरी आस लगाये बैठे हैं, यदि मैं खाली हाथ अन्दर जाऊंगा तो ये विल्कुल निराश हो जायेंगे। यह सोचकर वह घर में न घुमकर जंगल की ओर चल दिया, एक पेड़ के नीचे बैठ गया। वहाँ अनेक दुःखिन्ताओं-दुर्भाग्यों से ग्रस्त होना रहा। अन्त में ऐसे अभावग्रस्त जीवन की अपेक्षा मृत्यु ही अच्छी है, यह सोचकर प्रातः आत्महत्या के लिये उद्यत हो गया। आत्म-हत्या के लिये नदी की ओर जाने लगा, नदी के किनारे ही एक किसान का मकई का खेत था, वह पौधों से मकई तोड़ अपने टोकरी में इकट्ठे कर रहा था। प्रातः काल ही नदी के किनारे किसी व्यक्ति को देख उसने अनुमान लगाया कि यह ब्राह्मण होगा, चलो इसे कुछ मकई दे दो। उसने उस गरीब व्यक्ति को आवाज लगाकर बुलाया, वह डरता-डरता उसके पास आया। किसान ने उसे तीन मकई दी। मकई लेकर उसने आत्म-हत्या का विचार त्याग दिया। उस दिन दशहरे का दिन था। उस दिन सब नगरवासी राजा भोज को कुछ भेंट दिया करते थे, बदले में राजा उन्हें धनधान्य दिया करते थे। उस व्यक्ति ने भी वे तीन मकई राजा भोज को भेंट करने का विचार किया। उन्हें एक कपड़े में बांधकर एक पेड़ पर लटकाकर वह व्यक्ति नदी में नहाने चला गया। उसी समय कुछ गाय चराने वाले बालक उधर से गुजर रहे थे, उन्हें वह पोटली पेड़ पर दिखाई दी, उन्होंने उसे खोलकर देखा, तीनो मकई निकाल कर उसके स्थान पर तीन अधजली लकड़िया रख कर पोटली यथास्थान पर रख दी। वह व्यक्ति नहा कर आया और पोटली लेकर राज दरबार में चला गया। जब भेंट करने लगा तो देखा मकई के स्थान पर तीन अधजली लकड़िया ? वह दुःखी हो गया। फिर सोचा, मरना तो है ही, चलो यह लकड़िया भेंट कर राजा के हाथों ही मर जाना ठीक है। उसने तीनो अधजली लकड़िया ही राजा के सामने प्रस्तुत कर दी। राजा व सब दरबारी यह देखकर आग बबूला हो उठे, सब उसे मारने को उद्यत हो गये, राजा से उसे दण्डित करने की प्रार्थना करने लगे। इतने में वहाँ बैठे कवि कालिदास के मन में उस व्यक्ति के प्रति दया उमड़ी, उन्होंने सोचा कि किसी भी भाति इस व्यक्ति को बचाना चाहिये। वे राजा भोज से बोले — राजन् ! इन तीन अधजली लकड़ियों में कोई नित्यज्ञान, भेद की बात है, ये लकड़िया प्रतीकात्मक ढंग में कुछ बात कहती हैं।

राजा ने कहा—ये लकड़ियाँ क्या बात कह सकती हैं ? कालिदास के अधिक आग्रह पर राजा ने कहा—अच्छा बताओ ! ये क्या दर्शाती हैं ? कालिदास ने कहा—ये तीन लकड़ियाँ बताती हैं कि इस विश्व में तीन ही महापुरुष हुये हैं, चौथा पैदा ही नहीं हुआ । उन तीनों ने तीन बुराइयों को खत्म किया है, प्रथम है भगवान् आदिनाथ, जिन्होंने समस्त कपायों को कर्मों को जलाकर मुक्ति प्राप्त करली है । द्वितीय हनुमान, जिन्होंने मान कपाय के प्रतीक सोने की लका का दहन कर ख्याति प्राप्त की । तृतीय अर्जुन है, जिन्होंने खाण्डव वन को भस्म कर दिया । पर इन तीन के अलावा आज तक ऐसा व्यक्ति पैदा न हो सका जो सम्पूर्ण गरीबी को जला सकता हो । राजा भोज ने सोचा—ये ठीक कह रहे हैं । मैं सबकी गरीबी तो दूर नहीं कर सकता, पर इस एक व्यक्ति की गरीबी तो दूर कर सकता हूँ । वस, यही सोच कर राजा भोज ने उस व्यक्ति को खूब धन-धान्य देकर विदा किया ।

कालिदास के स्वयं के पास देने को कुछ नहीं था, पर उस गरीब व्यक्ति के सकट के समय अपने ज्ञान से उसका सकट दूर करवा दिया । मेरा कहना है कि—कई व्यक्ति ऐसे कहते हैं कि हमारे पास कुछ नहीं है, हम कैसे क्या सेवा करें ? यह ठीक नहीं । आपको भी अपनी शक्ति के अनुसार सेवा करनी चाहिये । आचार्य शिवकोटि ने बताया कि—सेवा भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है । इसलिये यहाँ बैठे सब महानुभावों से यही कहना है कि—आप अपने माता-पिता, सास-ससुर, भाई की किसी की भी सेवा कीजिये, पर सेवा-भाव बनाये रखिये । आप आहार-दान कर सेवा कीजिये, औषध दान कर सेवा कीजिये, ज्ञान-दान कर सेवा कीजिये, अभयदान कर, धर्मशाला आदि बनवा कर परोपकार कीजिये ।

मनुष्य आखिर सेवाभाव से ही जीवित रह सकता है । तभी तो तत्त्वार्थसूत्र में 'परोस्परोपग्रहो जीवानाम्' कहा और गोम्मटमार (जीवकांड) में भी लिखा है कि—

अण्णोण्णुवयारेण य जीवा वट्ट ति पुग्गलाणि पुणो ।  
देहादीणिवत्तणकारणभूदा हु णियमेण ॥ ६०६ ॥

जीव परस्पर में उपकार करते हैं । एक जीव दूसरे जीव की सेवा व उपकार करके ही जीवित रह सकता है । धर्म सीमित नहीं है, विशाल है । व्यक्तिगत रूप से आत्मकल्याण कर लेने के बाद उससे सबका कल्याण करने की प्रेरणा देते हैं ।



वाल्मिकी ने लिखा है कि—राम ने हनुमान से कहा कि तूने जो मेरी सेवा की है उसे मैं लौटाना नहीं चाहता । क्योंकि सेवा लौटाने का मतलब है तुम पर भी मेरे जैसे सकट व उपसर्ग आदि आवे और उस समय मैं तुम्हारी सेवा करूँ, तुम्हारे द्वारा की गई सेवा का बदला चुकाऊँ । मैं तो चाहता हूँ कि तुम पर कोई उपसर्ग, कष्ट ही न आवे । यही मेरा आशीर्वाद है । जिसने आपकी सेवा की, आप भी उसकी सेवा चुकाना चाहते हैं, पर ऐसी भावना मत लाइये कि उस पर भी सकट आये और तब आप उसकी सेवा करें । आपने हमारी सेवा की थी तो देखिये हम भी आपकी सेवा कर रहे हैं, यह तो मान कपाय हो जायेगी ।

सेवा के बारे में छोटे बड़े का विचार मत कीजिये । यह मत सोचिये कि यह छोटा व्यक्ति है इसलिये इसकी सेवा नहीं कर सकता । सेवा में कोई छोटा-बड़ा नहीं है । इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार राम वनवास के समय नदी पार करना चाहते थे, उन्होंने एक मल्लाह से पूछा—उस पार जाने का क्या लोगे ? मल्लाह ने कहा—कुछ नहीं लूँगा । केवल आशीर्वाद लूँगा, मुझे आपकी सेवा का मौका दीजिये । आशीर्वाद दीजिये ।

राम ने चौदह वर्ष का वनवास भोगा, पाण्डवों ने बारह वर्ष का वनवास भोगा । कृष्णजी के जन्म व मरण के समय कोई गीत गाने वाला व रोने वाला नहीं रहा । इन महापुरुषों के जीवन की इन घड़ियों से यही प्रेरणा ले सकते हैं कि मनुष्य पर कब, कैसे दुःख व सकट आ जावे इसका कोई ठिकाना नहीं है । इसलिये हमें दूसरों की निस्वार्थ सेवा करनी चाहिये व सदैव ही सेवा के भाव बनाये रखने चाहिये । जो सेवा को धर्म नहीं समझते वे अज्ञान में हैं । यदि सेवाभाव धर्म नहीं है तो क्यों डाक्टर व हकीम के पास भाग कर जाते हैं ?

कुछ लोग स्वार्थवश सेवा करते हैं, यह भी बहुत विचित्र बात है । एक स्थान पर हर आने जाने वाली कार फस जाती थी, दो-चार व्यक्ति मिलकर उसको निकाल देते, कार वाला बदले में इनाम के रूप में उनको दस रुपये दे देता । इस प्रकार एक दिन में दस-बीस कारें फस जाती । एक दिन एक सेठ की कार फस गई उसने सोचा क्या बात है ? आते समय भी यही पर कार फस गई थी, लौटते समय भी यही पर कार फसी है । उस समय भी इन्हीं लोगों ने कार निकाली थी । सेठजी ने उस कार निकालने वाले व्यक्ति से यह बात पूछी । उसने उत्तर दिया कि मैंने स्वयं ने यह दलदल व कीचड़ फैला



रखा है। मैं यहाँ बैठा रहता हूँ, मेरे आदमी पाम ही एक भोपडी में बैठे रहते हैं, कोई भी कार फस जाती है तो मैं जाकर उन्हें बुलालाता हूँ, गाड़ी निकलवा-देता हूँ। इस प्रकार मुझे सौ रुपये प्रतिदिन प्राप्त हो जाते हैं, इनमें से कुछ मैं अपने साथियों को दे देता हूँ और शेष से स्वयं गुजर-बसर करता हूँ।

वह व्यक्ति पहले स्वयं दलदल फैलाता है, इसमें गाड़ियाँ फसवाता है, फिर उनकी सेवार्थ उनको निकाल कर उनसे रुपये वसूल करता है। क्या यह उचित है? आप लोग भले ही किसी को सकट में से न निकाल पायें, सेवा न कर पायें, पर इस प्रकार फसाने के कार्य तो मत करना।

सेवा मौलिक है। जीवन जीना भी एक कला है। वम्बई से आई इन कलत्री वाई का जीवन देखिये। इन्होंने अपना सारा जीवन नि स्वार्थ रूप से पर सेवा में व्यतीत कर दिया। लाखों असहाय विधवाओं, परित्यक्ताओं, माता-पिता के द्वारा भी तिरस्कृत महिलाओं की सेवा कर उन्हें प्रेरणा देकर, प्रेम देकर, पढा लिखाकर योग्य व स्वावलम्बी बनाया है। भयभीत-असहाय महिलाओं को अभयदान दिया है, जीने की प्रेरणा दी है, मार्गदर्शन दिया है। आप अत्यन्त विदुषी महिला हैं। इस समय आपकी उम्र बयासी वर्ष की है, किन्तु कार्य करने में अभी भी अत्यन्त उत्साही हैं। आप दस वर्ष तक विधान सभा की सदस्या भी रही हैं। समुराल से तिरस्कृत महिलाओं को माता-पिता, भाई-भाभी अपने पर बोझ समझने लगते हैं, इसीलिये जिनसेनाचार्य ने महा-पुराण में कहा है कि—पुत्री भी पिता के धन की पुत्र के समान हकदार है। हमारी सरकार ने इस तथ्य पर अब विचार किया है जबकि जिनसेनाचार्य ने सैकड़ों वर्ष पूर्व यह तथ्य प्रस्तुत कर दिया था। कलत्री वाई ने हजारों ऐसी महिलाओं को अभयदान दिया है। अभयदान का भी बहुत महत्व है। हमारे यहाँ चौदह मनु हुये हैं जिन्होंने सबने अभयदान दिया। इतिहास में उल्लेख है कि वृषभदेव ने सर्व प्रथम अभयदान दिया था, भागवत् में भी इसका उल्लेख है।

कलत्री वाई ने स्वयं अपना जीवन समाज के लिये अर्पित कर दिया। भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी ने चदावाई आरा के लिये एक स्थान पर लिखा था कि—प्रकृति ने, किस्मत ने, चन्दावाई को विधवा बनाकर एक अच्छा कार्य किया, लाखों का उपकार कर दिया। यदि ये स्वयं के परिवार में ही सीमित रहती तो अपने पारिवारिक सदस्यों की सेवा में ही समय व्यतीत कर देती पर विधवा होने से आज लाखों महिलाओं की सेवा कर रही हैं। इसी प्रकार ये कलत्री वाई भी आज परिवार की सीमा से बाहर निकलकर लाखों कन्याओं व

महिलाओं की सेवा कर चुकी हैं। ऐसी प्राकृतिक विपदाओं में भी कभी-कभी समाज की भलाई (हित) निहित होती है। इनकी सेवायें समाज में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। आप अत्यन्त धार्मिक विचारों वाली, शुद्ध-आचार वाली महिला हैं। स्वयं दूसरों की सेवा में सलग्न हैं, पर स्वयं दूसरे से सेवा कराने की भावना नहीं रखती।

जो महिलायें स्वयं को असहाय समझती हैं, वे इनके जीवन से प्रेरणा लें। भगवान महावीर ने कहा था कि “महिलायें भी अनन्त शक्तिशाली हैं, सबकी आत्मा समान है।” एक महिला लाखों महिलाओं की सेवा उपचार कर सकती है, उनका मार्गदर्शन कर सकती है तो आप क्यों नहीं कर सकती? मनोबल मजबूत बनाना पहला कर्तव्य है, तभी आप आगे बढ़ सकती हैं। राष्ट्रीय, सामाजिक सेवाएँ करने वाले के प्रति उपकृत रहना चाहिये। सम्राट अशोक ने पशु पक्षियों के प्रति सेवाभाव रखा, उनके लिये अस्पताल खोले। आज भी ऐसे अस्पताल खोले जा रहे हैं। हमारा धर्म ही सेवा है। जब तक समाज में सेवाभाव नहीं होगा, समाज आदर्श नहीं हो सकता। माता-पिता, पड़ोसी, असहाय सबकी सेवा करना चाहिये।

आपके इस शहर में ही ऐसे भी लोग हुये हैं जो स्वाभिमान की असमर्थों के पास चुपचाप, गुप्त रूप से धनादि की सहायता पहुँचा देते थे। सेवा धर्म का अंग है, सलाहकार है, तन-मन-धन से नि स्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए। यदि आप सेवा न कर सकें तो अनुमोदना तो कीजिये। पूर्व जन्म में आहार दान की अनुमोदना करने से अगले भव में वे जीव भरत बाहुवली बनकर भगवान् आदिनाथ के घर जन्मे। सेवा की अनुमोदना का फल अवश्य मिलेगा। जैसे— न्यायालय में, किसी पडयत्र की अनुमोदना करने पर, दण्ड मिलता है, पुलिस वाले खोज खबर कर उसे पकड़ ले जाते हैं। आप अच्छे कार्य की अनुमोदना कीजिये, बुरे की नहीं।

एक शास्त्र लिखने से हजारों प्राणी लाभान्वित होते हैं। अतः सदैव धर्म के अनुकूल सेवा भाव रखने चाहिये व सेवा करनी चाहिये। इसीलिये कहा है कि—

सेवा धर्म समाज की, आगम के अनुकूल

## अशान्ति का कारण राग है !

विपरीत आचरण की, बुराई की, जड राग है ।  
पर-पदार्थ से राग ही दुःख की जड है । स्व-पदार्थ पर  
भी राग घातक होता है तो फिर पर-पदार्थ के राग का  
तो कहना ही क्या ? राग आग है, यह ही सब दुःखों की  
जड है । सेवा व अहिंसक भाव धर्म है और हिंसा अधर्म  
है । धर्म की याद दिलाने के लिये मन्दिर है, पर धर्म  
मन में है ।

आज हम आप सब इस पर्वत पर एकत्रित हुये हैं । इस पृथ्वी के  
सौन्दर्य में अनेक वस्तुएं हैं, जिनमें पर्वत भी एक है । पर्वत जमीन से ऊंचा  
रहता है और उस पर रहने वाली समस्त वस्तुएं भी ऊंची उठी हुई हैं । पर्वत  
यह संदेश लेकर खड़ा रहता है कि आपको भी कठोर साधना व तप करके  
ऊपर उठना है, ऊंचा उठना है । पूज्य आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज ने  
इस पर्वत को अपनी तपोभूमि बनाई । यहां के सब कार्यकर्ताओं ने इसके  
निर्माण व व्यवस्था कार्य में बहुत योगदान दिया व बहुत सुन्दर कार्य किया  
है । इसमें क्षु राजमति माताजी का योगदान अतुलनीय है ।

जहां तक स्वार्थ व परार्थ की बात है, यह एक विचित्रता लिये हुये है ।  
जैन धर्म स्वार्थ प्रधान है । स्वार्थ के बिना दुनिया में परार्थ नहीं माना गया ।  
स्वार्थ में परार्थ भी निहित है । आपने दो आने कमाये तो आप दो पैसे  
दान कर सकते हैं । आपके पास एक रोटी है तो आप आधी रोटी  
किसी को दे सकेंगे । यदि आप स्वयं भूखे होंगे, आपके पास रोटी ही नहीं  
होगी तो आप किसी को क्या देंगे ? आप स्वयं पढ़े-लिखे होंगे, तभी दूसरे को  
पढ़ा सकेंगे । स्वयं स्वार्थी बनकर तैरना सीखेंगे तभी दूसरे को तिरा सकेंगे,  
अन्यथा 'आप डूबे पाढ़े, ले डूबे जजमान' वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी ।

जैन धर्म ने, महावीर भगवान् ने, सब ने कहा कि स्वार्थी बनो, पर इस स्वार्थ का अर्थ यह नहीं है कि अपने एक पैसे के लाभ के पीछे दूसरे का लाखों का नुकसान कर दे। अपितु इस स्वार्थ के पीछे यह भावना है कि पहले अपने आप को, अपने जीवन को उन्नतिशील बनाइये, प्रगतिशील बनाइये, फिर उदार विचारधारा के साथ मानव मात्र के साथ मैत्री स्थापना कीजिये। यदि मनुष्य में इस तरह का स्वार्थ नहीं होगा तो वह परार्थ भी नहीं कर सकता।

आज इस दुनिया में धर्म में अनेक रूढ़ियाँ घुस गई हैं, समाज में भी अनेक रूढ़ियाँ घुस गई हैं और राजनीति में भी। गाँधी जी खादी पहनते थे, इसलिये आज भी सब राजनैतिक नेता खादी पहनते हैं, इसके पीछे क्या भावना थी, क्या सिद्धान्त थे? यह सबको ज्ञात नहीं है। हमारे पूर्वज मन्दिर जाते थे, इसलिये हम भी आज जाते हैं। यदि रूढ़ि अच्छी हो, सच्ची हो, उसमें भलाई की भावना निहित हो, उस रूढ़ि को भी नौजवान अपनाते हैं, तो उसमें बुराई नहीं है। यदि वे देखा-देखी भी धर्म अपनाते हैं तो भी अच्छा है। यद्यपि देखादेखी से अधिक विवेक के साथ धर्म अपनाने में लाभ है, परन्तु इसका सर्वथा यह अर्थ नहीं कि पूर्ण जानकारी किये बिना लाभ नहीं होता। बालक नहीं जानता कि यह औषधि पीकर मैं स्वस्थ हो जाऊँगा, पर माँ जबरदस्ती से उसे कड़वी औषधि पिलाती है और वह स्वस्थ व नीरोग हो जाता है। इसी प्रकार माता-पिता को अपने बच्चे को पढ़ाना चाहिये, समझाना चाहिये कि तुम्हें भगवान् का नाम स्मरण करना चाहिये। साधुओं के, ज्ञानियों के सान्निध्य में रहना चाहिये, मन्दिर जाना चाहिये, यदि इस कार्य के लिये जबरदस्ती भी करनी पड़े तो भी अच्छा है। ये भी सामाजिक नीरोगता के आधार हैं। पर इनमें सत्य के भाव विद्यमान होने चाहिये।

अभी मुख्यमंत्री ने कहा कि दुनियाँ बुराई का भंडार है, उन बुराइयों का कारण क्या है? धर्म पर आस्था होते हुये भी विपरीत आचरण क्यों है? भगवान् महावीर ने, महापुरुषों ने इसका चिन्तन-मनन व अनुभूति करके इस शंका का निराकरण किया है। उन्होंने बताया है कि विपरीत आचरण की, बुराई की, जड़ राग है। ससार में जितने लोग फस रहे हैं, फस गये हैं या फसेंगे, वे सब राग के कारण। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष भी होता है। माँ का बच्चे के प्रति राग होता है, किन्तु जब उसका बच्चा उसका कहना नहीं मानता तो वह द्वेष से उसको पीटना शुरू कर देती है। सीता व राम वन में गये, वहाँ उन्हें स्वर्ण-मृग से राग हो गया, उसके पीछे राम सीता को खो बैठे और सीता को भी अनेक कष्ट भोगने पड़े। पर पदार्थ से राग ही दुःख की जड़ है,

राग मानव-जीवन को डूबो देने वाला है । पर पदार्थ पर, पराई जमीन-जायदाद पर राग करने से अनेक युद्ध हुये हैं । राग ही सर्वाधिक दुःखदायी है । स्वपदार्थ पर भी राग घातक होता है तो फिर पर-पदार्थ के राग का तो कहना ही क्या है ? आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा कि जैसे तुम दूसरे की वस्तु को पराई है, यह समझ कर त्याग देते हो, उसी प्रकार मन में जो राग है उसको भी पराया समझ कर छोड़ोगे तभी फल प्राप्त होगा । जिस क्षण मन में निहित राग को छोड़ दोगे, त्याग दोगे, उसी क्षण सब दोषों से, बुराइयों से, विपरीत आचरण की परेशानी से मुक्त हो जाओगे, अन्यथा कभी भी नहीं हो सकोगे । राग आग है, यही सब दुःखों की जड़ है । दूसरों की वस्तु से राग करना घातक है, प्रायः ऐसा कहा जाता है । पर हमारे आचार्यों ने तो स्व-वस्तु का राग भी घातक बताया है । राम को राज्य पाकर भी राग नहीं था, तभी उन्होंने उसे तुरन्त त्याग दिया, भरत को भी उससे राग नहीं था, इसलिये उसने स्वयं ने राज्य नहीं किया, राम की खड़ाऊँ रखकर राज्य चलाया । राम समझ रहे हैं कि राज्य भरत कर रहे हैं भरत समझ रहे हैं कि राज्य राम की खड़ाऊँ कर रही है । दोनों उस राज्य के प्रति निर्लेप, राग-रहित, आसक्ति रहित थे ।

एक नदी किनारे दो मित्र घूम रहे थे । कहीं से बाढ़ में बहता हुआ एक कवल उस नदी के प्रवाह में आ गया । उनमें से एक मित्र के मन में उस कवल को देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा हुई । वह नदी में कूद गया और कवल को पकड़ लिया । पानी में भीग जाने से कवल भारी हो गया था, इस कारण उस व्यक्ति से सभाला नहीं जा रहा था । कभी वह व्यक्ति डूबने लगा तो कभी वह कवल डूबने लगा । किनारे खड़ा मित्र यह सब देख रहा था । मित्र को डूबते देख कर चिल्लाया कि अरे बन्धु ! इस कवल को छोड़ दो, तब तुम बच जाओगे । पर नदी में वह रहे मित्र ने कहा कि क्या करूँ ? यह कवल मुझे छोड़ ही नहीं रहा । उसके मन में कवल के प्रति राग उत्पन्न हो गया था । उसने कवल नहीं छोड़ा और डूब गया ।

इस राग के कारण ही प्रत्येक मनुष्य फस रहा है, दुःखी हो रहा है, कोई थोड़ा फस रहा है तो कोई अधिक फस रहा है ।

बुराईया अनादि काल से चली आ रही हैं । महावीर के युग में भी कई बुराईया थी । उस समय भी मगध के एक व्यापारी ने दरबारी को उत्कोच दान (रिश्वत) देकर दरबार में अनधिकृत प्रवेश पाया था । युधिष्ठिर जिसे धर्मराज कहते हैं, उन्होंने जूआ खेला था ? जहाँ अच्छाई होती है, वहाँ

बुराई भी होती है। सूर्य अन्धकार को मिटा देना चाहता है, इसके लिये वह प्रयत्नरत है, पर अन्धकार भी अनादि से उसके साथ-साथ पीछे-पीछे चला आ रहा है, दोनों का द्वन्द्व चला आ रहा है। इसी प्रकार अच्छाई व बुराई का भी अनादि से द्वन्द्व चला आ रहा है। जो इन दोनों के द्वन्द्व के बीच में भी बुराइयों को सर्वथा नष्ट करके उनको जीत लेता है वही अजर-अमर हो जाता है।

सीता ने हनुमान को पुरस्कार स्वरूप एक अत्यन्त कीमती मोती की माला भेंट की। हनुमान ने प्रत्येक मोती को अपने दात से तोड़-तोड़ कर देखा और फेंक दिया। सीता ने देखा तो पूछा—अरे ! ये क्या किया ? हनुमान ने उत्तर दिया—मैं यह देख रहा था कि इसमें राम है क्या ? सीता ने कहा—मोती में राम कहाँ से आयेंगे ? तो हनुमान ने कहा—कि जिस वस्तु में राम नहीं है, जिसमें मुझे राम दिखाई नहीं दें, वह मैं नहीं लूँगा, वह मेरे लिये कोई काम की नहीं है।

हमारी संस्कृति धर्म प्रधान है। यहाँ का हर ककर शकर है। कहा भी है—

त्व शकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात् ।

केवल मन्दिर की मूर्ति ही शकर नहीं है। इसीलिये अनेक तकलीफों, परेशानियों से ग्रस्त व परतन्त्र होने पर भी आज हमारी संस्कृति हमारा स्वाभिमान जीवित है।

धर्म प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार धर्म करता है, धर्म पथ पर बढ़ता है। जब उसके मन में से धर्म निकल जाता है तो पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी कोर्ट-कचहरी में जाकर एक दूसरे के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। पुत्र ही पिता पर दोषारोपण करने लगता है।

मैं दिल्ली में था उस समय जापान का एक दल यहाँ आया। वह दल हमारे पास भी आया। मैंने उन्हें एक धर्म की पुस्तक दी तो उन्होंने कहा कि हम तो कोई धर्म नहीं मानते, अतः यह पुस्तक व्यर्थ है। मैंने कहा कि दुनिया में धर्म को न माने ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं है। उन्होंने कहा—हम कह रहे हैं कि हम धर्म को नहीं मानते। मैंने कहा—बताइये ! यदि कोई आपका मिर फोड़ दे तो आपको कैसा लगेगा ? उन्होंने कहा बहुत बुरा लगेगा। यदि कोई उस पर पट्टी करदे तो ? बहुत अच्छा लगेगा। मैंने कहा बस, यही तो

धर्म अधर्म है । हिंसा करना अधर्म है और सेवाभाव व अहिंसा का भाव धर्म है । तब वे बोले यदि धर्म ऐसा है तब तो हम भी मानते हैं । धर्म किसी पुस्तक, मन्दिर, मस्जिद या पहाड में नहीं है, वह आत्मा में है । राम वनवास में गये तो वे धर्म को अयोध्या में नहीं छोड़ गये । धर्म वहाँ भी उनके साथ था । बुधमहाचन्द्र कवि ने इसके लिये लिखा है —

धर्मों के धर्म सदा मन में,  
रामचन्द्र और सीता रानी,  
जाय वसे दण्डक वन में ।  
'बुधमहाचन्द्र' कहूँ जाओ,  
धर्मों के धर्म सदा मन में ॥

धर्म की याद दिलाने के लिये मन्दिर है, पर धर्म मन में है । हमारे तीर्थंकरों की, महान् आत्माओं की प्रतिमा, तस्वीर देखकर हमें उनकी याद आती है । जैसे सड़क के मोड़ पर खतरे का निशान लगाते हैं, उन्हें देख चालक आगे के लिये सावधान हो जाता है, ब्रेक लगा देता है, वैसे ही ये मूर्तियाँ, मन्दिर, चित्र हमें सावधान करने के साधन हैं । जैसे दुर्घटनाओं से बचने के लिये ये निशान हैं उसी प्रकार प्रतिमाएँ व मन्दिर आदि हैं ।

हमारे देश में दो सस्कृतियाँ प्रमुख रही, एक श्रमण-सस्कृति और दूसरी ब्राह्मण-सस्कृति, एक मुनि सस्कृति और दूसरी ऋषि सस्कृति । दोनों के बारे में इतिहासकारों ने बहुत प्रकाश डाला है । श्रमण मुनि पर्वत पर तप करते थे और ब्राह्मण ऋषि नदी के तट पर । ऋषि का जीवन नदी के प्रवाह जैसे चला और मुनियों का जीवन पर्वतों जैसे ऊँचा उठता रहा । ऐसे पर्वतों पर तीर्थंकर महावीर आदि ने तप किया और नदी किनारे व्यास जैसे ऋषि व उनके पुत्र आदि ने तप किया । इन ऋषि-मुनियों के समय में भी समाज के सामने अनेक समस्याएँ रही । समाज में समस्याएँ सदैव रही हैं । इनको पूर्ण रूप से कोई नहीं मिटा सका । यदि समाज-देश की सारी समस्याओं को कोई मिटा सका होता तो श्री कृष्ण क्यों नहीं कौरव-पाण्डवों के झगड़े को मिटा सकते थे ? कृष्ण के पास शक्तिशाली सुदर्शन चक्र होते हुये भी वे उनके मनमुटाव को न मिटा सके और उनमें घनघोर युद्ध हुआ । एक ही जाति, एक ही धर्म, एक खून, एक परिवार होते हुए भी सम्पत्ति के राग के कारण युद्ध किया और अनेक वंश खत्म कर दिये, और इसी के कारण देश गुलाम होता चला गया ।



कोई देश अहिंसा के कारण, धर्म के कारण गुलाम नहीं हुआ । गुलाम हुआ है राजनीतिक गलतियों से । राजनीतिक विकार से समस्याएँ अधिक होती हैं । यह काल का प्रभाव है कि हर कोई देखादेखी में बुराई को जल्दी अपनाता है । अच्छाई अपनाने के लिये परिश्रम करना होता है । कोई पहाड़ से लुढ़के तो एक क्षण में नीचे पहुँच सकता है पर इतनी शीघ्रता से चढ़ नहीं सकता क्योंकि चढ़ाई में परिश्रम करना होता है । पहाड़ पर अनेक जंगली पेड़ पौधे स्वयमेव ही उग जाते हैं, उनकी कोई देखभाल नहीं करता और खेत में किसान अत्यन्त परिश्रम करता है तब भी फसल पूरी व अच्छी तैयार नहीं हो पाती । उन्नति के लिए परिश्रम, निष्ठा व संगठन की आवश्यकता है । आपके मुख्यमंत्रीजी एक कुशल शासक हैं, इसी कारण आप दो वर्ष से राज्य को भली प्रकार शासित किये हुये हैं, आपके मन्त्रिमण्डल में संगठन है, एकता है । जब सब प्रांतों में देश व जनता के कल्याण के लिये, मंत्री गए व जनता संगठित होकर कार्य करेंगे तभी मक्का भला होगा । देश में शांति बनी रहे यही भावना है ।



आयु अतिमूल्य से परे है । ससार की विपणी में सर्वस्व मिला है, परन्तु आयु नहीं मिल सकती । कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम इसकी वृद्धि का उपाय नहीं जानता । कोटि स्वर्ण देकर भी आयु का क्षण नहीं खरीदा जा सकता । यह अमूल्य है । यदि इसे ऐसे ही गवा दिया तो इससे बढ़कर और क्या हानि हो सकती है ?



## ‘ज्ञान बिन कर्म झरें जे...’

धर्म स्वयं में पूर्ण है । इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मा को पूर्ण बनाना होगा । हमें ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे कर्म क्षय हो । प्रकाश का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसे अन्धकार का भी ज्ञान हो । आपको जब अन्य मतों का ज्ञान होगा तभी आप श्रेष्ठता का निर्णय कर सकेंगे ।

भारत में श्रमण धर्म व सस्कृति अनादि से चली आ रही है । भारतीय साहित्य में श्रमण सस्कृति की पर्याप्त चर्चा है । इस काल में श्रमण सस्कृति का प्रारम्भ ऋषभदेव ने अपने ज्ञान, आचरण व तपस्या के द्वारा किया और प्रजा को बताया । उनके पश्चात् तेईस तीर्थकर हुये । भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक सात बार श्रमण-सस्कृति में व्यवधान हुआ, विच्छेद हुआ, ऐसा वादि-वृषभाचार्य ने तिलोपपण्णति ग्रंथ में कहा है ।

धर्म स्वयं में पूर्ण है । इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मा को पूर्ण बनाना होगा । कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा है कि—

जअण्णाणी कम्म खवेदि भवमयसहस्स कोडिहि ।

त णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उत्तासमेत्तेण ॥२३८॥

अज्ञानी जीव भवसहस्र-वर्षों तक, कोटि वर्षों तक तप करके जितना कर्म क्षय करता है, उतना कर्म-क्षय ज्ञानी एक क्षण में तीन प्रकार की (मन, वचन व काय) गुप्ति से करता है । पर ज्ञानी के लिये उन्होंने एक शर्त लगा दी—जो तीन गुप्ति परिपालन करता है वह ज्ञानी है । छहढाला में इसी की छायारूप प० दौलतरामजी ने कहा है—

कोटि जनम तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरें जे ।

ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते ॥

हमें ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे कर्म क्षय हो जायें। ऐसा ज्ञान तीर्थंकर प्रसूत हैं, उमें आचार्यों ने अपने शब्दों व अपनी भाषा में ढाल दिया है।

भारत में स्याद्वाद महाविद्यालय, गोपालदास महाविद्यालय के माध्यम से आध्यात्म विषय के विद्वान् व पंडित तैयार हुये जिन्होंने अनेक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया है, जैसे प० खूबचन्दजी, माणकचन्द न्यायाचार्य आदि। इन दो विद्यालयों ने अपने समय में अनेक विद्वान् तैयार किये जो श्रमण संस्कृति व ज्ञान के प्रसार में महायुक्त हुये हैं। पर आज ये मस्थायें कार्यशक्ति क्षीण हो जाने से शिथिल हो गई हैं।

१९६४ में जब मैं यहाँ आया था तब प० चैनमुखदामजी की भावना थी कि टोडरमलजी के नाम पर कोई स्मारक बनना चाहिये। एक दिन भाषण में भी इस बात की चर्चा हुई। बात फैली, पूरणचन्द गोदीका ने ऐमें कार्य का शुभारम्भ व कार्यभार सम्भालने का भाव व्यक्त किया। वट का बीज बहुत छोटा होता है पर साधन, जल वगैरह प्राप्त होने पर वह एक विशाल वटवृक्ष बन जाता है।

इस जयपुर नगरी में स्वनामधन्य टोडरमलजी ने जन्म लिया, वे प्रतिभाभूति थे। गृहस्थ होते हुये भी उनका ज्ञान, चिन्तन प्रौढ़, परिपक्व व पांडित्यपूर्ण था। मोक्ष-मार्ग प्रकाशक पढ़ने में ज्ञात होता है कि वे स्वधर्म के ज्ञाता ही नहीं थे अपितु परधर्म का भी उन्हें गूढ़ अध्ययन था। जैन धर्म के आचार्यों ने बार-बार स्व-समय व पर-समय के भेद को समझाया है। आचार्यों ने इनके दो अर्थ बताये हैं—स्व समय—(१) स्व-आत्मा, शुद्ध परिणाम व (२) स्वसिद्धान्त, और पर समय (३) अशुद्ध परिणाम व (४) पर सिद्धान्त। आचार्यों के लिये अतिक्रमण व प्राकृत स्तुति (आचार्यों की) में वन्दन लगाया है कि—‘स्व-समय पर-समय विद्वानो’ अर्थात् उन्हें स्व-धर्म व परधर्म का ज्ञाता अवश्य होना चाहिये।

चौदह सौ वर्ष पूर्व तक जैन धर्म को ‘समय’ नाम से ही जाना जाता था। शंकराचार्यजी ने भी कहा था कि ‘विवसन समय इदानीं निरसति’ अर्थात् मैं विवसनो, निर्वस्वो दिगम्बरो के सिद्धान्त का निराकरण करता हूँ।

स्वधर्मनिष्ठा रखते हुये परधर्म की सहिष्णुता के साथ शिक्षा ग्रहण करना भी कला है, बुद्धिमत्ता है। अकलक निष्कलक ने नालन्दा विश्वविद्यालय

मे रहकर बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया । उस समय विश्वविद्यालयों में यह व्यवस्था थी कि जिसको जिस धर्म में रुचि हो, विश्वविद्यालय में वह उसका अध्ययन कर सकता था । स्व-सिद्धान्त पर दृढ़ता रखने के लिये, एकांगी न बनने के लिए पर-सिद्धान्त का भी अवलोकन करना चाहिये, उनको भी जानना चाहिये । स्याद्वाद सिद्धान्त में बन्धन है कि धर्म का ज्ञान करने के लिये अधर्म को जानना भी आवश्यक है । प्रकाश का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसे अन्धकार का भी ज्ञान हो । सत्य के ज्ञान के लिये असत्य का ज्ञान होना आवश्यक है । हमारे आचार्यों ने उदारता के साथ छूट दी है कि इतर धर्मों की गूढ़ता का भी अवलोकन करो, जिससे स्वयं के सिद्धान्तों की गूढ़ता का ज्ञान हो, सत्य का ज्ञान हो । एक जीहरी हीरे व काच की तथा अन्य रत्नों की परख जानता है, तभी वह हीरे व काच में तथा अन्य रत्नों के भेद को तुरन्त समझ जाता है । आपको भी जब सब मतों का ज्ञान होगा तभी आप श्रेष्ठता का निर्णय कर सकेंगे ।

इसी जयपुर में एक महान् आत्मा ने टोडरमलजी के रूप में जन्म लिया । इसी जयपुर में उन्हें शासन की ओर से भ्रातियों के कारण मृत्यु दण्ड दिया गया और आज उसी जयपुर में उनका स्मारक बनाया गया है और उनके सिद्धान्तों की पूजा की जा रही है । इस प्रकार उनका सम्मान किया जा रहा है । व्यक्ति मिट सकता है, मिट जाता है, पर उसके सिद्धान्त नहीं मिटते ।

टोडरमलजी में विलक्षण तार्किक शक्ति थी । स्वयं ही प्रश्न करना, और फिर स्वयं ही उनके उत्तर देना, उनकी कुशलता थी ।

आत्मानुशासन में लिखा है कि—जो वर्तमान परिस्थितियों का अध्ययन नहीं करता वह सफल नहीं हो सकता । पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह परिस्थितियों में ही वह जाये । अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर उस परिस्थिति में चलना है । एक महापुरुष ने कहा है कि—यदि आप असमर्थ हो तो दुनिया के प्रवाह के साथ बहते जाओ अन्यथा ऐसी क्षमता अर्जित करो कि दुनिया आपके साथ बह चले, ऐसे समर्थ बनो कि दुनिया को अपने साथ ले चलो ।

आज विज्ञान कहता है कि अण्डे में जीव नहीं है, अण्डा भी शाकाहारी है और समाज के बच्चे ज्ञान न होने के कारण इस प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं । कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय में (गा० ११३ में) कहा है कि

‘अडेसु पवड्ढता’ (अडेसु प्रवर्धमाना) अर्थात् अडे मे प्राणी वृद्धि पाता है, उसमे जीवत्व विद्यमान है ।

जो बिना सोचे समझे दुनिया के प्रवाह मे बहे चले जा रहे है, उनको समझाने के लिये, रोकने के लिये, टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय जैसी सस्थाओं की आवश्यकता है, जिससे स्वधर्म निष्ठा, आत्मकल्याण व परोपकार हो ।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका करते समय कहा कि ‘मम परम विशुद्धि’ अर्थात् मेरी आत्मा की शुद्धि के लिये ग्रंथ की टीका लिख रहा हूँ । उन्होंने स्वार्थ मे परार्थ माना । यह एक मनोविज्ञान सम्मत तथ्य है कि जिसके पास कुछ होगा वही दूसरो को (कुछ) दे सकेगा । जिसने अपनी आत्मा की शुद्धि करली वही दूसरे को उसकी शुद्धि का मार्ग बता सकता है । जो स्वयं वधन मे है वह दूसरो की गाँठें खोलने की युक्तिया क्या बतायेगा ?

प० टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय दृढतापूर्वक प्रवीण, परिपक्व, स्वविषय के दृढ विद्वान् तैयार करे, वे भारत के कोने-कोने मे उनके सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करे । प० टोडरमलजी के मंगलमय विचार सारे देश मे फैले, यही भावना है ।

प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने एक गाथा दी है—

असुहोवश्रोगरहिदो सुहोवजुत्तो एण अण्णदवियम्हिमं  
होज्ज मज्झत्थोऽह एणप्पगमप्पग भाए । १५६।

अर्थात् —अन्य द्रव्य मे मध्यस्थ होता हुआ, अशुभोपयोग रहित होता हुआ, शुभोपयोग युक्त नहीं होता हुआ, जानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ ।

जो अशुभोपयोग रहित हैं वे अन्य जीवों को तारने की विधि बता सकते हैं । एक मल्लाह नाव मे बैठकर नदी पार करा सकता है, तो वीतराग तपस्वी साधु भवतारण की विधि कैसे नहीं बता सकते ? हमारा मार्ग वीतराग है । महावीर, गौतम गणधर व कुन्दकुन्दादि के मार्ग पर चलने से ही कल्याण निश्चित है, लक्ष्य प्राप्ति इसी से होगी, इसी पर दृढ रहे ।

यह सस्था सहिष्णुता के साथ सिद्धान्तों का प्रचार व प्रसार करती रहे । यह एक विश्वविद्यालय का रूप ले । विचारों मे मतभेद हो सकते हैं पर मन-मुटाव नहीं होना चाहिये । मतभेद निर्माण करता है पर मन-मुटाव विध्वंस का कारण है । मैं इस सस्था के शुभ की कामना करता हूँ । □

## स्वार्थ में परार्थ निहित है

पूर्ण सत्य मन्थन है, चिन्तन है, मनन है; वह शांति का कारण है। अपूर्ण सत्य अधूरा ज्ञान है, दुःख का कारण है। पूर्ण सत्य से ही आत्मज्ञ बनता है; अधूरा सत्य जानने वाला धर्मज्ञ, धर्मात्मा व धार्मिक बन सकता है। आत्महित व परहित दोनों में पहले आत्महित करना श्रेष्ठ है। जिसने ज्ञानादि आत्मगुणों का विकास कर लिया है, वह ही पर के ज्ञानादि में साधन हो सकता है। निर्लोभ भावना से की गई सेवा सफल-जीवन का कारण है।

निर्माण के लिये एक होवो, विध्वंस के लिये नहीं। 'मजदूरो एक हो जाओ', इसका अर्थ यह नहीं कि हड़ताल करो, राष्ट्रीय सम्पत्ति को आग लगाओ। सत्य की एक अपेक्षा के साक्षात्कार करते समय सत्य के अनन्त पक्षों की उपेक्षा सम्भव नहीं है। तत्त्वज्ञान को एकान्त दृष्टिकोण से नहीं जान सकते, उसे एकान्त से देखना हठवाद है। वाद-विवाद करने वाला उसी में फसकर रह जाता है, कुछ प्राप्त नहीं कर पाता, खोजने वाला प्राप्त कर लेता है और अजर-अमर हो जाता है।

अनादि काल से भारतीय परम्परा व दर्शन में महान् तपस्वी मानसिक, सासारिक व्यथाओं से मुक्ति पाने के लिये चिन्तन व मनन करते रहे हैं। धी की प्राप्ति के लिये पहले एक बार दूध को तपाना पड़ता है और फिर पुनः मक्खन को तपाना पड़ता है। इस प्रकार अन्तरंग व बहिरंग तपस्या के द्वारा

ही आत्मा में दर्शन, मनन और चिन्तन की शांतिधारा प्रवाहित होती है । इसलिये मनन-चिन्तन करने वाले भी एक प्रकार तपस्वी है । चिन्तन में जिसे जो प्राप्त हुआ, उसने उसे प्रस्तुत किया ।

सांख्य दर्शन के अधिष्ठाता महर्षि कपिल ने बताया कि आत्मा कूटस्थ-नित्य है, अविकारी है । बुद्ध ने चिन्तन-मनन के आधार पर क्षणिकवाद की अभिव्यक्ति की । उनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है, कोई पदार्थ शाश्वत नहीं है, इन्होंने सर्वथा पर्यायार्थिकनय का कथन किया । वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी जल आदि को नित्य तथा घट-पटादि सावयव पदार्थों को अनित्य माना ।

इस प्रकार ससार में सभी दार्शनिकों ने एक आधार पर, वस्तु पर टिक कर चिन्तन किया । अनन्त धर्मात्मक अनन्त पदार्थों में से एक पदार्थ को लेकर उस पर अनुसन्धान करने वाला अपने कार्य में सफल हो जाता है । आयु छोटी है, तत्त्वज्ञान अनन्त है, इसलिये ये सत्य को एक अपेक्षा से ही प्राप्त कर सके, एक प्वाइंट आफ व्यु से ही प्राप्त कर सके । वह एक अपेक्षा, एक पाइन्ट पूर्ण सत्य नहीं है । इसलिये आचार्यों ने कहा—खोजो ! सत्य के लिये परस्पर विवाद मत करो, खोजो ! किसी ने कहा है—खोजी जिये और वादी मरे । वादविवाद करने वाला उसी में फस कर रह जाता है, कुछ प्राप्त नहीं कर पाता, खोजने वाला प्राप्त कर लेता है और अजर-अमर हो जाता है ।

सिद्धसेन दिवाकर ने नित्य, अनित्य व नित्यानित्य का मथन किया उन्होंने कहा कि—

भद् मिच्छादसण समूहमहयस्स अमयसारस्स ।

जिणवयणस्स भभवओ सविग्गमुहाहिगम्मस्स ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव के वचन मिथ्यादर्शनो के समूह का मथन करने वाले तथा अमृतसार रूप है । मुमुक्षुओं द्वारा उपासित तथा सरलता से समझ में आने वाले जिनेन्द्र-भगवान् के वचन जगत् का कल्याण करे । वास्तव में जैनधर्म को तटस्थ व्यक्ति ही समझ सकता है । पूर्वाग्रही इस धर्म के मर्म को समझ नहीं सकता ।

एक वायुयान में पाँच लाख पुर्जे होते हैं । जब ये पुर्जे व अन्य सब

हिस्से (पार्ट्स) होंगे, तभी वायुयान बन पायेगा। एक भी पुर्जे के अभाव में हवाई जहाज अपूर्ण है। इसी प्रकार सत्य की एक अपेक्षा के साक्षात्कार करते समय सत्य के अनन्त पक्षों की अपेक्षा सम्भव नहीं है। अग्नि के लिये तीन व्यक्ति एक ही समय में तीन बातें बताते हैं, एक उसमें दाहकत्व बताता है, दूसरा आतप बताता है और तीसरा उसे प्रकाशक बताता है। तीनों ने अग्नि के एक-एक पक्ष का अपेक्षा से कथन किया है, यदि और अन्य व्यक्ति भी अग्नि के बारे में कुछ कथन करेंगे तो स्व-आभास या अनुभूति के आधार पर ही, इन सबसे उत्पन्न विवाद का निरसन किस प्रकार कर सकेंगे ?

चार व्यक्ति भोजन करने बैठे, भोजन परोसा गया। चारों ने खाना प्रारम्भ किया। एक व्यक्ति ने कहा दाल में नमक कम है, दूसरे ने कहा—खटाई कम है, तीसरे ने कहा कि—यह चरपरी अधिक है, चौथे ने कहा—नहीं, दाल बहुत स्वादिष्ट है। इस प्रकार चारों व्यक्तियों के विचार पृथक्-पृथक् थे। अब दाल की वारी थी, उसमें निहित जल ने कहा—आपने दाल को स्वादिष्ट बताया है, पर दाल अकेली ही नहीं, उसमें मैं भी निहित हूँ, नमक ने कहा—इसमें मेरा भी अस्तित्व है दाल की स्वादिष्टता मेरे ही कारण है, अग्नि ने कहा—मेरे बिना दाल, जल, नमक सब निकम्मे रह जाते हैं, वर्तन कहता है—मुझे क्यों भूल रहे हो, मेरा भी तो सहयोग है।

एक पदार्थ में अनन्त धर्म हैं उनमें से एक को ही प्रमुख मानकर उसे ही श्रेय देकर, शेष को कैसे भुला सकते हैं ? प्रवचनसार, पचास्तिकाय में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि 'एक सत्' महासत्ता के विचार में उन्होंने ऐसा कहा है, पर अवान्तर भेदों से एक ही वस्तु में अनन्त गुण-धर्म विद्यमान हैं। सर्वज्ञ ने उन्हें देखा, पहचाना व अनुभव किया और तब बताया।

जब तक तत्त्वज्ञान के हार्द्र को, मर्म को, प्रत्यक्ष अनुभव न करले तब तक विद्यार्थी हैं, मार्ग में ही हैं। इष्ट तक पहुँचने के पूर्व मार्ग में ही प्राप्ति की बात करने के लिये अनेकान्त-स्याद्वाद का सहारा लेना होता है।

एक मुक्किल ने वकील साहब के घर जाकर वकील साहब के लिये पूछा। वकील साहब की पत्नी ने कहा—कोर्ट गये हैं। मुक्किल तुरन्त स्कूटर पर बैठकर कोर्ट पहुँचा। वहाँ जाकर उसने वकील साहब के लिये पूछा तो ज्ञात हुआ अभी घर से नहीं आये। घर से उत्तर मिला था कि कोर्ट

गये और कोर्ट से उत्तर मिला कि घर से नहीं आये ? दोनों में से कौनसी बात सत्य है ? अपनी-अपनी अपेक्षाओं से दोनों ही सत्य हैं ।

तत्त्वज्ञान को एकान्त दृष्टिकोण से नहीं जान सकते । उसे एकान्त से देखना हठवाद है । वह मनमुटाव उत्पन्न करेगा । विध्वंसकारी हो जायेगा । एकान्त, दुरभिमान उत्पन्न करता है । अनेकान्त का आश्रय लेकर दूसरे की दृष्टि को सर्वथा असत्य नहीं कह सकते, वह दृष्टि किसी भी अपेक्षा (लौकिक या पारलौकिक) से सत्य हो सकती है ।

बालगंगाधर तिलक ने कहा—‘स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है ।’ यह एक अपेक्षा से उचित है पर इसका अर्थ यह लें कि हमें सरकारी भवनों को तोड़ने की, आग लगाने की, विध्वंस करने की भी स्वच्छन्दता है । अधिकार है, यह उपयुक्त नहीं है । कथन की दृष्टि, उसकी अपेक्षा को ध्यान में रखना होगा । कार्लमार्क्स ने कहा — मजदूरों एक हो जाओ । यह ठीक है । निर्माण के लिये एक होवो, विध्वंस के लिये नहीं । मजदूरों एक हो जाओ, इसका अर्थ यह नहीं कि हड़ताल करो, राष्ट्रीय सम्पत्ति को आग लगाओ । अपेक्षा से कही गई बात आंशिक सत्य है । अपेक्षा से सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं है ।

जब तक अनेकान्त दृष्टि से अध्ययन-मनन-चिन्तन नहीं होगा, अनेकान्त का महत्त्व नहीं समझा जावेगा, तब तक उन्नति व विकास में सफलता हासिल नहीं होगी । पूर्ण सत्य, मथन है, चिन्तन है, मनन है, वह शांति का कारण है । अपूर्ण सत्य, अधूरा ज्ञान है, दुःख का कारण है । पूर्ण सत्य से ही आत्मज्ञ बनता है, अधूरा सत्य जानने वाला धर्मज्ञ, धार्मिक व धर्मात्मा बन सकता है । वह आत्मा-परमात्मा पर विश्वास कर सकता है, आत्मानुभूति नहीं कर सकता । आत्मज्ञ, सर्वज्ञ हो सकता है । धर्मज्ञ व सर्वज्ञ की अनुभूति में वही अन्तर है जो एक सुहागिन व विधवा में होता है । विधवापन की अनुभूति एक सुहागिन स्त्री कभी नहीं कर सकती, उसके दुःखों का अनुमान नहीं कर सकती । विधवा के दुःखों का अनुमान व अनुभूति विधवा ही कर सकती है । उसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की, आनन्द की, वीतरागता की अनुभूति व अनुमान हम नहीं कर सकते । उस पूर्णता का ज्ञान पूर्ण होकर, सर्वज्ञ होकर ही जान सकते हैं । हम दूसरों के दुःख की अनुभूति नहीं कर सकते, उसे अपने में अनुभव नहीं कर सकते, केवल देख सकते हैं । स्व-दुःख ही चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता है ।



एक बार महात्मा बुद्ध एक आम के पेड़ के नीचे बैठे थे । पेड़ पर पके हुये आम लटक रहे थे । उपवन में कुछ बच्चे खेल रहे थे, वे पत्थर फेंक कर आमफल तोड़ने लगे । पत्थरों से एक दो आम टूट पड़े । पर एक पत्थर पेड़ को न लगकर महात्मा बुद्ध के मस्तक पर लग गया, खून बहने लगा । बच्चे डर गये । महात्मा है, कहीं कोई आप न दे दें, इस भय से घबराने लगे । डरते-डरते महात्मा-बुद्ध के पास पहुँच कर क्षमा चाहने लगे । महात्मा-बुद्ध की आँखों में आँसू भरे हुये थे । उन्होंने कहा— नहीं, मुझे कोई दुःख नहीं है, तुम घबराओ मत । बच्चों ने कहा— दुःख नहीं है तो आपकी आँखों में आँसू किसलिये हैं ? बुद्ध ने कहा— तुमने पेड़ को पत्थर मारा इसने तुम्हें मीठे फल दिये, पर मुझे पत्थर मारा तो मैं तुम्हें कुछ नहीं दे सका, मैं इसलिये दुःखी हूँ ।

व्यावहारिक जीवन में स्व-दुःख में पर-दुःख है, पर-दुःख में स्व-दुःख है, इसे सर्वथा छोड़ नहीं सकते । परिवार में किसी की टांग टूट जाती है तो क्या आपको दुःख नहीं होता ? यदि दुःख नहीं होता तो क्यों आप उसे तुरन्त अस्पताल लेकर भागते हैं ? परोपकार भी कर्तव्य है, यदि नहीं है, तो हड्डी टूट जाने पर स्वयं ही पट्टी बांध लीजिये ? यदि परोपकार नाम की कोई भावना नहीं है, चीज नहीं है तो निकाल दीजिये उसे जीवन में से । जब आप पर कोई कष्ट आ पड़ता है तो आप दूसरों से सेवा की अपेक्षा रखते हैं, तो क्या आपका कर्तव्य परोपकार करने का नहीं है ।

सामाजिक जीवन में सेवा को नहीं माने, क्या ऐसा सम्भव है ? व्यास महर्षि ने चिन्तन करके कहा कि—‘परोपकाराय पुण्य’ सेवा भी पुण्य है । निष्काम भावना से, निर्लेप भावना से, निर्लोभ भावना से की गई सेवा सफल जीवन का कारण है ।

दुनिया में कोई भी व्यक्ति बिना स्वार्थ के नहीं जीता, स्वार्थ में परार्थ भी निहित है । भगवान् आदिनाथ के समवशरण में वृषभसेन गणधर ने पूछा कि—

भगवन् ! स्वार्थ अच्छा है या परार्थ ?

भगवान् से उत्तर दिया— आद हिद कादव्व अर्थात् स्वार्थ अच्छा है ।

उन्होंने फिर पूछा—क्या सर्वथा स्वार्थ श्रेष्ठ है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं । यदि सक्कड़ परहिद च कादव्व, यदि तुम समर्थ हो, सक्षम हो तो पर सेवा भी करो । स्व-कल्याण करते हुये, आत्महित करते हुये, दूसरे का भी कल्याण करो ।

उन्होंने फिर पूछा—आत्महित व परहित दोनों में से श्रेष्ठ क्या है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—आत्महित श्रेष्ठ है । आद-हिदं कादव्वं यदि सक्कड़ परहिद च कादव्वं । आद-हिदं, पर-हिदादो, आद-हिदं सुट्ठु कादव्वं ।

अर्थ—पहले आत्महित करना चाहिये । यदि हो सके तो परहित भी करना चाहिये । आत्महित व परहित दोनों में पहले आत्महित करना श्रेष्ठ है । जिसने ज्ञानादि आत्मगुणों का विकास कर लिया है, वही पर के ज्ञानादि में साधन हो सकता है ।

इसलिये पहले स्वयं मुधरो, स्वयं को आदर्श बनाओ तब विश्व को आदर्श बना पाओगे । यदि पहले दूसरों को, विश्व को आदर्श बनाना चाहोगे तो कोई भी आदर्श नहीं बन पायेगा, सब ठन-ठन रह जायेंगे । गांधीजी ने कहा था कि—जिस मार्ग पर मैं चलता हूँ, उसी पर चलने को कह सकता हूँ, जिस मार्ग पर मैं नहीं चलता उसके लिये कैसे कह सकता हूँ ? जिस मार्ग पर आप चल नहीं सकते उस पर चलने के लिये कहने का दभ मत भरिये कि मैं आपको यह मार्ग बता रहा हूँ, अपितु कहिये कि मैं नहीं चल सका परन्तु यह आपके लिये हितकारी है, इसलिये अपना लीजिये ।

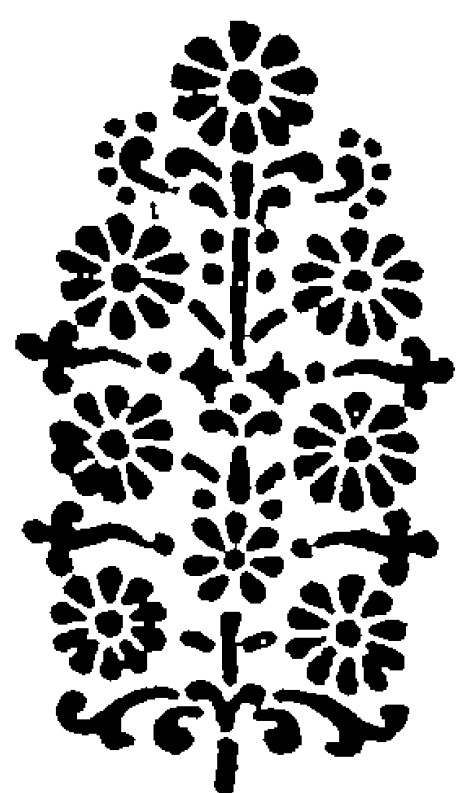
स्व-आदर्श के बिना दूसरे को आदर्श बनने का उपदेश सफल नहीं हो सकता । एक चोर चोरी न करने का उपदेश दे तो वह सफल नहीं हो सकता ।

एक लड़का वीमार हुआ । हकीम ने उसको गुड छोड़ने के लिये कहा । पर वह लड़का गुड छोड़ने के लिये तैयार ही न हुआ । माता-पिता ने बहुत चेष्टा की कि किसी भी भाति यह गुड छोड़ दे, अन्यथा जीवन खतरे में है । एक दिन वे किसी महात्मा के पास गये, उन्होंने महात्माजी से अपने लड़के का गुड छुड़वाने की प्रार्थना की । महात्माजी ने कहा—पन्द्रह दिन बाद आना । वे लोग पन्द्रह दिन बाद आये । महात्माजी ने लड़के को बुलाया उसके कान में कुछ कहा और लड़के ने तत्काल कह दिया कि—मैं अब गुड

नहीं खाऊँगा । माता-पिता, आश्चर्य-चकित रह गये । इतने दिन तक चेष्टा की तब यह नहीं माना, महात्माजी को कहा तो उन्होंने भी पन्द्रह दिन का समय दिया और आज एक बार कान में कुछ कह देने से यह मान गया, आखिर महात्माजी ने कौनसा मंत्र फूँक दिया ? उन्होंने महात्माजी से पूछा कि आखिर आपने कौनसा मंत्र फूँका, जो वह तत्काल मान गया ? महात्माजी ने कहा—मैंने कोई मंत्र नहीं फूँका । मैंने पन्द्रह दिन का समय दिया, वह इसलिये कि पहले मैं भी गुड खाता था । जब मैं गुड खाना छोड़ूँ तब ही तो दूसरे से उसे छोड़ने के लिये कह सकता हूँ । पहले मैंने छोड़ा, तब इसके कान में यही कहा—बेटा गुड खाना छोड़ दो नहीं तो जीवन खतरे में है, बस !

यदि पिता मुँह में सिगरेट दबाये रखे और पुत्र से सिगरेट छोड़ने को कहे, न पीने को कहे तो क्या वह छोड़ सकता है ? इसीलिये हमारे दर्शन में, धर्म में स्व-उद्धार को प्रथम स्थान दिया है, प्राथमिकता दी है और पर-उद्धार को द्वितीय स्थान दिया है ।

पूर्ण सत्य आत्मा में है—यह जुवान से नहीं कह सकते, वह अनुभूति का विषय है । इसलिये पहले स्वयं अनुभवन करो तब दूसरों को उनकी अनुभूति के लिये कहो । जीवन में आचरण से उद्धार हो सकता है, इसलिये तीर्थंकर भी पहले स्वयं आचरण कर अनुभूति के आधार पर उपदेश देते हैं । भगवान् महावीर ने बारह वर्ष उपदेश नहीं दिया, स्वयं आचरण कर, अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही उपदेश दिया । उन्हीं महापुरुषों की वाणी का अध्ययन, मनन व चिन्तन करके हम आप लोगों को बताते हैं ।



## संस्कार और जीवन

मानव मे धर्म नही है तो वहत्तर कलाये भी व्यर्थ है । इसलिये वच्चो को विणेषत विनम्रता व वृद्धो की सेवा करने की शिक्षा देनी चाहिये । यदि माँ सुसंस्कृत, धार्मिक विचारधारा की होगी तो उसकी सन्तान भी साहसी, धार्मिक व सुसंस्कृत होगी ।

मेरा विश्वास है कि मानव-जीवन मे माता-पिता द्वारा प्रदत्त संस्कार स्थायी होते है । यदि माता-पिता के दिये हुये संस्कारो के साथ दिल मे वर्म विद्यमान है, तो कही भी जाइये, वे संस्कार नष्ट नही होंगे । माता-पिता से प्राप्त अच्छे संस्कार मृत्यु के क्षण तक विद्यमान रहते हैं ।

प्राचीन काल मे भी हमारे देश के व्यापारी अपने व्यापार हेतु एक शहर से दूसरे शहर व एक देश मे दूसरे देशो मे भ्रमण करते थे । दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध व्यापारी भी अपने व्यावसायिक भ्रमण पर गये हुये थे । देश-देशान्तर का भ्रमण करते हुये उन्हे एक स्थान पर बहुत बडा व कीमती रत्न प्राप्त हुआ । उन्होंने वह रत्न खरीद लिया । उस कीमती रत्न से आभूषण न बनवाकर, अपने धार्मिक मुसंस्कारवश उन्होंने उस रत्न से भगवान की एक मूर्ति बनवायी । उन्होंने समय-समय पर रत्नो की अनेक मूर्तिया बनवायी । वे मूर्तिया आज भी मूडवट्टी नामक तीर्थस्थान मे विद्यमान हैं, जिनके दर्शन कर यात्री गदगद हो जाते हैं । यदि उस व्यापारी मे धार्मिक मुसंस्कार नही होते तो उन अमूल्य रत्नो से आभूषण भी बन सकते थे । दुनिया मे वहत्तर कलायें मानी जाती है, यदि मानव मे वर्म नही हो तो ये वहत्तर कलायें व्यर्थ है ।

एक विधवा, अत्यन्त गरीब महिला थी, उसके एक पुत्र था । उस महिला ने अनेक कष्ट उठाकर, सिलाई करके, मेहनत-मजदूरी करके अपने

पुत्र को पढा-लिखाकर योग्य बनाया। पुत्र भी बुद्धिमान व होशियार था, अपनी योग्यता से वह सेना में भर्ती हो गया। कुछ समय पश्चात् वह बहुत बड़ा अधिकारी बन गया। मा ने उसे सब कुछ सिखाया पर एक बात नहीं सिखायी। वह यह मानता था कि जो कुछ हूँ, वह मैं ही हूँ, दूसरा कुछ नहीं है, सब मुझसे छोटे हैं। मा ने उसे विनम्रता नहीं सिखायी थी। एक दिन सड़क पर जाते समय केले के छिलके पर पैर पड़ने से वह गिर गया और उसका पाव टूट गया। डाक्टरों ने इलाज किया पर पाव में कुछ और खराबियाँ हो जाने से उन्होंने उसका पाव काट दिया। वह अपने घर में ही बैठा रहने लगा, उसे अपनी असहायता महसूस होने लगी। उसने अपनी मा से कहा—मा तूने मुझे सब कुछ सिखाया पर यह नहीं सिखाया कि दुराभिमान नहीं करना चाहिये, विनम्र होना चाहिये। आज मुझे अनुभव होता है कि मैं बहुत छोटा व्यक्ति हूँ, दुनिया बहुत बड़ी है।

बच्चों के लिए माता-पिता द्वारा प्रदत्त सस्कार ही महत्त्वपूर्ण है। स्कूल में अच्छे सस्कार डाले जायें पर यदि घर में स्वच्छन्दता हो तो वे स्कूल में दिये गये सस्कार भी कारगर नहीं होंगे। एक बालक में सौ अध्यापक मिलकर जो सस्कार नहीं डाल सकते, एक सुशिक्षिता माँ वे सस्कार डाल सकती है। माँ की ममता व उसके द्वारा प्रदत्त सस्कार ही सर्वश्रेष्ठ है। यदि माँ केवल लाड-प्यार में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती है तो उसको इसका नतीजा भोगना पड़ता है।

एक अत्यन्त अमीर विधवा महिला के एक मात्र पुत्र था। वह महिला अपने पुत्र का अत्यन्त लाड-प्यार से पालन करती, उसे किसी भी कार्य करने के लिये नहीं टोकती। धीरे-धीरे माँ के अत्यधिक लाड व पैसे ने उसे व्यसनी बना दिया। वह व्यसन अपनाता जाता और माँ प्रोत्साहन देती, मना नहीं करती। माँ ने कभी धर्म-कर्म के सस्कार ही नहीं दिये। व्यसनो के चक्कर में शीघ्र ही सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई, मकान विक्रय हो गया। अब उन्हें भोपड़ी में रहना पड़ा। एक दिन उसकी प्रेमिका ने कहा—मुझे तुम्हारी माँ का कलेजा लाकर दो, तभी समझूँगी कि तुम्हें मुझसे असली प्रेम है। बेटे ने अपनी माँ से आकर अपनी प्रेमिका की इच्छा व्यक्त की। माँ ने कहा—जैसी तेरी इच्छा बेटा। बेटे ने चाकू से माँ का कलेजा चीर कर निकाल लिया और प्रेमिका को सोपने चल दिया। रास्ते में किसी पत्थर से टकरा कर गिर गया तो माँ के उस कलेजे से आवाज आई—बेटे कहीं तुझे चोट तो नहीं लगी।

उस माँ ने ममता तो की, पर बेटे को अच्छे सस्कार, निर्व्यसनी सस्कार नहीं दिये ।

यदि माँ ममता के साथ निर्व्यसनी बनने की प्रेरणा दे तो बालक अवश्य अच्छे निकलेंगे ।

एक सेनापति था, उसके देश का दूसरे देश से युद्ध चल रहा था । माँ ने कहा—बेटा मर जाना पर युद्ध-भूमि से पीठ दिखाकर मत लौटना । बेटा युद्धस्थल पर गया, कुछ समय बाद वहाँ से भागकर घर आ गया और अपने कक्ष का दरवाजा बंद करके बैठ गया । माँ को ज्ञात हुआ तो वह बहुत दुःखी व चिन्तित हुई, उसने सोचा—मैंने अपने पुत्र को सदैव अच्छी-अच्छी बातें सिखाई, अच्छे सस्कार डाले, धर्म सिखाया, फिर यह कायर कैसे निकला ? बेटे के इस कार्य को अपने दूध का अपमान समझ दुःखी हो रही थी । माँ को अत्यन्त उदास व दुःखी देखकर घर की एक दासी ने पुत्र की कायरता का कारण बताते हुये कहा—माँ, एक दिन आप मंदिर गई थी, तब आपके पुत्र रो रहे थे, मैंने उन्हें चुप करने हेतु दूध करके अपना दूध पिला दिया था । माँ ने पुत्र के कक्ष के बाहर जाकर उच्च स्वर में कहा दासी के एक बार के दुग्धपान ने इतना असर किया और मैंने जो सालों दुग्धपान कराया उसका कोई असर नहीं ? माँ की ललकार व दूध की याद ने पर्याप्त प्रभाव डाला । पुत्र, माँ को कायर चेहरा न दिखाकर पीछे के दरवाजे से पुनः युद्ध भूमि में जा खड़ा हुआ और फिर विजयी होकर ही घर लौटा ।

माँ के दूध में अनन्त शक्ति है । यदि माँ सुसंस्कृत धार्मिक विचारधारा की होगी तो उसकी सन्तान भी साहसी, धार्मिक व सुसंस्कृत होगी । इसलिये बालक को केवल अक्षरज्ञान ही न कराये अपितु उन्हें विनम्रता, शालीनता, वृजुर्गों की सेवा, माता-पिता का आदर, रोगियों की सेवा, गरीबों के दुःख दूर करने की भावना आदि का पाठ पढ़ाना भी आवश्यक है, तभी स्कूल सफल हो सकते हैं, राष्ट्र सफल हो सकता है, समाज आदर्श बन सकता है । केवल पेट भरना ही पर्याप्त नहीं, बुद्धिमानी नहीं है, आदर्श नहीं है । पेट तो पशु-पक्षी भी भर लेते हैं ।

ब्र० शीतलप्रसादजी ने पचास्तिकाय की टीका करते हुये प्रारंभ में ही कुछ स्वतन्त्र गायार्थें देकर कहा है कि—सद्यःप्रसूत बालक निष्पापी व अत्यन्त भोला होता है । बाद में जैसे सस्कार उसे प्रदान किये जाते हैं, वह वैसा ही बन जाता है ।

नन्हा बालक अपनी क्रियाओं से, लीलाओं से, भाषा से परिवार को आनन्दित करता है। उसके द्वारा कोई गलत शब्द बोलने पर परिवार के लोग तुरन्त उसे समझाते हैं। परिवार से विनम्रता, चारित्रिक दृढता आदि सस्कार प्राप्त कर उनका पूर्णरूप से पालन करने पर ही वह आदर्श नागरिक बन सकता है।

ये विद्यालय मानव को मानव बनाने की फैक्ट्री है। इनमें केवल पेट भरने की विद्या सिखाना ही पर्याप्त नहीं है। पेट तो इन विद्यालयों में न पढ़ने वाला एक अनपढ़ व्यक्ति भी भर लेता है। विद्यालयों में स्वावलम्बन की, धार्मिक व नैतिक शिक्षा भी देनी चाहिये।

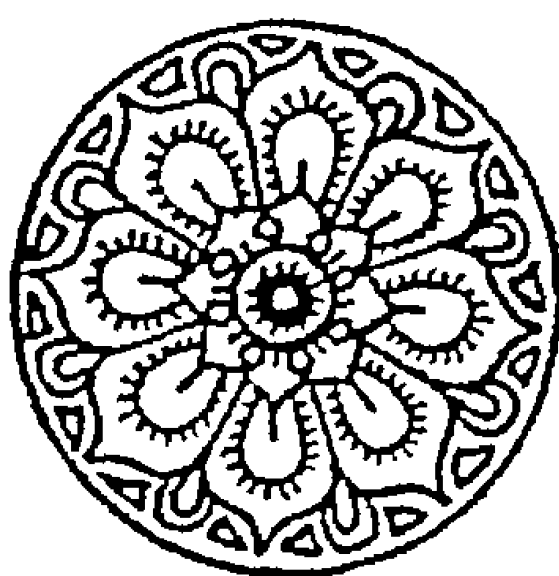
बम्बई में साठ वर्ष पूर्व एक माणकचन्द पानाचन्द नाम के सेठ रहते थे। उस समय देश के हर शहर में विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की सुविधा नहीं थी। इसलिये बम्बई में अनेक शहरों से एम ए, बी. ए. की परीक्षा देने के लिये परीक्षार्थी आते रहते थे। एक बार पचास विद्यार्थी एम ए की परीक्षा देने के लिये आये हुये थे। सेठ सा० ने उन्हें अपने घर भोजन करने बुलाया। उन्हें बहुत प्यार से भोजन कराया। भोजन कराने के पश्चात् उन्होंने सब विद्यार्थियों से कहा कि—मैंने आप लोगों को एक विशेष उद्देश्य से यहाँ बुलाया है। आप लोगों को तीन बातें बतानी हैं—आप कभी नौकरी करें या व्यवसाय करें तो धर्म को न भूलें, सदैव समाज सेवा के लिये तत्पर रहे तथा राष्ट्र के प्रति निष्ठावान् रहे। बस आपके भविष्य के लिये मेरा यही सदेश है। उन्होंने उन विद्यार्थियों में से जरूरतमंदों को छात्रवृत्ति भी प्रदान की। उस विद्यार्थी समूह में से एक मैसूर के चीफ जस्टिस श्री पद्मनाभ भी उस समय मौजूद थे। मैंने क्षुल्लकावस्था में उनके घर आहार लिया तो देखा वहाँ उन सेठ सा० की तस्वीर लग रही थी। उस तस्वीर के बारे में श्री पद्मनाभ ने हमें उपरोक्त सारी घटना बताते हुये कहा कि इनके उपदेश से ही आज मैं इतना ऊँचा पहुँच सका हूँ। इसलिये मैंने अपने घर में यह तस्वीर लगा रखी है।

इसी प्रकार महाराष्ट्र में एक भवराव पाटिल नामक महान् व्यक्ति हुये हैं। उनका व्यक्तित्व, वेशभूषा सब रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसा था। उन्होंने महाराष्ट्र में सात सौ बीस स्कूल, छ कालेज व चालीस बोर्डिंग खोले। एक दिन वे सब्जी खरीदने बाजार गये थे। एक अत्यन्त गरीब, मुसलमान सब्जी वाली से वे सब्जी खरीद रहे थे, उसके पास ही उसका सात-आठ वर्षीय

बालक बैठा हुआ था। उन्होंने उस मञ्जीवाली से पूछा—तुम इस बच्चे को पढ़ाती नहीं हो ? सञ्जीवाली ने कहा—मैं बहुत गरीब हूँ पढ़ाने के लिये मेरे पास पैसा नहीं है। पाटिल सा० उसे अपने घर ले आये, उसे पढ़ाया। वह बैरिस्टर बन गया। उसने उनकी एक मूर्ती बनाकर अपने घर में लगायी। उसके रिश्तेदार उसे मस्जिद में चलने के लिये कहते, मित्रगण मन्दिर में चलने के लिये कहते, पर वह कहता मेरे मन्दिर-मस्जिद का भगवान यही है।

मुझे बच्चों में यही कहना है कि—माता-पिता, अध्यापक, सभी के प्रति आदर व निष्ठा होनी चाहिये। गांधीजी ने गांधीविचारदोहन में लिखा है कि—बच्चों को प्यार से समझाना चाहिये, वह न मानें तो डाटना चाहिये पर उसे डाटते समय भी मन में वात्सल्य भाव बना रहना चाहिये। जैसे नारियल ऊपर से कठोर रहते हुये भी अन्दर से अत्यन्त कोमल होता है।

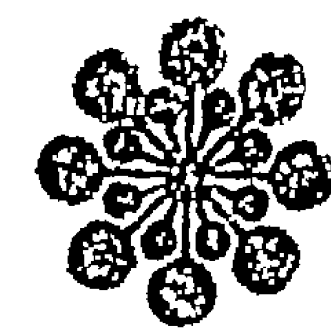
अध्यापक, माता-पिता व बड़े लोग सभी मिलकर बच्चों को अनुशासन आदर, राष्ट्रीय-संपत्ति के प्रति प्रेम, राष्ट्र के प्रति निष्ठा सिखायें। इन्हीं बच्चों में से आगे चलकर कोई मेयर बनेगा, कोई मंत्री बनेगा तो कोई राष्ट्रपति बनेगा, कोई गांधी बनेगा, कोई टैगोर तो कोई महावीर भी बन सकता है। इसलिए बच्चों को विशेषतः विनम्रता व वृद्धों की सेवा करने की शिक्षा देनी चाहिये।





मृनि श्री राज्य कर्मचारियों के बीच





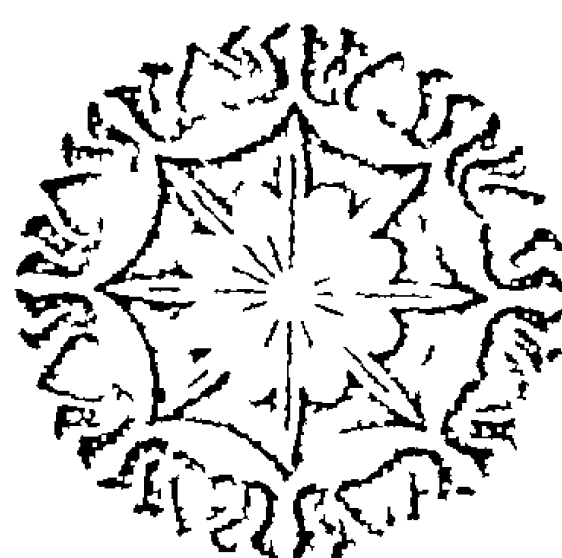
मगल विहार के पूर्व मुनि श्री विशाल जन-समूह को सम्बोधित करते हुये ।  
 उनके सम्मुख बैठे हैं—राजस्थान विधान सभाध्यक्ष महारावल लक्ष्मणसिंह,  
 राज्य के स्वास्थ्य मंत्री श्री त्रिलोकचन्द जैन एवं समाज के गणमान्य व्यक्ति

श्री ... ..

મુનિ શ્રી ઝજમેર મે —

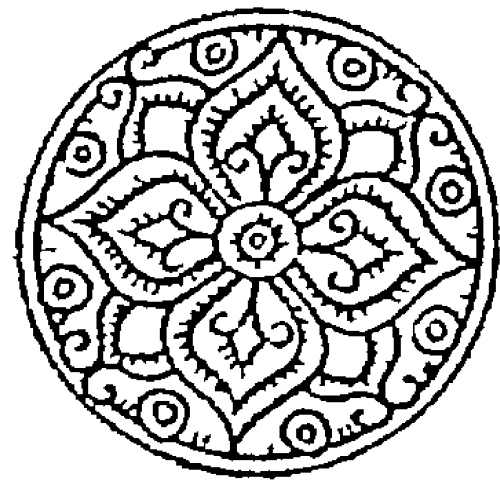
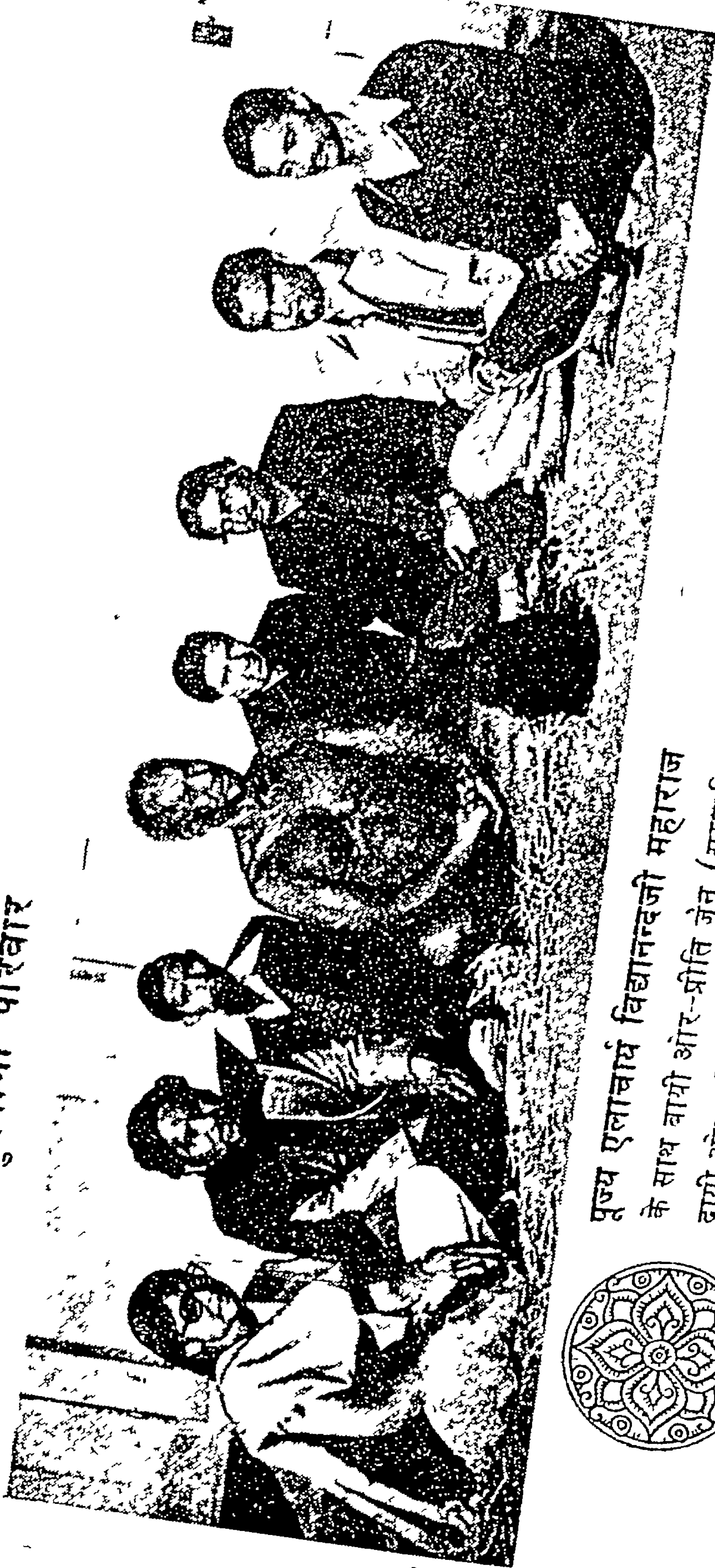


• મુનિ શ્રી દે સાથ મુનિ શ્રી સુશીલકુમારજી,  
સર મેઠ ભાગચન્દજી નોતી, કુલ્લક શ્રી ચન્દ્રભૂષણજી સાં  
એવ કુલ્લક શ્રી વરદત્તજી





## मुनिश्री के साथ 'गुरुवाणी' परिवार



पूज्य एलाचार्य विद्यानन्दजी महाराज

के साथ बायी ओर-प्रीति जैन (सम्पादिका) श्री ज्ञानप्रकाश बक्षी (प्रकाशक) एवं श्री वावुलाल जैन  
दायी ओर-श्री योगेन्द्र जैन, श्री राजेन्द्र कुमार चिट्ठीवाला, श्री सुमेरु कुमार जैन (प्रबन्ध सम्पादक)  
एवं श्री तारगचन्द वेद

## विद्या ददाति विनयं...

जो जितना ज्ञानो होगा वह उतना ही विनम्र भी होगा । पेड़ पर अधिक फल लगते हैं तो वह झुक जाता है । मानव यदि मानवीयता के साथ जीता है, तो वह दो हाथ वाला भगवान है, अन्यथा पशु में और उसमें कोई अन्तर नहीं ।

सेवा-भाव, विनम्रता, चारित्रिक दृढ़ता व निर्व्यसन्नता के साथ जीवन व्यतीत करना ही मानव जीवन की सार्थकता है । व्यसनो में फसना-जीवन गवा देना है और निर्व्यसनी रहना जीवन की गहराई को पा लेना है ।

मानवीयता के बिना विद्याध्ययन निरर्थक है । मानव बनकर, टैगोर, मालवीय आदि जैसे बनकर (दिखाकर) ही विद्या की, शिक्षा की समर्थता का परिचय दिया जा सकता है । मानव-जीवन प्राप्त कर, स्वयं के लिये ही जीना कोई प्रशंसनीय बात नहीं है । गाय, पशु होकर भी परोपकार करती है, हमें दूध प्रदान करती है । वह गाय, उन छात्रों से, उन मनुष्यों से श्रेष्ठ है, जो केवल अपने लिये ही जीते हैं । केवल मनुष्य रूप में जन्म लेना और जीवित रहना ही उपयोगी नहीं है । जब तक मानवीयता नहीं है, मानव जीवन उपादेय नहीं है । महाभारत में श्रीकृष्ण ने लिखा है कि मानव यदि मानव बनकर जीता है, मानवीयता के साथ जीता है तो वह दो हाथ वाला भगवान है, अन्यथा पशु में और उसमें कोई अन्तर नहीं है ।

हमारे देश में मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी आदि महापुरुष हुये हैं । मालवीय ने इस देश पर अनेक उपकार किये हैं, गांधीजी ने अपने त्याग एवं सादगी से हजारों पुरुषों को एक नई विचारधारा प्रदान की है ।

आज हमारे छात्र गुरुगो का, माता-पिता का आदर नहीं करते, उनका महत्व नहीं समझते, तो उनके विद्याध्ययन का क्या लाभ है? यदि विद्यार्थी, विद्या में मलीनता उत्पन्न करते हैं, वातावरण में अराजकता उत्पन्न करते हैं, तो निश्चित रूप से एक दिन बन्दूक की नोक पर जीवन व्यतीत करने का प्रसंग आ जायेगा।

सरकार लाखों रुपये का कर्ज लेकर आप लोगों का जीवन श्रेष्ठ बनाने हेतु, देश का भविष्य अच्छा बनाने हेतु, व मानव को मानवता मिलाने हेतु, ये विश्वविद्यालय खोलनी हैं। आपके माता-पिता भी अनेक कष्ट सहन कर, कठोर परिश्रम कर आपको सन्नागरिक बनाने हेतु विद्याध्ययन कराते हैं।

भारत भूमि त्याग व सेवा की भूमि रही है। यहाँ त्याग की महत्ता है। किसी व्यक्ति के तीन पुत्र हैं, उनमें से एक जेल में है, एक शराबी है और एक जुआरी है और हमारे व्यक्ति के केवल एक ही पुत्र है, जो निर्व्यसनी है, वह पढ़-लिखकर डाक्टर बनकर दुःखियों के कष्ट दूर कर रहा है, तो उन तीन पुत्रों में ऐसा एक पुत्र ही अच्छा है।

मैंने पन्द्रह वर्ष पूर्व मैसूर में देखा कि एक विदेशी डाक्टर दम्पति भारत में आकर अपना एक चिकित्सालय खोलकर दुःखी रोगियों की सेवा में जुट गये। उन्होंने चालीस कुष्ठ-रोगियों से एक कुष्ठ-चिकित्सालय का शुभारम्भ किया। विदेशी, हमारे देश में आकर यहाँ के निवासियों की सेवा में जुट गये और हम अपने ही देशवासियों और भाईयों से वैर भाव रखते हैं। मानवीयता के लिये सेवा-भाव होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि विद्यार्थियों में सेवाभाव का अभाव है तो उन विद्यार्थियों से वह किमान श्रेष्ठ है, जो सदैव हमारे की जीवन-रक्षा के लिये कायरत रहता है, तत्पर रहता है। केवल अधर ज्ञान कर लेना, डिग्री ले लेना महत्वपूर्ण नहीं है। किसान ने कोई डिग्री नहीं ली, किन्तु पाषाणयुग (वल्पवृक्षयुग) से, कृषियुग से आज तक वह सेवा कार्य में तत्पर है। वह मानव-जीवन की रक्षार्थ झुक कर धरती में एक बीज बोता है और धरती उसकी सेवा-भावना व नम्रता के बदले एक ही बीज के उमड़ हजारों बीज करके नोबल पुरस्कार स्वरूप प्रदान करती है। इसी प्रकार कुम्हार, बटई आदि अनपठ होते हुये भी हमारे की महायता के लिये तत्पर रहते हैं।

जो जितना जानी होगा वह उतना ही विनम्र भी होगा। पेड़ पर अधिक फल लगते हैं तो वह झुक जाता है। देश का भविष्य आपके कंधों पर

है। आज देश स्वतन्त्र है, नागरिक भी स्वतंत्र है। पर स्वतन्त्रता का अर्थ वसो को जलाना, सरकारी-भवनो को आग लगाना नहीं है, यह उद्विग्नता है, स्वच्छन्दता है, अज्ञानता का प्रतीक है। वसो को, सरकारी भवनो को, आग लगाने के स्थान पर अपने अज्ञान को आग लगावें तो जीवन सफल हो जावे।

मानव-जीवन बहुत मूल्यवान है, कीमती है। सेवा-भाव, विनम्रता, चारित्रिक दृढ़ता व निर्व्यसनता के साथ जीवन व्यतीत करना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। व्यसनो में फसना जीवन गवा देना है और निर्व्यसनी रहना जीवन की गहराई को पा लेना है।

माता-पिता लाख कष्ट सहन करके अपनी सन्तान का पालन करते हैं, उनके प्रति यदि सन्तान कृतघ्न हो जावे तो क्या वे मानव हैं? गांधीजी ने गांधी विचारदोहन में लिखा है कि—ज्ञान-दान देने वाले गुरुवरो के प्रति विनम्र होना चाहिये। सभव है आप लोग भी भविष्य में प्रोफेसर, प्रिंसिपल बन जायें। विनम्रता भारतीय सस्कृति की विशेषता है।

एक बार रवीन्द्रनाथ टैगोर चीन गये हुये थे। वहाँ के नागरिको ने सड़क पर टैगोर के पाव छू लिये। टैगोर ने पूछा—मैं कोई साधु सन्त नहीं हूँ, आप मेरे पैर क्यों छू रहे हैं? चीन के निवासियो ने कहा कि—हम प्रत्येक भारतीय को सत् समझते हैं। यह सुनकर टैगोर की आँखो में आँसू आगये, उन्होंने सोचा—ये लोग जैसा समझते हैं, क्या आज भारतीय वैसे ही हैं?

आज आपके कंधो पर देश के अनेक उत्तरदायित्व हैं। यह जनतन्त्र तभी सफल हो सकता है जब देश की सारी जनता अनुशासन-बद्ध रहना सीखे। किसी को तकलीफ पहुँचाना, किसी की टांग तोड़ देना प्रशसनीय नहीं है, मानवता नहीं है। टूटी हुई टांग को जोड़ने की शक्ति हो, सामर्थ्य हो, ज्ञान हो, परोपकार की भावना हो, यही प्रशसनीय है, मानवीयता है।

भारतीय सस्कृति धर्म प्रधान है, सेवाभाव युक्त है। हमें हमारी सेवाओं व आचरण से विश्व में आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये, जिससे दूसरे देश भी हमसे शिक्षा ग्रहण कर सकें। हमारा ज्ञान विज्ञान प्राणीमात्र की, मानव-जाति की सेवा-भावना से ओत-प्रोत है।

आज देश के लोग स्वावलम्बी नहीं हैं, वे स्वयं का कार्य करने में भी अपमान समझते हैं। जबकि विदेशो में अत्यन्त शिक्षित व्यक्ति भी अपना कार्य स्वयं करने में, समय पड़ने पर मेहनत-मजदूरी करने में नहीं हिचकिचाते।

ये विद्यालय, विश्व-विद्यालय अत्यन्त पवित्र स्थल है, मन्दिर के समान है, जहाँ ज्ञान प्राप्त किया जाता है। नेहरूजी ने एक बार अपने भाषण में कहा था कि भारत मेरा मन्दिर है और इसमें निवास करने वाले मानव मेरे देवता हैं। मानव को भगवान के समान आदर प्रदान करना मानवीयता है। महान् दार्शनिक समन्तभद्र ने प्राणी मात्र के प्रति आदर के भाव प्रदर्शित करते हुये कहा कि—‘अहिंसाभूताना जगति विदित ब्रह्म परम’।

शैतान बनने में योग्यता का परिचय नहीं है, योग्यता का परिचय मानव बनने में है। आज मानव ने आकाश में तीव्र-गति से उड़ने वाले यान बना लिये, समुद्र में तैरने वाली पनडुब्बियां बना ली, सड़को पर तेज दौड़ने वाले वाहन बना लिये। मानव ने मशीनें तो बहुत बना लीं पर वह स्वयं मानव न बन सका, उसे मानव बन कर चलना नहीं आया।

विद्याव्ययन से, ज्ञान से मानव में विनम्रता, सभ्यता, परोपकार की भावना प्रसूत होती है। आचार्य शान्ति सागरजी महाराज के अनुसार वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है, जिसमें विनम्रता, सभ्यता व परोपकार की भावना न हो, वह ज्ञान, ज्ञान का व्यभिचार है।

आप सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, आप मानवीयता के साथ जीवन-यापन करें, यही भावना है।





## सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि सोक्षसार्गः

स्व व पर दोनों को जानो । आत्मा की ओर रुचि जितनी बढ़ती जाती है उतना ही वह सम्यग्दर्शन की ओर बढ़ता जाता है । जितनी पर की ओर रुचि बढ़ती जाती है, जीव उतना ही मिथ्यात्वी होता जाता है । शाश्वत केवल आत्मा है । पर को इसलिये जानो कि वह हमारे लिए अशाश्वत है । स्व से भिन्न पदार्थ को जाने बिना स्व का ज्ञान नहीं होगा । सशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित ज्ञान के लिये शब्द, अर्थ और ज्ञान, तीनों रूपों को जानना आवश्यक है ।

चित्त में जब तक ससार के प्रति राग विद्यमान है, आसक्ति है, तब तक हम धर्मात्मा नहीं बन सकते, निष्परिग्रही नहीं हो सकते । जब परिग्रह होगा तो राग भी होगा और राग होगा तो परिग्रह भी होगा । बहिरंग पदार्थों में सुख-शांति शाश्वत नहीं है, इन्द्रियजन्य है, क्षणिक है । धर्मात्मा बनने के लिये अन्तरंग व बहिरंग दोनों तप व त्याग आवश्यक है । जो अन्तरंग व बहिरंग दोनों ओर से तपता है, उसे आत्मा-अनात्मा का भेद ज्ञान होने लगता है, अनुभव होने लगता है ।

आचार्यों ने तत्त्वज्ञान के लिये तीन साधन बताये हैं—शब्द, अर्थ व ज्ञान । श्लोकवार्तिक में भी इसको भली प्रकार समझाया गया है । आचार्यों ने नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव से व्यवहार होता है, ऐसा बताया है । नाम को ही लें, नाम की आवश्यकता क्या है ? आचार्यों ने कहा है कि उद्देश्य को समझने के लिये, उद्देश्य की सिद्धि के लिये नाम की आवश्यकता है । नाम के साथ

समस्त दार्शनिकों ने अपने मतानुसार लौकिक, आध्यात्मिक या पारमार्थिक परिभाषा दी है। जैसे—कमण्डलु शब्द है इसका क्या अर्थ है ?

क = जल, मण्डल = पात्र या आकर, इस प्रकार कमण्डलु शब्द का अर्थ हुआ—वह पात्र जिसमें जल रखा जाता हो। इसी प्रकार कमल शब्द है। क = जल व मल = कीचड़ अर्थात् जल व कीचड़ का योग और इससे एक पुष्प का अर्थ निकलने लगा जो जल व कीचड़ के योग से उत्पन्न होता है।

एकाक्षरीकोष में 'क' शब्द का अर्थ आत्मावाचक है। 'क' शब्द के आत्मा व जल, ये दोनों अर्थ एक साथ बताये हैं। बृहद द्रव्य सग्रह में इसी प्रकार अप्पा शब्द से भी आत्मा व जल दोनों अर्थों का निर्देश है। अर्थात् आत्मावाचक व जलवाचक में एकरूपता है। जल को जीवन का प्रतीक माना है। जैसे जल सदैव प्रवाहमान रहता है वैसे ही आत्मा का ज्ञान भी सदैव प्रवाहमान रहता है। जैसे जल अपने शीतल स्वभाव को नहीं छोड़ता वैसे ही आत्मा भी अपने ज्ञान-चैतन्य स्वभाव को, व चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके भी नहीं छोड़ती। समान उद्देश्य से समानाधिक नाम है।

नाम के साथ उद्देश्य की सिद्धि परमावश्यक है। इसलिये शब्दों को निश्चित अर्थों में निगण्टु कोष द्वारा कीलित कर दिया गया है, वधन में डाल दिया गया है। यदि शब्द व अर्थ को वधन में न डाला जाये तो शब्द सदिग्ध हो जायेंगे, एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाने से भ्रम उत्पन्न हो जायेगा। इससे दार्शनिक के अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

पहले सम्यक् शब्द का अर्थ प्रणमा था। पर मेदिनी कोषकार को भ्रमण संस्कृति के कारण अपने कुछ शब्दों के अर्थ परिवर्तित करने पड़े। जैनो ने सम्यक् का अर्थ 'दृढता के साथ श्रद्धा' किया है। इनके तत्त्वज्ञान के कारण मेदिनी कोषकार को कहना पड़ा कि दृढ-श्रद्धा से सम्यक् होता है, सम्यक् शब्द दृढ आत्मविश्वास को लिये है। जब तक स्वयं पर दृढ विश्वास नहीं होगा, तब तक किसी अन्य वस्तु पर, दूसरे पर विश्वास कैसे होगा ? जब स्वयं पर ही विश्वास नहीं तो, दूसरे पर क्या विश्वास होगा ? वादि-वृषभमूर्ति ने कहा है कि—

हृदय च न विश्वास्य राजनि किं परो नरं ।  
किन्तु विश्वस्तवत् हृदयो नटायन्ते हि भू भुजाः ॥

राजनीति में, राजनीतिज्ञ कभी भी दूसरों पर, मंत्री, सेवक आदि पर विश्वास नहीं करते, वे दिखाते हैं कि हम आप पर विश्वास कर रहे हैं। नाटक के पात्र की भाँति वह केवल विश्वास करने का अभिनय करता है और उनके पीछे भी गुप्तचर लगा देता है। वह केवल स्वयं पर विश्वास करता है। जब तक वह स्वयं पर विश्वास करके राज्य करता है, शासन चलाता है, तभी तक शासन चलता है। जब वह दूसरों पर, मंत्री आदि पर विश्वास कर लेता है, तब उसका राज्य, शासन समाप्त हो जाता है। विचार कीजिये जब राजनीति में सर्वप्रथम दृढ़ स्व-विश्वास की आवश्यकता है तो आध्यात्मिक जगत् में दृढ़ स्व-विश्वास की कितनी आवश्यकता होगी। जब बाह्य शासन के लिये स्व-विश्वास की आवश्यकता है, तब आत्मानुशासन के लिये, आत्मा के शासन के लिए दृढ़-विश्वास का आवश्यकता कैसे न होगी।

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि जिसकी स्व-आत्मा की ओर रुचि जितनी बढ़ती जाती है, उतना ही वह सम्यक्दर्शन की ओर बढ़ता जाता है और जितनी पर की ओर रुचि बढ़ती जाती है वह उतना ही मिथ्यात्वी होता जाता है। आचार्य ने किसी विशिष्ट भगवान, किसी विशिष्ट देवता की पूजा के लिये नहीं कहा, किसी विशिष्ट जाति या सम्प्रदाय के लिए नहीं कहा है, उन्होंने 'आत्मा' के लिये कहा है, उन्होंने स्व-आत्मा का दृढ़ विश्वास करने के लिये कहा है। जो 'स्व' को न मानकर दुनिया को माने तो उसको क्या प्राप्त होगा? जिसको स्व-आत्मा पर विश्वास होगा, वह अन्य पदार्थों पर भी विश्वास कर सकेगा, उन्हें जान सकेगा। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि—स्व व पर दोनों को जानो। पर को इसलिये कि वह अशाश्वत है। समस्त महल, मकान चैभव अशाश्वत हैं, शाश्वत केवल आत्मा है, स्व से भिन्न पदार्थ को जाने बिना स्व-का ज्ञान नहीं होगा।

आचार्यों ने किसी भी वस्तु को जानने के लिये शब्द, उसके अनुरूप अर्थ व ज्ञान, ये तीन मंत्र दिये। यदि शब्द के अनुरूप अर्थ नहीं होगा तो वे शब्द व्यावहारिक हो जायेंगे। जैसे बहुत से व्यक्ति 'कमल' नाम रख देने हैं, 'कमल' नाम रख देने से कोई उसे सूँघता नहीं है। किसी महिला का 'सोना-चाँदी' नाम होने से कोई उसके गहने नहीं बनाता। इस प्रकार व्यावहारिक नाम निर्देश में गुणों की आवश्यकता नहीं है। जिसमें गुण धर्म है वह सम्यक् है।

एक विद्यार्थी है। वह 'घट' शब्द जानता है किन्तु वह इसका अर्थ नहीं जानता। जब उसे घट का उद्देश्य समझाते हैं तो उसे उसका अर्थ ज्ञात होता है कि जल धारण करने वाला घट होता है और जब वह उसे देखता है, उसका आकार उसकी आत्मा में प्रतिबिम्बित हो जाता है तब उसे 'घट' का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार शब्दघट, अर्थघट व ज्ञानघट के रूप में श्लोक-वार्तिक में बहुत सुन्दर शब्दों में समझाया गया है।

सिर्फ शब्द जान लें किन्तु उसका अर्थ न जाने तो वह शब्द लाभदायक नहीं है और यदि अर्थ भी जान लें किन्तु उसका ज्ञानाकार न हो तो वह स्थाई नहीं हो सकता। शब्द, अर्थ व ज्ञान तीनों रूपों को जानना आवश्यक है, इसलिए अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार के भी शब्द समयसार, अर्थ समयसार व ज्ञानसमयसार ये तीनों नाम रख दिये।

एक शब्द है 'दूध'। केवल दूध कह देने मात्र से वक्ता का उद्देश्य ज्ञात नहीं होता। दूध, गाय का भी होता है, भैंस का भी होता है और आकड़े का भी। दूध शब्द के साथ 'किसका दूध', यह अर्थ भी ज्ञात होना चाहिये, तभी उद्देश्य प्राप्ति हो सकेगी। शब्द के साथ अर्थ निश्चित होना चाहिये, निश्चित अर्थ के अभाव में संशय, विपर्यय आदि होंगे जब कि संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित ज्ञान ही ज्ञान है। इन तीनों से स्थिति अनिर्णीत होती है और वह मिथ्याज्ञान कराती है।

प्रकृति का अपना स्वभाव है, वस्तुओं का अपना स्वभाव है। स्वभाव कभी नाट नहीं हो सकता। अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है, जल का स्वभाव अधोगमन है तथा वायु का तिर्यकगमन है, ये कभी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव अनादि से चैतन्य है, पर जैसे सोने की खान में किट्ट-कालिमा युक्त सोना निकलता है वैसे ही आत्मा भी अनादि से कर्म संयुक्त है। इसके लिये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गाम्मटमार कर्मकांड में लिखा है—

पयडो सोल सहावो जीवंगारण अणाइसवधो ।

कणयोवले मल वा ताणत्थित सय सिद्ध ॥

अर्थात्—जीव और कर्म दोनों का प्रवाहरूप से अनादि सम्बन्ध है। जैसे सान से निकलने हुये न्वरण में किट्ट-कालिमा आदि मल का सम्बन्ध है।

दूध व पानी की भाँति आत्मा के साथ ज्ञानावर्णीय आदि मिल रहे हैं। सोने के गहने बनाने के लिये उसकी कीट-कालिमा को हटाना होता है, इसके लिये सोने को सोलह ताप देने होते हैं। खान से निकले हुये अशुद्ध सोने के गहने नहीं बन सकते। द्रव्य दृष्टि से खान से निकले हुये स्वर्ण-शिला में शुद्ध स्वर्ण विद्यमान है पर उसके साथ कालिमा है। उस कालिमा को हटाने पर शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार द्रव्य दृष्टि से आत्मा भगवान है पर पर्याय दृष्टि से वह मलीन है, कर्म युक्त है। उस अनादि मलीन आत्मा को जन्म-मरण रहित करने के लिये, उसके साथ बंधे हुये कर्मों को विधिवत् अन्तरंग व बहिरंग तप के द्वारा दूर करने होंगे।

भेद ज्ञान के लिये अन्तरंग व बहिरंग दोनों का महत्त्व है। जैसे एक ही तरफ से रोटी सेंकने पर वह दूसरी ओर से कच्ची रह जाती है। दोनों तरफ से सेंकने पर वह फून जाती है। और तब वह यह बताती है कि नीचे वाला हिस्सा व ऊपर वाला हिस्सा दोनों पृथक् पृथक् है, वह भेद ज्ञान बताती है। जो अन्तरंग व बहिरंग दोनों ओर से तपता है उसे आत्मा व अनात्मा का भेद ज्ञान होने लगता है, अनुभव होने लगता है। जब नारियल का पानी सूख जाता है तब वह बजने लगता है, वह बताता है कि मैं पृथक् हूँ, यह ऊपरी भाग मुझसे पृथक् है। इसी प्रकार आत्मा से बंधे हुये कर्म सुख जायेंगे तब भेद ज्ञान होगा। इसलिये अन्तरंग व बहिरंग, तप के इन दोनों रूपों की परमावश्यकता है।

विजली के तार के ऊपर आवरण लगा होता है, जब उसमें से विजली लेनी होती है तो उसके आवरण को (भले थोड़ा सा ही पर) हटाना होता है, इसी प्रकार अन्तरंग तप के साथ बहिरंग तप भी होना चाहिये। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष पाहुड में इस बात पर जोर दिया है कि अन्तरंग के साथ बहिरंग परिग्रह को भी छोड़ना चाहिये। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जिसने बहिरंग परिग्रह छोड़ दिया है उसका अन्तरंग परिग्रह छूट गया है। यदि ऐसा होता तो फिर कबूतर, सर्प, शेर, गिलहरी सब पशु-पक्षी निष्परिग्रही हो जाते, क्योंकि बाह्य में उनके पास कोई परिग्रह नहीं है। जन्मते समय सब बाह्य-परिग्रह रहित होते हैं तो क्या वे निष्परिग्रही हैं? नहीं। आचार्य ने कहा है कि चित्त में जब तक ससार के प्रति राग है, अन्तरंग में महल मकान वैभव के प्रति राग है, आसक्ति है, वह निष्परिग्रही नहीं हो सकता।

वहिरग से निष्परिग्रही पशु-पक्षियों के अन्तरग में परिग्रह है, वे परिग्रह सज्ञायुक्त हैं। वृक्ष भी परिग्रह सज्ञायुक्त हैं, वे भी अपनी जड़ों से पानी सोख लेते हैं, कई दिनों तक उस मोखे हुये पानी से ही जीवित रहते हैं। चीटी में भी परिग्रहसज्ञा को स्पष्ट देखा जा सकता है, वह भी अपने लिये भोजन एकत्रित करके रख लेती है। इसलिये कहा है कि ससार तो चित्त में बस रहा है। यदि ससार चित्त में नहीं है तो वहिरग में कितना ही वैभव हो, उनसे कुछ अनिष्ट नहीं होगा। अपरिग्रहवाद का मिद्धान्त इसीलिये बताया गया है। मूलाचार में बताया है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह भी दोषयुक्त है। मज्झिमनिकाय में भी कहा है कि—यदि अनावश्यक परिग्रह नहीं रखते, उसका उपभोग नहीं करते तो अनेक पापों व कष्टों से बच सकते हो। त्याग के लिये अन्तरगवृत्ति को भी अत्यन्त महत्व दिया है तथा वहिरग को भी। जब परिग्रह होगा तो राग भी होगा और राग होगा तो परिग्रह होगा, इसलिये दोनों को हटाना आवश्यक है। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है—

जह एणम को वि पुरिसो परदव्वनिण ति जाणिदुं मुयदि ।  
तह सव्वे परभावे णाद्वण विमुञ्चदे णाणी ।

जैसे लोक में कोई पुरुष, यह परद्रव्य है ऐसा जानकर उसे त्याग देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परभावों को, (रागादि को), ये परभाव हैं ऐसा जानकर उन्हें छोड़ देता है।

जिस समय रागादि पर-भावों को छोड़ेंगे उसी समय सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की प्राप्ति हो जायेगी। तभी आत्मा की अनुभूति होगी।

यदि शास्त्र पढ़ना है तो उस पर लगे वेष्टन को हटाना होगा, बिना वेष्टन हटाये शास्त्र नहीं पढ़ सकेंगे। इसलिये वहिरग परिग्रह-त्याग की भी आवश्यकता है। बादाम का छिलका हटाये बिना उसके अन्तर निहित फल का स्वाद कैसे प्राप्त होगा? इसी प्रकार वहिरग त्याग के बिना अन्तरग की रुचि कैसे होगी? अन्तरग शान्ति कैसे प्राप्त होगी? अन्तरग व वहिरग दोनों का अविनाभावो सम्बन्ध है। अन्तरग में छूट गया तो वहिरग में भी छोड़ना होगा।

बाह्य परिग्रह न भी हो तो भी अन्तरग में उसके प्रति राग होता है। जैसे कार न हो, कोई और वस्तु न भी हो तो भी मोचते हैं, मेरे पाम कार

होनी चाहिये, यह वस्तु होनी चाहिये । उसके लिये आर्त्त-रौद्र ध्यान करते रहते हैं । उन बाह्य वस्तुओं में, वैभव में कहीं भी शांति नहीं मिलती, तृष्णा बढ़ती रहती है । बहिरंग पदार्थों में सुख-शांति शाश्वत नहीं है, इन्द्रियजन्य है, क्षणिक है । भ्रमण सस्कृति के अमर गायक अमितगति आचार्य ने बहुत मौलिक चिन्तन के साथ कहा है कि—

यस्यास्ति नैक्य वपुषापि, साद्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्र मित्रं ।  
पृथक्कृते चर्यणि रोमकूपाः, कुतोहि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।२७।

जिस शरीर को तुम साथ लाये हो वह भी तुम्हारे साथ नहीं जाता, उसे भी तुम यही पर छोड़ जाते हो, जिस शरीर की नाना सेवा-श्रृंगार करते हो, वह यही छूट जाता है, वह भी आपका नहीं है तो पुत्र, मित्र, स्त्री, भाई, जमीन, जायदाद आदि आपके कैसे हो सकते हैं ? वैभव, महल-मकान के साथ इतनी रागात्मक आसक्ति हो रही है कि यह जमीन मेरी है, यह मकान मेरा है । इससे स्पष्ट होता है कि राग विद्यमान है, तब तक हम धर्मात्मा नहीं बन सकते । धर्मात्मा बनने में अन्तरंग व बहिरंग दोनों तप-त्याग आवश्यक है ।

व्यवहार में एक पदार्थ का दूसरे पर प्रभाव तो पड़ता है । प्रभाव में द्रव्यत्व पर कोई आच नहीं आती, आत्मा अनात्मा नहीं हो जाता और न ही अनात्मा, आत्मा हो जाता है पर व्यवहार में एक पदार्थ का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है । यदि प्रभाव नहीं पड़ता तो आप सर्दों में कोट क्यों पहनते हैं, गर्मियों में क्यों उतार देते हैं ? यदि प्रभाव नहीं पड़ता तो आत्मा निरन्तर भ्रमण न करती, मुक्त हो जाती । समयसार में कहा है—

जीव परिणामहेतुं कम्मत्त पोग्गला परिणमति ।  
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ।८०।

अर्थात्—जीव के रागादि परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप से परिणमित होते हैं । इसी प्रकार जीव भी (मोहनीय आदि) पुद्गलकर्म निमित्त से (रागदिभाव रूप से) परिणमन करता है ।

मल्लाह नाव को ले जा रहा है और मल्लाह को नाव ले जा रही है ।

यः कलियुग है, कलहयुग है । इसमें आत्मा को कलह से बचाने के लिये चौबीस घण्टों में आधा घंटा आत्मचिन्तन, परमात्मचिन्तन अवश्य



कर्मों का चिन्तन । परमात्मा का चिन्तन माधन है । वृहद् द्रव्यमंग्रह में टीकाकार न दिना है कि तद्भव-मोक्षगामी तीर्थकर भी पञ्चमुष्टि केवलोच्च करते समय 'मिदं भगवान्' का स्मरण करने हैं, गुणो मिद्वारा कहते हैं, क्योंकि वे ही आदर्श हैं नश्य है । इसलिये 'ओम् नम' का ध्यान कीजिये यह परमात्मा का प्रतीक है ।

ऊँकार विन्दुसयुक्त, नित्य ध्यायन्ति योगिनः ।

कामद मोक्षद चैव, उकारायनमो नमः ॥

योगी तो इसका ध्यान करते हैं । पर गृहस्थों के लिए कहा कि वर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्धि ऊँकार का ध्यान करने से होगी । ऊँकार, निराकार, निरजन आत्मा के प्रतीक रूप में स्वीकार है । उ के द्वारा ध्यान कर स्व में खो जाने का प्रयोग करना चाहिये । उँ, पञ्च-परमेष्ठी वाचक है, मिद्वो का प्रतीक है । इसका एक क्षण का ध्यान भी जजालों में मुक्ति कराने में सहायक है । मुँडे को पिरोने के लिये दृष्टि एकाग्र होने में अन्य ध्यान उस क्षण के लिये रुक जाते हैं । आत्मा के गुणों का चिन्तन समस्त जजालों में मुक्त करता है, जब तक मिद्वि न हो तब तक चिन्तन कीजिये । कुछ क्षणों में ही फल प्राप्ति नहीं होगी ।

महावीर ने बारह वर्ष पन्द्रह दिन तक, पाण्डेनाथ ने छह महिने तक, बाह्वलि ने एक वर्ष तक, भरत ने मैतालीस मिनट तक तपस्या की, तो इतने समय तक वे क्या करते रहे, जबकि वे अरहत-तीर्थकर थे? शुक्लध्यान मैतालीस मिनट का होता है, उन्होंने इतना समय कैसे लगाया ? वे कभी द्रव्य का चिन्तन करने थे, कभी पर्याय का; फिर पर्याय में द्रव्यचिन्तन पर आ जाते थे । नाथनाथन्या में नाथ्यावन्त्या तक ऐसी ही अवस्था रहती है ।

व्यापार—व्यवसाय में अत्यन्त परिश्रम करते हैं, अनेक क्रियाये करते हैं तब लाभ होता है, पर आध्यात्म में तुरन्त लाभ चाहते हैं । मन चंचल है यह शीघ्र पक्का नहीं होता । मन पर अकुश लगाने के लिये पतंग उड़ाने की विद्या सीखिये । पतंगवाज जब हवा अच्छी होती है तो पतंग को ढाल छोड़ देता है कि तब ही पतंग उड़ा जाती है, जब हवा कमजोर हो, पतंग नीचे आने लगे तो वह जोर बीच लता है । इसी प्रकार आप भी, जब आपका मन स्वच्छता, निर्मलता की ओर जाता है, मम्मद शिवर-मावापुर जाता है तो उसे जाने दीजिये पर जब वह बुगई की ओर, पाप की ओर जाता है तो उसे तुरन्त उधर में बीच लीजिये, विमुक्त कर लीजिये ।

स्व—शक्ति का अनुभव कीजिये । इसमें तत्काल लाभ नहीं होगा । सौ विद्यार्थी परीक्षा में बैठते हैं पर प्रथम श्रेणी में कुछ ही उत्तीर्ण होते हैं । पर शेष विद्यार्थियों ने भी कुछ तो सीखा । मंदिर जाने वाले सब एक साथ मुक्त हो जावे यह संभव नहीं पर पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये । धर्म - ध्यान, परमात्मा का चिन्तन कीजिये, इन्हीं से परिणामों की शुद्धि होगी । वीतराग भाव से ही मार्ग प्रशस्त होगा । अन्तरंग व बहिरंग त्याग में शुद्धि होगी इसमें संशय नहीं है ।

जैसे जकशन से रेल आती है-जाती है, वैसे ही हमारा मन व आत्मा भी जकशन है । सब अच्छे व बुरे विचार यही से चलते हैं, बहिरंग से नहीं । शरीर तो साधन है, अनित्य हैं, क्षणिक हैं, नाशवान् है । शरीर की मालिश, पालिश में ही समय दे रहे हैं । पर चर्म धोने से कर्म नहीं धुलते । महाभारत में कहा है कि —

आत्मा नदी सयमतोयपूर्ण, सत्यावहा शीलतटा दयोपि ।  
तत्रावगाह कुरु पाण्डुपुत्र, न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

इसी प्रकार सिद्धिविनिश्चय में अकलक देव ने कहा है कि—

सम्यग्ज्ञान जलेर्वचोभिर्त्रानुकम्पापदै

सम्यग्ज्ञान रूपी जल से आप अपनी अतरात्मा को धो सकते हैं, पवित्र कर सकते हैं । डमलिये अपने ज्ञान को सम्यक् बनाइये वह सम्यक् तभी होगा जब दर्शन मोहनीय कर्म से, ज्ञानावरणी कर्म से निवृत्त होंगे । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक् मिथ्यात्व, आदि से छूट जायेंगे, तभी दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य निर्मल हो जायेगे और तभी सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गी बन सकेंगे ।



# कर्तव्य पालन ही धर्म है

मसार की प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है, धर्म है। धर्म प्राणी मात्र के लिये है। अन्तरंग में अहिंसा का पालन करते हुये, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में ईमानदारी व कर्तव्यपालन ही प्रमुख धर्म है। आपका छोटासा कर्तव्य भी राष्ट्र-निर्माण में सहयोगी है। एक बीज अपने समर्पण से हजारों बीज उत्पन्न करता है। सेवाभाव व कार्य से ही राष्ट्र महान् बन सकता है।

आज मानव के मस्तिष्क में प्रश्न है कि धर्म क्या चीज है? कार्ल-मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली बताया, किसी ने इसे पाखण्ड माना, अनेक लोगो ने अपने-अपने विचारानुसार धर्म की अनेक व्याख्याएँ की हैं।

धर्म अत्यन्त व्यापक शब्द है। इसको हम किसी सीमित दायरे में नहीं रख सकते। धर्म का व्यावहारिक अर्थ है कर्तव्य पालन। इस पर महान् ऋषि, मुनियो, तपस्वियो, विद्वानों, चिन्तकों व आत्मानुभवियों ने अपने चिन्तन के आधार पर जो उपलब्ध हुआ, उसे ग्रंथों में लिखा। सर्वज्ञ ने इसे आत्मधर्म कहा, किसी ने इसे राष्ट्रधर्म कहा, किसी ने पारिवारिक धर्म कहा, किसी ने गृहस्थ धर्म, किसी ने साधु धर्म कहा। धर्म शब्द व्यावहारिक जीवन की प्रत्येक स्थिति व वस्तु के साथ संबंधित है। जीवन के विभिन्न अंगों व कार्यों के साथ धर्म का घनिष्ठ संबंध है तो चिन्तन की धारा में प्राप्त सार रूप में कहा गया कि 'वस्तुस्वभावो धर्मो' अर्थात् वस्तु का निज स्वभाव ही धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, यह कभी अपने स्वभाव में विमुख नहीं होती, अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती, जल का स्वभाव शीतलता (व प्यास बुझाना है) है, यह भी कभी अपनी शीतलता को

नहीं छोड़ता। इस प्रकार ससार को प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है, धर्म है।

धर्म की, कोषकारों ने, विद्वानों ने व्यावहारिक परिभाषा निश्चित की है—कर्तव्य पालन करना। कर्तव्य भी सीमित नहीं है। कोई कहता है कि परिवार के प्रति कर्तव्य पालना आपका धर्म है, कोई समाज के प्रति कर्तव्य पालन को धर्म मानते हैं, कोई घर के प्रति कर्तव्य पालन को, तो कोई अपने बच्चों के प्रति कर्तव्य पालन को, और कोई राष्ट्र के प्रति कर्तव्य पालन को धर्म मानते हैं। धर्म की अनेक व्याख्याओं के जजालों से बचने के लिये हमने उसे मुख्यतः दो रूपों में स्वीकार किया, एक आत्मधर्म व दूसरा व्यावहारिक धर्म।

मनु-स्मृति में कहा है कि मनुष्य में क्रोध, मान भावा, लोभ, दुरभिमान आदि विकार उत्पन्न होते रहते हैं, इनसे बचने के लिये आत्मधर्म पालन करना चाहिये।

समस्त शारीरिक व मानसिक रोगों व विकारों की जड़ आत्मा के ये विकार हैं। इन विकारों को जानकर, इनसे बचने के लिये, आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञानियों ने अन्तरंग व बहिरंग त्याग को, शांति का साधन बताया।

मनुष्य को कुछ सोचने को बाध्य करता है तो वह है उसका 'कर्तव्य'। क्या कभी इस बात पर विचार किया कि घर से बाहर निकलते ही आपके ऊपर कितनी जिम्मेदारियाँ व कर्तव्य आ जाते हैं? घर में परिवार के प्रति कर्तव्य के बारे में आप सोचते हैं। घर से बाहर, सड़क पर आते ही आपको अन्य कुछ नियम—प्रति नियमों का पालन करना होता है। सड़क पर चलने के लिये, सड़क पर चलने के नियमों का पालन करना नागरिकों का कर्तव्य है। आप भीड़ में से गुजरते हैं, किसी को आप के पैर से हल्की सी भी चोट पहुँचती है तो आप इसके लिये क्षमा मांगते हैं। गलती हो तो उससे क्षमा मागना भी आपका कर्तव्य है।

यदि समूह में जीना है तो कुछ नियन्त्रण में रहना होगा, यह नियन्त्रण धर्म ही सिखाता है। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्तव्य हैं। ड्राईवर है, चौराहों पर लालबत्ती होते ही उसका कर्तव्य है तुरन्त गाड़ी को रोकना। लालबत्ती होते ही यदि ब्रेक न लगाये, गाड़ी न रोकी तो दुर्घटना हो जायेगी, आपके भी चोट आयेगी और गाड़ी का भी नुकसान होगा। दोनों को बचाने के लिये ब्रेक लगाना है, स्वयं को ही बचाने के लिये नहीं।

व्यावहारिक जीवन में धर्म की अत्यन्त व्याख्याएँ हैं और वे सारी व्याख्याएँ अंत में कर्तव्य पालन पर जाकर टिकती हैं। आपका छोटा सा कर्तव्य भी राष्ट्र के निर्माण के लिये सहयोगी है। आपका प्रत्येक कर्तव्य राष्ट्र के प्रति समर्पित होना चाहिये, यदि आपका कर्तव्य सीमित होगा, राष्ट्र के प्रति समर्पित नहीं होगा तो जैसे समुद्र की एक बूंद समुद्र से अलग हो कर निकल जाती है तो सूर्य उसे सुखा देता है और यदि वह समुद्र में ही मिल जुलकर रहती है तो एक बूँद दो सूर्य भी उसे सुखाने में सक्षम नहीं है। वैसे ही आप भी उस बूँद की भाँति अस्तित्व गूँथ हो जायेंगे। आपका सर्व प्रथम व्यावहारिक कर्तव्य है, राष्ट्र व देश को महान बनाने हेतु राष्ट्र के प्रति कर्तव्य पालन करना, इसे राष्ट्रधर्म की सज़ा दे सकते हैं।

इस देश की आजादी के पूर्व, अनेक महा-पुरुष हुये, जिन्होंने जिन्दगियाँ ही जेलों में काटी, फाँसी पर चढ़ गये, मर गये। उन्होंने क्या सोचकर इतना कष्ट सहन किया? उन्होंने यही सोचकर इतना कष्ट सहन किया कि हमारी भावी पीढ़ी सुखी रहे, आजाद रहे। उन्होंने अपने जीवन में कोई सुख नहीं पाया। उनके द्वारा प्रदान की गई आजादी का फल हम चख रहे हैं, यह फल कभी खट्टा भी हो सकता है तो कभी मीठा भी। यह खट्टा-मीठा फल हमारे लिये हितकारी ही है। हमारे पूर्वज इस देश को हमारे कंधों पर छोड़ कर गये हैं, उन्होंने संविधान बनाकर, जनतन्त्र शासन प्रणाली प्रारम्भ कर, राष्ट्र का उत्तरदायित्व राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के ऊपर डाला। किसी व्यक्ति विशेष पर इस देश की राष्ट्र की जिम्मेदारी नहीं है, प्रत्येक देशवासी पर है।

मानव-जीवन व धर्म सदैव में अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है। समस्याएँ कभी पूर्णतः न दूर हुईं न हो सकती हैं। इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, भिन्न रहन सहन है खान-पान है। आप राजस्थान के हैं इसलिए राजस्थान व इसकी समस्याओं के बारे में विचार करते हैं, पर दिल्ली में सदन में बैठे व्यक्ति पूरे राष्ट्र के बारे में विचार करते हैं। हमारे देश में कभी बाढ़, कभी अकाल तो कभी पड़ोसियों से युद्ध होते रहते हैं। देश थोड़ी सी उन्नति करता है तो अकाल पीछे ढकेल देता है फिर भी हम डटे हुये हैं। हमारे हिंसा का मार्ग अपनाने वाले पड़ोसी देशों में नेताओं की हत्याएँ होती हैं, सत्ता-परिवर्तन के लिये हिंसक कार्यवाहियाँ होती हैं। पर हमारे देश में अहिंसक नीति होने से सदैव सत्ता-परिवर्तन के लिये भी अहिंसक नीतियाँ व मार्ग अपनाया गया है।

आप अहिंसात्मक रूप से ही शांतिपूर्ण जीवन जी सकते हैं, हिंसा से नहीं। बहुत लोगो की जिज्ञासा व शंका है कि अहिंसा है क्या ? इसका जीवन में क्या उपयोग है ? मानव जीवन आधारित ही अहिंसा पर है। ससार की प्रत्येक वस्तु-व्यवहार अहिंसा का सदेश देती है। सड़क की लालवर्ती अहिंसा का सदेश देती है कि आपके ऊपर वाहन आ जायेगा और आप मर जायेंगे। डॉक्टर की चीर-फाड़, अहिंसा की भावना से होती है, मरीज को बचाने की भावना से होती है। सरकार ने सिपाहियों की नियुक्ति हिंसा से बचाने के लिये की है। जहाँ तक दृष्टि दौड़ाते हैं सब व्यक्ति, वस्तुएँ, सिद्धान्त अहिंसा के लिए ही पाते हैं। विश्व अभी सुरक्षित रह सकता है जब प्रत्येक राष्ट्र व उसके नागरिक अहिंसा को समझे और इसका पालन करे। हम यहाँ पर शांति से बैठे हैं—तो अहिंसा के कारण, हिंसात्मक वातावरण में हम यहाँ इस प्रकार शांति से नहीं बैठ सकते थे।

आप लोगो के ऊपर बहुत उत्तरदायित्व हैं। आपके परिवार में से एक व्यक्ति बीमार हो जाता है तो आप चिन्तित हो जाते हैं, उस समय आफिस में आपका मन नहीं लगता, तो कभी आपने देश के कर्णधारो की चिन्ता के बारे में विचार किया ? उनके सामने कितनी समस्याएँ रहती हैं, वह आकाश से आया हुआ कोई अलौकिक व्यक्ति नहीं है, हमारे बीच का कोई व्यक्ति ही तो मन्त्री, प्रधानमन्त्री बनता है। एक घर, परिवार की व्यवस्था में परेशानियाँ होती हैं तो देश की समस्याओं, परेशानियों की कल्पना कीजिये, उसको सुलभाने, व्यवस्थित करने वाले की चिन्ताओं के बारे में विचार कीजिये।

राष्ट्र धीरे धीरे परिपक्वता की ओर बढ़ रहा है। राजनतिक परिपक्वता के बिना कोई भी राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता।

हमारे देश में पशु पक्षी भी स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, अनेक जाति के पशु पक्षी रहते हैं तो क्या विभिन्न जाति व धर्म के मनुष्य नहीं रह सकते ? मानव—मानव है, सब समान हैं। आज एक देश के निवासी दूसरे देशों में जाकर रह रहे हैं, वहाँ के नागरिक बन रहे हैं। देश देशान्तरो के लोग वहाँ समान रूप से एक साथ रहते हैं, वहाँ जाति-पाति भूल कर मानव धर्म एक हो जाता है। भारतीय चिन्तन केवल भारत की सीमा तक सीमित नहीं, जहाँ तक प्राणी है, मानव है, वहाँ तक के लिये है।

भारत में सम्राट चन्द्रगुप्त का समय था जब मकानों पर ताले नहीं लगते थे, पर आज की स्थिति है कि पारिवारिक जन भी अपना अपना अलग ताला

लगाते हैं क्योंकि आपस में विश्वास नहीं है। वेल्जियम में हमारे भट्टारकजी गये तो उन्होंने देखा कि वहाँ दुकानों पर कोई दुकानदार या विक्रेता नहीं बैठता, दुकान में मारी वस्तुएँ रखी रहती हैं, स्वयं अपनी आवश्यकता की वस्तु उठाते हैं और उसका मूल्य रख देते हैं। हमारे देश में भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं। महारनपुर में एक स्कूल में यह प्रयोग किया जा रहा है। स्कूल में पुस्तकें, उत्तरपुस्तिकाएँ, पैन, पेंसिल आदि वस्तुओं की एक छोटीसी दुकान लगा रखी है, विद्यार्थी अपनी आवश्यकतानुसार वस्तु ले लेते हैं और उसका मूल्य वहाँ रख देते हैं। एक सप्ताह में एक बार उसकी सचालिका उसको सभालती है। प्रयोग में उन्होंने पाया कि एक महिने में जितने मूल्य की वस्तुएँ खरीदी गई हैं उतना मूल्य, उतने रुपये-पैसे वहाँ रखे हैं।

आप इस साल वर्ष में अपने बच्चों को ईमानदारी की शिक्षा दीजिये उन्हें समझाड़िये कि किसी की चीज को बिना पूछे मत उठाना, यह चोरी होती है, यह दोषपूर्ण है, पतन का कारण है। कोई बच्चा किसी के घर से चाकू उठा लाये और उसकी माँ कहे-शाबाश बेटा। तो सोच लीजिये कि पच्चीस वर्ष के बाद उस बालक की परिणति क्या होगी ?

आज महिलाएँ व राष्ट्र की सेवा में सलन्न कर्मचारीगण सक्रिय कीजिये कि—हम अपने बच्चों की नीति की कर्तव्य पालन की शिक्षा देंगे, उन्हें समझावेंगे कि प्राण चले जायें पर चोरी मत करना, अनीति पर मत बढ़ना।

ईरान में एक व्यक्ति अपनी एक पेट्टी हवाई अड्डे पर भूल गया, दूसरे दिन वह वहाँ पहुँचा तो उसे अपनी पेट्टी सुरक्षित मिल गई। हमारा जनतन्त्र तभी सफल होगा जब हममें ईमानदारी व कर्तव्य-पालन की भावना भरी हो।

मैं इन्दौर में था। प्रवचन में आई एक महिला के एक हाथ का कीमती आभूषण रास्ते में गिर गया। एक जमादारनी को वह मिल गया। उसने सोचा यह जिसका होगा, उसे कितना दुःख हो रहा होगा इसके खोजने का ? उसने वह आभूषण वहाँ की एक प्रतिष्ठित महिला को सौंप दिया। उस महिला ने उस जमादारनी को ईनाम के रूप में कुछ रुपये देने चाहे तो उस जमादारनी ने कहा कि मैं अपने ईमान को बेचने को तैयार नहीं हूँ। वह सब जानकर मेरा हृदय गद्गद हो गया। उस निर्धन जमादारनी के हृदय में है, धर्म।



इस देश में ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं जिनके पास रहने को भोपड़ो भी नहीं है, वे सड़को पर अपना जीवन बिताते हैं। बम्बई में मैंने देखा कि बहुत से लोग (नगरपालिका के) चौड़े पाईपो में एक ओर चटाई डाल कर रहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि जब नगर पालिका वह पाईप उठा ले जायेगी तब आप कहा रहेंगे? उन्होंने कहा - फिर दूसरे स्थान मुहल्ले में जहाँ पाईप होगा वहाँ जाकर रह लेंगे। कैसा जीवन है? आपने कभी इनके बारे में, ऐसे लोगों के जीवन के बारे में चिन्तन किया है?

हमारा जनतन्त्र सरकार पर निर्भर नहीं है, केवल सरकार पर उसकी जिम्मेदारी नहीं है, जनतन्त्र प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है, प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी जिम्मेदारी है। प्रत्येक नागरिक अपने कर्तव्यो व उत्तरदायित्वो को समझे तथा उनका पालन करे तभी जनतन्त्र सफल होगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक अच्छाईयाँ भी आई तो अनेक बुराईयाँ भी आई। ब्रिटिश राज्य में किसी भी व्यक्ति की समस्या पर विचार नहीं किया जाता था, आज कर्मचारी की बात पर समस्या पर भी विचार किया जाता है, सुना जाता है। जनतन्त्र में छोटे-बड़े सबकी लाभ-हानि पर विचार किया जाता है।

पटना में एक विश्वविद्यालय के कुलपति ने एक छात्र को परीक्षा में सम्मिलित होने से गेक दिया। सोमवार से परीक्षायें प्रारम्भ होनेवाली थी, छात्र के पास शनिवार को इसका सूचना-पत्र पहुँचा। वह तुरन्त न्यायाधीश के पास पहुँचा, सब तथ्यों व स्थिति से अवगत कराया। न्यायाधीश ने अवकाश का दिन होने से अपने घर पर ही बैच बिठाकर विचार-विमर्श किया। उन्होंने कुलपति से कहा—निर्णय बाद में होता रहेगा, अभी इस बालक को परीक्षा में सम्मिलित होने दीजिये। इस बालक का एक वर्ष का नुकसान, देश का एक वर्ष का नुकसान, करना है। कहने का तात्पर्य है जनतन्त्र में सबके लिये न्याय उपलब्ध है।

आप लोगों को अपने दुखी, रोगी देशवासियों के दुख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये, अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। सेवा-भाव व कार्य से ही राष्ट्र महान् बन सकता है। आज परिश्रम करने से, कर्तव्यपालन से भविष्य में होने वाले नागरिक भी आदर्श बनेंगे व देश का नाम ऊँचा करेंगे। एक बीज अपने समर्पण से हजारों बीज उत्पन्न करता है। आप स्वयं परिश्रम

व कर्तव्यपालन करते हुये अपने वच्चों को भी इनका पाठ पढायेंगे तो भविष्य में भी विश्व इस देश का, देश के नागरिकों का नाम गौरव के साथ, आदर्श के रूप में लेगा। व्यक्तिगत रूप से भगवान का स्मरण भी अवश्य कीजिये पर राष्ट्र के प्रति कर्तव्यनिष्ठ बनना न भूलिये।

ऑफिस में कार्य करने वाले अपने अधिकारों की बात करते हैं, उनके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। जब आप लोग अपने काम के बदले पूरा पैसा लेते हैं, पैसे न मिलने पर अथवा समय पर न मिलने पर आन्दोलन कर देते हैं तो क्या कभी आपने ऑफिस में आधा घंटा देर से आने पर उस समय का पैसा लेने से इन्कार किया है? जब तक आप में ऐसी भावना नहीं आयेगी, राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकेगा। समय पर कार्यालय पहुँचना आपका धर्म है।

हमारे भारत में एक रानाड़े न्यायाधीश हुये हैं। वे पैदल ही अपने कार्यालय पहुँचते थे। जब वे कार्यालय के लिये सड़क पर जा रहे होते थे तो लोग अपनी घड़ियाँ मिला लेते थे, ऐसी थी उनकी समय की पावन्दी।

कर्तव्यपालन के नाते जब आप आधा घंटा देर से ऑफिस जाते हैं तो या तो अधिक काम करके उस क्षति को पूर्ण कीजिये अन्यथा उस आधा घण्टे का पैसा मत लीजिये, तभी आप भी महान् नागरिक बनेंगे, और देश भी महान् बनेगा। अन्यथा अपने कर्तव्य से च्युत होने से आपको यहाँ के कानून व अधिकार का लाभ उठाने का अधिकार नहीं है। आपके लिये कानून व अधिकार भी तभी है जब आप कर्तव्य पालन करते हैं।

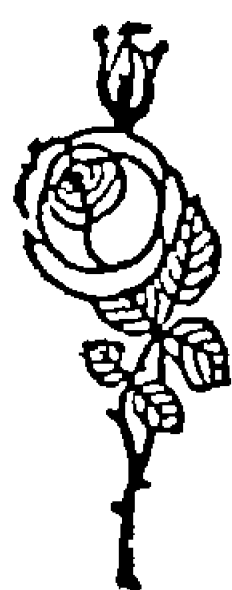
भारत एक विशाल देश है, विभिन्न राज्य इसके अंगोपांग हैं। यदि किसी तथ्य या स्थिति को लेकर विवाद हो तो शान्ति के साथ बैठकर उसका हल कीजिये।

आपके घर में, आपका छोटा वच्चा एक काच का गिलास भी तोड़ देता है तो आप उसे ऐसा न करने के लिए समझाते हैं और कहते हैं कि पुनः ऐसा किया तो दण्ड मिलेगा। सोचिये जब आप लोग कषायवश राष्ट्र की सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हैं, भवनो को तोड़ते हैं तो कितनी अज्ञानता है? यह सब सम्पत्ति किसकी है? किसकी हानि होती है? सम्पत्ति राष्ट्र की है, राष्ट्र आपका है, अतः हानि आपकी ही है।

आज राष्ट्र में अनेक आन्दोलन हो रहे हैं । हमे राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को समझकर शांति का मार्ग अपनाकर समस्याओं का निराकरण करना चाहिये । इनके लिये कुमार्ग न अपना कर सन्मार्ग ही अपनाना चाहिये । राष्ट्र को महान् बनाना चाहिए ।

धर्म कोई जातिगत या व्यक्तिगत नहीं है । धर्म प्राणी मात्र के लिये है । कर्तव्य पालन करना प्रमुख धर्म है । जब एक पेड़, एकेन्द्रिय जीव होते हुये, हमे फल, फूल, सुगन्ध आदि निर्लोभ भाव से देता है तो हम मानव, पंचेन्द्रिय, ज्ञानी, शिक्षित हैं, हमारी जिम्मेदारियां किननी हैं ? सोचिये ।

आप अपना कर्तव्यपालन कर अपने राज्य राजस्थान व राष्ट्र को महान् बनाने में योगदान दे आपकी बुद्धि भगवान के प्रति, राष्ट्र के प्रति पवित्र बनी रहे, यही भावना है ।



धर्म जीव की आत्मशक्ति है । इसके अभाव में शिव-शव है, अग्नि-भस्म का ढेर है, राष्ट्र के जनपथ शून्य का विस्तार है । प्राणियों के हृदय में बीजरूप से धर्म ही प्रतिष्ठित है । धर्म संरक्षण से ही व्यक्ति में औदार्य, सौन्दर्य, चारुचरित्र और विश्व-प्रेम की अमृत तरंगिणी कल्लोल लेती है ।

## मृत मरण को अन्त समझो

जो हित करे, अहित का परिहार करे, वह ही ज्ञान है। दीपक वही है जो अधकार का परिहार कर प्रकाश फैलाये। जीने की कला धर्म से आती है। मरण को मागलिक बनाने के लिये जीवन धर्म व ज्ञान की आवश्यकता है। जिस प्रकार जन्म श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही मरण भी श्रेष्ठ है क्योंकि मरण आगामी जीवन का प्रारम्भ है। शुभ-शात अथवा अशुभ-क्लेशमय-अशांत अतः, आगामी शुभ अथवा अशुभ जीवन का प्रारम्भ है, द्योतक है।

समस्त मानव-संस्कृति एक समान है। महापुराण में जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि 'मनुष्यजातिरेकैव' अर्थात् समस्त मनुष्य की जाति एक है, समस्त मानव समान हैं। भेद ऊपरी है, पर मूल में उसकी संस्कृति एक है, धर्म एक है, ऐसा सभी महापुरुषों ने कहा है व लिखा है। अरव के लेखकों ने भी लिखा है कि मानव जाति एक है। महाभारत में लिखा है कि 'न मानु-पात् परमश्रेष्ठः, मनुष्य से श्रेष्ठ कोई प्राणी नहीं है। अर्थात् विश्व के प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के महापुरुषों के चिन्तन और चिन्तन से प्रसूत ग्रंथों को देखते हैं तो मानवधर्म, मानव-संस्कृति व मानवजाति मूलतः एक रूप में दृष्टिगत होते हैं।

मानव संस्कृति व जीवन-पद्धति के दो रूप हैं—प्रथम-व्यक्तिगत आत्म-चिन्तन और द्वितीय सामूहिक रूप में व्यावहारिक जीवन। सभी चिन्तकों व महापुरुषों ने माना है कि व्यावहारिक जीवन के लिये ज्ञान की, धन की व शक्ति की परमावश्यकता है। इनके बिना व्यावहारिक जीवन, गृहस्थ जीवन

सुचारु रूप से चल नहीं सकता । सब इनकी प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न व पुरुषार्थ करते हैं । आज विश्व का प्रत्येक मानव इनके लिये होड़ कर रहा है ।

मानव कुछ भी कार्य करे, चिन्तको ने प्रत्येक कार्य के साथ कुछ शर्तें लगादी हैं । उन्होंने कहा कि विद्या (ज्ञान) शक्ति वन सब कुछ प्राप्त कीजिये पर उनके साथ भी शर्त है—

विद्याविवादाय धनं मदायशक्ति परेषां परपीडनाय ।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

अर्थात्—सत पुरुष की विद्या-ज्ञान विवाद के लिये नहीं होती है, प्रत्युत ज्ञानदान के लिये होती है, उसकी शक्ति दूसरो के संरक्षण के लिये होती है, उसका धनादि द्रव्य मदकारक नहीं होता, प्रत्युत् वह उसे दान में खर्च करता है । ज्ञान, धन व शक्ति ये तीनों उसमें विनम्रता उत्पन्न करते हैं । परन्तु जो दुष्ट पुरुष होते हैं वे अपने ज्ञान के द्वारा दूसरो के साथ विवाद-कलह करते हैं । शक्ति के द्वारा दूसरो को, दुष्टभाव रखकर कष्ट पहुंचाते हैं और धन सम्पत्ति के बल पर वे अभिमान से भरे रहते हैं ।

सत्य है, विद्या-ज्ञान प्राप्त कीजिये, पर वह ज्ञान विवाद उत्पन्न करने वाला न हो । ज्ञान प्राप्त कर उसके माध्यम से झगडा उत्पन्न करने, विवाद उत्पन्न करने पर वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है । विद्या प्राप्ति में समय लगता है किन्तु विवाद उत्पन्न करने में समय नहीं लगता । विवाद, कलह उत्पन्न करने वाला ज्ञान किस काम का है ! इसी प्रकार धन हो और उससे मद उत्पन्न हो, उसका दुरुपयोग हो तो उस धन का क्या मूल्य है ? और शक्ति का, परिश्रम का उपयोग यदि परपीडन के लिये किया जाता है तो उस शक्ति का क्या लाभ ?

केवल धन कमाना, शक्तिशाली होना ही प्रशंसनीय नहीं है । महा-पुरुषों ने चिन्तन व अनुभव प्राप्ति के बाद कहा है कि-यदि धन है और उसका उपयोग धर्म में है तो वह धन उपयोगी है, लाभदायक है, प्रशंसनीय है । यदि आपके पास धन है तो आप उसका उपयोग परोपकार के लिये कीजिये, सद्-कार्यों में कीजिये, दान दीजिये । धन है पर उसका सदुपयोग नहीं किया, दान नहीं दिया तो वह धन या तो जमीन में गड़ा रह जायेगा, या चोरी चला

का प्रारम्भ है। शुभ-शांति अथवा अशुभ-क्षेत्रमय अशान्त अन्त, आगामी शुभ अथवा अशुभ जीवन का प्रारम्भ है, द्योतक है। पूज्यपाद आचार्य ने मृत्यु के साथ महोत्सव शब्द का प्रयोग किया और उसे मृत्यु-महोत्सव की सजा दी। जन्मोत्सव की कल्पना, भावना तो सभी रखते हैं पर जैन-दर्शन में तो मृत्यु को भी केवल उत्सव ही नहीं, महोत्सव माना है।

हमें शांति के साथ मरण की विधि सीखनी चाहिये, इस शब्द से प्रेरणा लेनी चाहिये। आज देखते हैं कि डाक्टर-वैद्य जवाब दे चुके होते हैं, पर फिर भी एक इन्जेक्शन और दे दो की भावना रखते हैं। जिस मानव के धार्मिक सस्कार होंगे, मनोबल ऊँचा होगा वह ऐसे समय एक इन्जेक्शन की, औषध की कामना नहीं करेगा, वह भगवान का नाम स्मरण करेगा, आत्मा व परमात्मा का चिन्तन करेगा, भौतिक वस्तुओं में मोह व आसक्ति नहीं रखेगा। रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है—जो सम्यग्दृष्टि होगा वह मरण से डरेगा नहीं। जैसे मिट्टी का खिलौना टूट जाने से अज्ञानी बालक रोता है पर ज्ञानी व्यक्ति नहीं रोता। वह जानता है कि टूटना इसका स्वभाव है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मृत्यु के समय यह जानता है कि मरण आत्मा का नहीं शरीर का होता है। अतः वह उस समय परमात्मा का नाम स्मरण करेगा। इसके लिये भागवत् में प्रायोपवेशण शब्द का प्रयोग किया है और जैनधर्म में समाधिमरण, मृत्युमहोत्सव, मल्लेखना, भक्तिप्रत्याख्यान आदि नामों से अभिहित किया है।

जैनाचार्यों ने कहा कि मृत्यु कब, किम समय आ जावे इसका कोई ठिकाना नहीं है, यह एक कटु सत्य है, अतः सदैव इसके लिये तत्पर रहो। एक नीतिकार ने कहा है कि धर्म करते समय यह समझो कि मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है, अतः सदैव धर्म ध्यान व शुद्ध भावना रखो।

सारा जीवन धर्म ध्यान करे, पूजा-पाठ करे और अन्त समय परिवार में, सत्तार में मोह व आसक्ति रखे, यह सोचे कि अरे ! मेरे पीछे इन वच्चों का क्या होगा ? मेरे परिवार का क्या होगा ? वच्चों का विचार तो कर रहे हैं पर स्वयं का क्या होगा ? यह विचार नहीं कर रहे तो इसका अर्थ हुआ कि जो पूजा पाठ किया गया है वह पूजा-पाठ समझा नहीं गया। आध्यात्मिकता ही जैन धर्म की आधार शिला है। वह मरण को मागलिक बनाने हेतु पूजा-पाठ, स्तुति, स्तोत्र, तीर्थ-यात्रा, जप-जाप आदि का निर्देश करता है। वर्यो पढ़े पर फिर भी अनुत्तीर्ण हुये तो इसका तात्पर्य है कि पढ़ाई को समझा नहीं।

जीवन भर पूजा पाठ करते रहे व अन्त समय में रोये, दुःख मनाया तो इसका तात्पर्य है कि धर्म का मर्म नहीं समझा ।

एक जिनदत्त श्रेष्ठ ने सल्लेखना धारण कर ली, मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्हें प्यास की बाधा हुई, पत्नी से पानी मागा । पत्नी, व्रती पति के लिए कुएं से ताजा जल छानकर लाने लगी । पानी लाने से पूर्व उनकी मृत्यु हो गई । अन्तिम समय पानी व कुएं का ध्यान रखने से वे उसी कुएं में मेढक रूप में जन्मे । साग जीवन पूजा पाठ व धर्मध्यान किया था किन्तु अन्तिम समय की भावना के फलस्वरूप मेढक रूप में जन्म लिया । किन्तु आत्मा पर किये गये संस्कार समाप्त नहीं हो सकते । उन्होंने सारा जीवन धर्मध्यान किया इसके फलस्वरूप उस मेढक भव में भी उसके मन में भगवान् महावीर के समवशरण में जाने की भावना उत्पन्न हुई और वह एक फूल को लेकर भगवान् के दर्शनाथ-पूजनार्थ चल पड़ा । राह में हाथी के पाव के नीचे आकर मर गया, उस समय मन में पूजा के भाव थे । शुभ भावों के कारण फिर वह स्वर्ग में जाकर देव हुआ । समन्तभद्र ने उस मेढक को 'महानुभाव' संबोधन दिया । उस मेढक के पूजा-पाठ के संस्कार खत्म नहीं हुये ।

परिणाम कब कैसे विगड़ जाये, मीत कब कैसे आ जाये, इनका ठिकाना नहीं है । इसलिए हमें मरण को मागलिक बनाने की विधि सीखनी चाहिये ।

आचार्य शातिमागरजी महाराज सल्लेखना धारण करने वाले थे । उनके एक शिष्य ने उदास मन से पूछा—महाराज ! अब हम किसके सान्निध्य में रहेंगे ? महाराज ने कहा—मैं किसकी शरण में हूँ, किसके सान्निध्य में हूँ ? शिष्य ने उत्तर दिया—आप धर्म के सान्निध्य में हैं । आचार्य ने कहा—आप भी धर्म के सान्निध्य में रहिये । मेरे जैसे कितने ही आयेंगे । पर धर्म का सान्निध्य शाश्वत रहेगा । उन्होंने अपने शिष्य पर आसक्ति नहीं की कि—हा, अब तुम्हारा क्या होगा ?

गृहस्थ विवेकी न होने से स्वार्थवश अपने मरणोन्मुखी प्रियजन के सम्मुख रागात्मक चर्चा छेड़ देते हैं, रोने लगते हैं । उसके मरण को मागलिक न बनाते हुये, धर्मध्यान, भेद-ज्ञान, तत्त्वज्ञान की चर्चा न करते हुये, रुदन प्रारम्भ कर रागात्मक वातावरण उत्पन्न कर देते हैं ।

मरण अमंगल नहीं है, श्रेष्ठ है । राजवार्तिक में कहा है कि आत्मा अजर है, अमर है, मरण शरीर का है, वही नश्वर है । वर्तमान शरीर से



जायेगा (अथवा आयकर के छापे में चला जायेगा)। आप उसे अपने साथ तो ले नहीं जा सकते। आप की मृत्यु के पश्चात् आपके उत्तराधिकारी उस धन का सदुपयोग करें या न करें यह निश्चित नहीं। आपने अत्यन्त परिश्रम के साथ, जिस ध्येय से धन कमाया, वह ध्येय आपकी सन्ताने पूर्ण करें ही यह आवश्यक नहीं। अपने हाथ से दिया हुआ दान ही आपका साथी होगा।

प्रथम धन प्राप्ति की चिन्ता, उसमें लाभ प्राप्ति की चिन्ता, फिर उसकी रक्षा की चिन्ता; वम उत्तरोत्तर चिन्ता बढ़ती जाती है। इसीलिये महावीर ने अरिग्रह का सिद्धान्त बताया। आप अपनी आवश्यकतानुसार धन रखें, यदि आवश्यकता से अधिक धन रखते हैं तो फिर उसका उपयोग परोपकार में कीजिये।

जो ज्ञान, विनय के बदले विवाद उत्पन्न करे, कलह उत्पन्न करे वह ज्ञान-ज्ञान नहीं है। सम्यक-ज्ञान वही है जो हमारे दुःख दूर करे, शांति प्रदान करे। जो ज्ञान विवाद उत्पन्न करे, वह ज्ञान, जो धन मद उत्पन्न करे, व्यसनोन्मुखी बनावे वह धन, लाभप्रद नहीं है। आचार्य मारिक्वयनन्दी ने कहा है कि जो हित करे अहित का परिहार करे, वही ज्ञान है। दीपक वही है जो अंधकार का परिहार करे, प्रकाश फैलाये, इसी प्रकार जो ज्ञान अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने में सक्षम हो, वही ज्ञान है।

आज सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान-प्राप्ति की होड़ चल रही है। प्रत्येक स्थान पर अनेको स्कूल-कालेज व विश्वविद्यालय खुल गये हैं। पर हमारे चिन्तकों ने इस ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान कहा है। यह व्यावहारिक ज्ञान, ससार प्रपञ्च किस प्रकार बढ़ाया जाये केवल इसी की शिक्षा देता है। अमृतचन्द्राचार्य ने इसीलिये कहा है कि घर-घर में सासारिक प्रपञ्च को बढ़ाने की शिक्षा देने वाले गुरु बैठे हैं पर आध्यात्मिक ज्ञान, शाश्वत ज्ञान देने वाले दुर्लभ हैं, कोई आत्म-कल्याण की बात नहीं सिखाता। जब तक आत्मकल्याण की भावना नहीं होगी, शांति भी प्राप्त नहीं होगी।

### मरण आगामी जीवन का प्रारम्भ है

भौतिक-वस्तुओं में शाश्वत सुख की प्राप्ति की भावना, कल्पना ही है। मकान, जिसे अत्यन्त परिश्रम से, स्वयं की देखरेख में इच्छानुसार बनवाया, जिसमें प्रवेश करते समय मंगल गीत व वाद्य बजवाये, खुशिया मनाई, उसी मकान से मरने के बाद रोते पीटते बाहर निकाला जाता है। जिसके जन्म पर

खुशिया मनाई जाती हैं, उसी की मृत्यु पर क्रन्दन किया जाता है । अर्थात् कोई भी भौतिक वस्तु सर्वथा सुख प्रदान करने वाली नहीं है ।

आचार्यों ने कहा कि जैसे जन्म को मांगलिक बनाया जाता है वैसे ही मरण को भी मांगलिक बनाया जा सकता है । यदि हमारे पास ज्ञान हो, विवेक हो तो । जो मानव मरण को मांगलिक न बना सका उसके जीवन व पशु-जीवन में कोई भेद नहीं रहा । मरण को मांगलिक बनाने के लिए जीवन में धर्म व ज्ञान की आवश्यकता है ।

अन्य सभी देशों व धर्मों की तुलना में भारत में सर्वाधिक धर्म ग्रन्थ हैं । किसी ने केवल वाईविल की रचना की तो, किसी ने केवल कुरान की पर भारतीय दार्शनिक व धार्मिक ग्रन्थों की बहुलता होने पर भी आज भारतीयों में धार्मिक-भावना नहीं है, उनके जीवन में धार्मिक आचरण नहीं है, ऐसा बहुधा बहुत से लोग आक्षेप किया करते हैं । अच्छी बात सिखाने में परिश्रम करना होता है पर पतन के लिए बुराई सिखाने व सीखने में उसकी विशेष आवश्यकता नहीं होती । पहाड़ पर चढ़ने के लिये परिश्रम व समय दोनों की आवश्यकता है, पर पहाड़ पर से नीचे आने के लिए, लुढ़कने के, लिये उतने परिश्रम व समय की आवश्यकता नहीं है । जंगल में काँटे, झाड़ियाँ आदि बिना किसी परिश्रम के, सार-सभाल के ही उपजते हैं व बढ़ते हैं, पर उद्यान में लगाये गये सुगन्धित फूलों के पौधे, फलों के पेड़ यत्न से लगाने, सार-सभाल करने, समय पर जल आदि की व्यवस्था करते रहने पर भी बहुधा नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार जीवन में अच्छाई प्राप्त करने के लिये बहुत परिश्रम की आवश्यकता है और बुराई के लिये कोई परिश्रम की आवश्यकता नहीं है । वह स्वयमेव ही प्राप्त हो जाती है ।

आचार्य ने कहा भी है कि जन्म तो सभी प्राणी लेते हैं पर जीने की कला सबको नहीं आती । जीने की कला धर्म से ही आती है । जीने की कला के साथ-साथ मरण को मांगलिक बनाने की विधि भी धर्म से ही सम्भव है ।

विश्व में ऐसा कौनसा धर्म होगा जो शांतिपूर्ण मरण को श्रेष्ठ नहीं बतायेगा ? ऐसा कौनसा मानव होगा जो शांतिपूर्ण मृत्यु की कामना न करता होगा ? मृत्यु अवश्यभावी है । अतः दुःख से, अशांति से मरने की अपेक्षा सभी शांति से प्राण निकलने की कामना करते हैं । जिस प्रकार जन्म को श्रेष्ठ माना जाता है वैसे ही मरण भी श्रेष्ठ है, क्योंकि मरण आगामी जीवन

का प्रारम्भ है। शुभ-शांति अथवा अशुभ-वैलेशमय अशान्त अन्त, आगामी शुभ अथवा अशुभ जीवन का प्रारम्भ है, द्योतक है। पूज्यपाद आचार्य ने मृत्यु के साथ महोत्सव शब्द का प्रयोग किया और उसे मृत्यु-महोत्सव की सजा दी। जन्मोत्सव की कल्पना, भावना तो सभी रखते हैं पर जैन-दर्शन में तो मृत्यु को भी केवल उत्सव ही नहीं, महोत्सव माना है।

हमें शांति के साथ मरण की विधि सीखनी चाहिये, इस शब्द से प्रेरणा लेनी चाहिये। आज देखते हैं कि डाक्टर-वैद्य जवाब दे चुके होते हैं, पर फिर भी एक इन्जेक्शन और दे दो की भावना रखते हैं। जिस मानव के धार्मिक सम्कार होंगे, मनोबल ऊँचा होगा वह ऐसे समय एक इन्जेक्शन की, औषध की कामना नहीं करेगा, वह भगवान का नाम स्मरण करेगा, आत्मा व परमात्मा का चिन्तन करेगा, भौतिक वस्तुओं में मोह व आसक्ति नहीं रखेगा। रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है—जो सम्यग्दृष्टि होगा वह मरण से डरेगा नहीं। जैसे मिट्टी का खिलौना टूट जाने से अज्ञानी बालक रोता है पर ज्ञानी व्यक्ति नहीं रोता। वह जानता है कि टूटना इसका स्वभाव है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मृत्यु के समय यह जानता है कि मरण आत्मा का नहीं शरीर का होता है। अतः वह उस समय परमात्मा का नाम स्मरण करेगा। इसके लिये भागवत में प्रायोपवेशण शब्द का प्रयोग किया है और जैनधर्म में समाधिमरण, मृत्युमहोत्सव, मल्लेखना, भक्तिप्रत्याख्यान आदि नामों से अभिहित किया है।

जैनाचार्यों ने कहा कि मृत्यु कब, किस समय आ जावे इसका कोई ठिकाना नहीं है, यह एक कटु सत्य है, अतः सदैव इसके लिये तत्पर रहो। एक नीतिकार ने कहा है कि धर्म करते समय यह समझो कि मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है, अतः सदैव धर्म ध्यान व शुद्ध भावना रखो।

सारा जीवन धर्म ध्यान करे, पूजा-पाठ करे और अन्त समय परिवार में, सत्तार में मोह व आसक्ति रखे, यह सोचे कि अरे ! मेरे पीछे इन बच्चों का क्या होगा ? मेरे परिवार का क्या होगा ? बच्चों का विचार तो कर रहे हैं पर स्वयं का क्या होगा ? यह विचार नहीं कर रहे तो इसका अर्थ हुआ कि जो पूजा पाठ किया गया है वह पूजा-पाठ समझा नहीं गया। आध्यात्मिकता ही जैन धर्म की आधार जिला है। वह मरण को मार्गलिक बनाने हेतु पूजा-पाठ, स्तुति, स्तोत्र, तीर्थ-यात्रा, जप-जाप आदि का निर्देश करता है। वर्यो पढ़े पर फिर भी अनुत्तीर्ण हुये तो इसका तात्पर्य है कि पढ़ाई को समझा नहीं।

जीवन भर पूजा पाठ करते रहे व अन्त समय में रोये, दुःख मनाया तो इसका तात्पर्य है कि धर्म का मर्म नहीं समझा ।

एक जिनदत्त श्रेष्ठ ने सल्लेखना धारण कर ली, मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्हें प्यास की बाधा हुई, पत्नी से पानी मागा । पत्नी, व्रती पति के लिए कुएँ से ताजा जल छानकर लाने लगी । पानी लाने से पूर्व उनकी मृत्यु हो गई । अन्तिम समय पानी व कुएँ का ध्यान रखने से वे उसी कुएँ में मेढक रूप में जन्मे । सारा जीवन पूजा पाठ व धर्मध्यान किया था किन्तु अन्तिम समय की भावना के फलस्वरूप मेढक रूप में जन्म लिया । किन्तु आत्मा पर किये गये संस्कार समाप्त नहीं हो सकते । उन्होंने सारा जीवन धर्मध्यान किया इसके फलस्वरूप उस मेढक भव में भी उसके मन में भगवान् महावीर के समवर्णरण में जाने की भावना उत्पन्न हुई और वह एक फूल को लेकर भगवान् के दर्शनाय-पूजनार्थ चल पड़ा । राह में हाथी के पाव के नीचे आकर मर गया, उस समय मन में पूजा के भाव थे । शुभ भावों के कारण फिर वह स्वर्ग में जाकर देव हुआ । समन्तभद्र ने उस मेढक को 'महानुभाव' संबोधन दिया । उस मेढक के पूजा-पाठ के संस्कार खत्म नहीं हुये ।

परिणाम कब कैसे विगड़ जाये, मीत कब कैसे आ जाये, इनका ठिकाना नहीं है । इसलिए हमें मरण को मागलिक बनाने की विधि सीखनी चाहिये ।

आचार्य शातिसागरजी महाराज सल्लेखना धारण करने वाले थे । उनके एक शिष्य ने उदास मन से पूछा—महाराज ! अब हम किसके सान्निध्य में रहेंगे ? महाराज ने कहा—मैं किसकी शरण में हूँ, किसके सान्निध्य में हूँ ? शिष्य ने उत्तर दिया—आप धर्म के सान्निध्य में हैं । आचार्य ने कहा—आप भी धर्म के सान्निध्य में रहिये । मेरे जैसे कितने ही आयेंगे । पर धर्म का सान्निध्य शाश्वत रहेगा । उन्होंने अपने शिष्य पर आभक्ति नहीं की कि-हा, अब तुम्हारा क्या होगा ?

गृहस्थ विवेकी न होने से स्वार्थवश अपने मरणोन्मुखी प्रियजन के सम्मुख रागात्मक चर्चा छेड़ देते हैं, रोने लगते हैं । उसके मरण को मागलिक न बनाते हुये, धर्मध्यान, भेद-ज्ञान, तत्त्वज्ञान की चर्चा न करते हुये, रुदन प्रारम्भ कर रागात्मक वातावरण उत्पन्न कर देते हैं ।

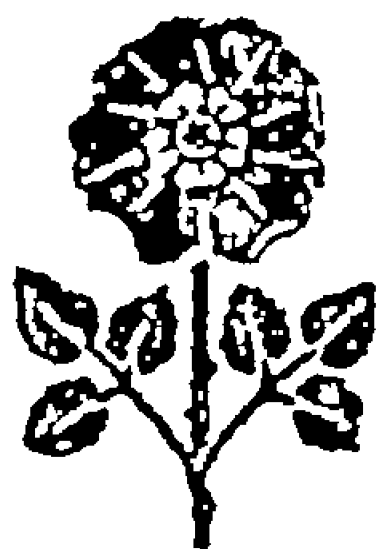
मरण अमंगल नहीं है, श्रेष्ठ है । राजवार्तिक में कहा है कि आत्मा अजर है, अमर है, मरण शरीर का है, वही नश्वर है । वर्तमान शरीर से

आत्मा का पृथक् होना ही मृत्यु है। यदि आपके मन में यह भावना है कि आत्मा अजर-अमर है और ज़ीर त्यागने के पूर्व विधिपूर्वक मल्लेखना आदि ले लेते हैं तो आपकी मृत्यु भी महोत्सव हो जायेगी। बुद्धिमान गृहस्थ वही है जो मृत्यु से पूर्व अपने को मरणोन्मुखी जान धर्मध्यान में रम जाता है, सादगी से रहने लगता है तथा त्याग भाव रखता है। आचार्य कहते हैं कि आप मृत्यु से बारह वर्ष पूर्व ही मृत्यु का स्वागत करने के लिये तत्पर हो जाइये, व सब मानसिक जजाल को त्याग दीजिये, यदि बारह वर्ष पूर्व ऐसा नहीं कर सकते तो छह वर्ष पूर्व कीजिये, छह वर्ष पूर्व नहीं तो तीन वर्ष पूर्व कीजिये, तीन वर्ष पूर्व नहीं तो एक वर्ष पूर्व, एक वर्ष नहीं तो छह महीने पूर्व, छह महीने नहीं तो एक महीने पूर्व, एक महीना नहीं तो पन्द्रह दिन पूर्व, अथवा एक दिन पूर्व अन्यथा सैंतालीस मिनट पूर्व तो कम से कम धर्मध्यान में तत्पर हो जाओ। यदि सैंतालीस मिनट पूर्व भी मरण को समझ लेते हो, बाह्य-परिग्रह से विरक्त हो धर्मध्यान में लीन हो मरण को मागलिक बना लेते हो तो मानव जीवन की सार्थकता है अन्यथा पशुओं की, कीड़े-मकौड़ों की मृत्यु में व आपकी मृत्यु में कोई अन्तर नहीं है।

मृत्यु से बचने के उपाय तो सब करते हैं, पर मृत्यु की विधिवत तैयारी कोई नहीं करता। व्यवहार में सकान बनाने की, भोजन बनाने की पढने की सब की विधि है, सबने इन कार्यों की विधियाँ बतलाई हैं पर हमारे आचार्यों ने मृत्यु की, मरने की भी विधि बतलाई। उन्होंने कहा कम से कम सैंतालीस मिनट पूर्व तो अपने परिणामों को निर्मल बनाइये, समार में आसक्ति को धीरे-धीरे छोड़िये। ऐसे समय में दृढ़ता व आत्म-विश्वास चाहिये, यह दृढ़ता व आत्म विश्वास उमी में हो सकता है जिसने धर्म को समझा है, तत्त्वज्ञान को समझा है। उसके पास धन हो या न हो वह आत्म-विश्वास का धन प्राप्त कर मृत्यु को मागलिक बना सकता है।

धर्मस्थल के मज्झइया हेगडे को बारह घण्टे पूर्व मृत्यु का आभास हुआ। उन्होंने अपने भाई को बुलाकर सब घर-वार की चावियाँ सौंप दी। वहाँ एक क्षुल्लक जी थे, हेगडे उनके भक्त थे, उन्हें बुलवाया। क्षुल्लक जी आये, अपने भक्त को मरणोन्मुखी देख महमा उनके नेत्र सजल हो गये। हेगडे ने यह देखा तो कहा—क्षुल्लकजी मैंने आपको रोने के लिये नहीं बुलाया। रोने को तो परिवार के व गाव भर के लोग बहुत हैं। आपको तो धर्म के चार शब्द सुनाने के लिए बुलवाया है। क्षुल्लक जी ने आखे पोछी और तत्व-चर्चा, धर्मध्यान की बातें सुनाना प्रारम्भ किया। इतने में पास के गाव से उनकी

पुत्री पिता के लिये रोती हुई आई, कमरे में प्रवेश किया तो उन्होंने कहा—  
 देखो, रोना है तो बाहर जाओ। मैंने जीवन में सदैव, जो कुछ मेरे पास था  
 तुम्हें दिया, अब इस समय मेरे पास कुछ नहीं है जो तुम्हें दूँ। यदि तुम मुझे  
 कुछ दे सकती हो तो चार शब्द धर्म के सुनाओ, धर्म सुना सकती हो तब तो  
 यहाँ बैठो अन्यथा कमरे से बाहर जाकर बैठो। कितनी दृढ़ता व आत्मविश्वास  
 था उनमें। यह दृढ़ता धर्मध्यान व पूजा-पाठ से ही प्राप्त होती है। मरण को  
 मांगलिक बनाना ही धर्मात्मा की सबसे बड़ी परीक्षा है, इसमें जो सफलता  
 प्राप्त करता है उसी का जीवन सफल है। आप सदैव पूजा पाठ कण्ठ के समय  
 करते हैं तो सुख के समय उसे मत छोड़िये, मरण के समय भी पूजा-पाठ की  
 ओर ध्यान रखें, दृढ़ता रखें। मैं आपको अजर-अमर होने का आशीर्वाद  
 देकर आज वही आशीर्वाद देता हूँ कि आप सबका मरण मांगलिक हो।



धर्म मनुष्य को मिला हुआ वैवी वरदान  
 है। इस घनच्छाया और महाफल पादप के नीचे  
 बैठकर साधना करने वाला धर्मध्यानी अनन्ताकाश  
 से ऊपर प्रतिष्ठित आनन्दलोक का पथ प्रशान्त  
 करता है।

## चित्तानुष्ठान के लिए हैं चैत्य और चैत्यालय

एक पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने का फल, आठ नये मदिरो के निर्माण से प्राप्त फल के समान है। प्राचीन मंदिर में जप-जाप, पाठ-पूजन, हवन-विधान से जो ऊर्जा उत्पन्न होती है, वह नव-निर्मित मदिरो में नहीं होती।

जो आपके अपने हाथ से सत्कार्य, दान-पुण्य हो गये, उनकी कीर्ति ही यहाँ शेष रहेगी और उसके कर्म आपके साथ जायेगे। यदि आप दुष्कार्य करेगे तो उसकी दुष्कीर्ति यहाँ शेष रहेगी और अशुभकर्म साथ जायेगे।

मदिरो के जीर्णोद्धार की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है। जीर्णोद्धार का प्राचीनतम उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है। शिल्प जगत् में 'मान-सार', 'प्रसादमण्डल' आदि प्रसिद्ध शिल्प शास्त्र हैं।

जैन परम्परानुसार अरिहतों की प्रतिमा 'दस ताल' की बनती थी प्रतिमा चाहे दो अंगुल की हो चाहे दस फीट की, चाहे पन्द्रह फीट की,, चाहे पद्मामन में हो या खड्गासन में हो उसके समान समचतुर्भुजस्थान एकसीदीस भाग होने चाहिये। बौद्धधर्मावलम्बियों के 'नीताल' की प्रतिमा बनती है, जिसमें एकसीदस समान भाग होने चाहिये। लगभग सब सम्प्रदायों में निश्चित ताल की प्रतिमाएँ मूर्तियाँ बनती हैं। ताल का अर्थ है नाप

शिल्प-शास्त्र मौलिक व व्यवस्थित है। प्रतिमा के नाप-हिस्साव के साथ-साथ वेदी व वेदी के सम्मुख बनने वाले चौखट आदि की भी विधि है, निश्चित हिस्साव है, नाप है। वेदी की ऊँचाई, वेदी बनाने वाले की नाभि तक होनी चाहिये,



इससे नीची नहीं। चौखट को ऊँचाई के समान आठ भाग होने चाहिये। इन आठ भागों के मध्य वेदी में विराजित प्रतिमा के नयन होते हैं। इन आठ भागों में प्रथम भाग (नीचे से) में दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा ध्वज आय कहलाती है। द्वितीय भाग के मध्य में दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा धूम्र आय कहलाती है। तृतीय भाग के मध्य में दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा सिंह आय कहलाती है। चतुर्थ भाग के मध्य में दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा श्वान आय कहलाती है। पंचम भाग में दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा वृषभ आय कहलाती है। षष्ठम भाग में दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा खर आय कहलाती है। सप्तम भाग के अग्रभाग में दृष्टि वाली प्रतिमा गज आय कहलाती है। अष्टम भाग में दृष्टि वाली प्रतिमा राक्षस आय अथवा ध्वांक्ष आय कहलाती है। इन आठों दृष्टि वाली प्रतिमाओं में प्रथम, तृतीय, पंचम, व सप्तम अर्थात् ध्वज आय सिंहआय, वृषभआय, तथा गजआय दृष्टि वाली प्रतिमायें शुभ होती हैं, शेष चारों दृष्टिवाली प्रतिमायें अशुभ होती हैं।

श्रीनगर (गढ़वाल) के जिन मंदिर में ध्वांक्षआय दृष्टि वाली प्रतिमा थी। उस मंदिर की कोई देख-रेख नहीं होती थी, शहर भी अधिकसित था, मंदिर, शहर, वहाँ के निवासी सभी उपेक्षित थे। किन्तु (मुनि श्री के वर्ण-योग के अवसर पर) प्रतिमा को गजआय की दृष्टि में विराजमान कराने पर मंदिर के जीर्णोद्धार-विकास के साथ साथ उसके पूजक, शहर, शहरवासियों सभी की बहुत उत्थिति हुई है।

तीर्थंकर के अभाव में गृहस्थ के मन को भक्ति मार्ग में लगाने हेतु मंदिर व मूर्तियाँ आलम्बन हैं, आयतन हैं। जिन अनेक सम्प्रदायों में मंदिरों का अवलम्बन नहीं लिया गया, मंदिरों की स्थापना, प्रतिष्ठा नहीं कराई गई उनमें से अधिकांशतः काल-कवलित हो गये, जैसे—मकखलि गोशाल, सजयतवेलटिपुत्त आदि के सम्प्रदाय। इन्होंने अनुयायी तो बनाये पर मंदिर व साहित्य का निर्माण नहीं किया। कालान्तर में इनके अनुयायी बिखर गये और सम्प्रदाय खत्म हो गये। मंदिर, मानव को धर्म में स्थिर रखने के साधन हैं। हमारे यहाँ मन्दिरों की परम्परा प्राचीन है।

शास्त्रों में जीर्णोद्धार को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। नव-निर्माण की अपेक्षा पुरातन की सुरक्षा व जीर्णोद्धार कराना अधिक लाभप्रद है, फलदायक है। कहा भी है—

वापि-कूप-तडागेषु, देवतायतनेषु च।

जीर्णोन्नुद्धरेत्यस्तु-पुण्यं श्रष्टुगुणं भवेत्।

अर्थात्—‘कुआ, तडाग (सरोवर) व मदिरों के नव-निर्माण की अपेक्षा पुरानों का जीर्णोद्धार कराना ही उत्तम है। धार्मिक-दृष्टि से पुराने मंदिर का जीर्णोद्धार कराना अधिक महत्वपूर्ण, लाभदायक व फलदायक है। एक पुराने मंदिर का जीर्णोद्धार कराने का फल, आठ नये मदिरों के निर्माण के प्राप्त फल के समान है। इसके पीछे भी तथ्य है, कारण हैं। प्राचीन मंदिर में अनेक जप-जाप, पाठ-पूजन, हवन, विधान आदि से ऊर्जा उत्पन्न होती है, वह ऊर्जा नव-निर्मित मंदिर में नहीं होती। प्राचीन मंदिर में चली आ रही भक्ति, पूजा-पाठ से वह मंदिर क्षेत्र पवित्र हो जाता है जबकि नये मंदिर में इसका अभाव होता है। इसीलिये उस उत्पन्न पवित्रता व ऊर्जा को सुरक्षित रखने की दृष्टि से नये मदिरों के निर्माण की अपेक्षा पुराने मदिरों का जीर्णोद्धार कराना अधिक लाभप्रद है और वह अधिक पुण्यप्रदाता है।

हमारे यहाँ चैत्य व चैत्यालय ये दो पारिभाषिक शब्द हैं। चित्त के भावमन—आत्मा के अनुष्ठान के लिये बनाई गई भगवान की प्रतिमा को, पूर्ति को ‘चैत्य’ कहा है। उस चैत्य के आलय को, जहाँ वह चैत्य विराजमान है ‘चैत्यालय’ कहा है। मन को एकाग्र करने के लिये भक्ति करने के लिये बनाये गये जिन-विवालय ही चैत्यालय है। जिन वृक्षों के नीचे बैठकर तीर्थंकरों ने तप किया, वे वृक्ष ‘चैत्यवृक्ष’ कहलाये। पटना संग्रहालय में आज भी पत्थरों पर उत्कीर्ण चैत्यवृक्षों की प्रतिकृतियाँ विद्यमान हैं।

आज जिसे हम अशोक-वृक्ष कहते हैं, प्राचीन काल में उसका नाम शोक-वृक्ष था। तीर्थंकर वृषभदेव भगवान के उस वृक्ष के नीचे बैठने से, उनके ससर्ग से, उपदेश से आनन्द मग्न होने से, शोक-रहित होने से वह ‘अ-शोक वृक्ष’ कहलाने लगा। अशोक-वृक्ष के रूपक का वर्णन करने वाली कल्याण मन्दिर स्तोत्र की कारिका इस प्रकार है—

धर्मोपदेश समय सविधानुभावादास्ता जनो भवति ते तरुरप्य शोकः।

अभ्युद्गते दिनपती स महीरुहोऽपि किंवा विबोधमुपयाति न जीवलोकः॥

— हे भगवन् ! समवशरणा में आपके धर्मोपदेश के समय अष्ट-प्राति-हार्यों की उपस्थिति रहती है। अशोकवृक्ष उन प्रातिहार्यों में से एक है। वास्तव में आपके समीपवर्ती होने से ही इस वृक्ष का नाम ‘अ-शोक’, ‘शोक-रहित’ हुआ है हे प्रभो ! जब वृक्ष भी आपके सान्निध्य से अ-शोक हो जाता है तो मनुष्यों के शोकविमुक्त होने में आश्चर्य ही क्या ? जब सूर्य का उदय होता है तब एक वृक्ष के पुष्पित-पल्लवित होने की चर्चा ही क्या, सम्पूर्ण

जीवलोक ही जागरण (बोध) को प्राप्त करता है। इसी प्रकार आपके ससर्ग से वृक्ष ही क्या समस्त जीवलोक शोक रहित हो जाता है।

ये सासारिक वस्तुयें, वैभव सब इस दुनिया में धरे रह जाते हैं, कोई आपके साथ नहीं जाते। आपके सत्कार्य ही यहाँ शेष रहते हैं और कर्म साथ जाते हैं। आप अपने हाथ से जो सत्कार्य करेंगे दान-पुण्य करेंगे उसकी कीर्ति ही यहाँ शेष रहेगी और उसके कर्म आपके साथ जायेंगे। यदि आप दुष्कार्य करेंगे तो उसकी दुष्कीर्ति यहाँ शेष रहेगी और अशुभ कर्म साथ जायेंगे।

एक व्यक्ति मंदिर बनवाता है, शास्त्र छपवाता है, कुआँ बनवाता है, उससे हजारों व्यक्ति, प्राणी लाभान्वित होते हैं। जो कुछ भी दान आदि करना है वह अपने हाथ में ही कीजिये।

आप सभी प्रतिदिन मंदिर जाने का, देव-दर्शन करने का सकल्प कीजिये। जब किसी भयानक दृश्य व वस्तु को देखकर भय के भाव उत्पन्न होते हैं, स्वप्न में भी वे दृश्यादि देखते हैं, तो उस वीतराग भगवान की प्रतिमा को देखकर निर्मल, स्वच्छ वीतराग-भाव क्यों नहीं उत्पन्न हो सकते ?

इसलिये चिन्तानुष्ठान के लिये, शांति के लिये, शांतिकी प्राप्ति के लिये वीतराग भगवान की प्रतिमा की दर्शन अवश्य करने चाहिये।



धर्म त्रिकालाबाधित है, सत्यरूप है, ज्ञातव्य है, दर्शनीय है और आचरणीय है। धर्म की नौका पर आलूढ होकर इस भवसागर को लांघने वाला डूबता नहीं है।

## स्व-विमुखता ही परिग्रह की जड़

परावलम्बन दुःख का कारण है। जब बहिरंग में परिग्रह है, तो राग छूटना आसान नहीं है। जो बहिरंग में ही देखता है, अंतरंग में उसकी दृष्टि जाती ही नहीं। परिग्रह है तो बिना विकल्प के रहना बहुत कठिन है। विकल्प ही आर्तरीद्र ध्यान का कारण बनता है।

मन में रागद्वेष है तो कर्मवधन अवश्य होगा, राग-द्वेष की चिकनाई पर कर्मधूलि अवश्य चिपकेगी। यदि मन में राग-द्वेष नहीं तो कर्मवधन का कोई कारण नहीं।

सन्मार्ग पर नहीं चल पाते, तो कम से कम कुमार्ग पर तो मत बढ़िये।

मनुष्य को जब समझ आने लगती है, कुछ ज्ञान-बोध होने लगता है तब वह स्वयं ही हेय-उपादेय का, अच्छे-बुरे का निर्णय लेता है, आप सभी इस बात को जानते हैं। एक छोटा बच्चा अल्प-विवेकी होने पर भी कड़वी चीज खाने पर उसे तुरन्त थूक देता है, उसे कड़वी चीज थूकने के लिये कोई सिखाता नहीं है। वही बालक मीठी वस्तु प्राप्त होने पर प्रसन्न-चित्त से खा लेता है, कोई उससे वह मीठी वस्तु छीनना चाहता है तो वह छीनने नहीं देता। वह बालक कड़वी वस्तु का त्याग व मीठी वस्तु को ग्रहण करता है, यह कैसे सीख जाता है? आत्मा ज्ञानमय है, वह स्वयं ही अच्छे-बुरे, हेय-उपादेय का निर्णय करती है। इस निर्णय के लिए उसे किसी कोर्ट, जज या

वकील की आवश्यकता नहीं है। मानव स्वभावतः ही उपादेय व हेय का गहरा व त्याग करता है।

कोई भी समझदार व्यक्ति जल स्वच्छ देखकर स्नान करता है, निर्मल देख, उसे पीकर प्यास बुझाता है पर मलीनता देखकर न तो स्नान ही करता है न पीता ही है। इस प्रकार लौकिक व्यवहार में, व्यावहारिक जीवन में हेय-उपादेय का अच्छे-बुरे का विवेक स्वतः सिद्ध है।

धर्म व धर्माचार्य, विचारों में पवित्रता लाने के लिये शिक्षा देते हैं। आध्यात्मिक-जीवन के हेय-उपादेय का उपदेश देते हैं। यदि विचारों में पवित्रता आ जाये तो स्वयमेव ही उत्तम-आचरण की ओर दृष्टि हो जाये। जब विचार व आचार व पवित्रता व सरलता हो तो जीवन में भी सादगी आती है, विलासिता दूर भाग जाती है। विचार में पवित्रता का अभाव ही विलासिता का मूल कारण है।

विदेश में हेनरी फोर्ड नामक एक बहुत बड़ा उद्योगपति हुआ है। एक बार एक भारतीय उद्योगपति फोर्ड से मिलने उसके निवास स्थान पर गया। उस समय फोर्ड अपने खाने के बर्तन माज रहा था। भारतीय उद्योगपति ने जब यह देखा तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आप यह क्या कर रहे हैं? यह काम तो नौकर ही कर देंगे। फोर्ड ने कहा—प्रातः काल प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना भगी बनता है तो स्वयं की भूँठ साफ करने में क्या बुराई है?

मनुष्य को अभिमान दूर करने के लिए स्वयं का कार्य स्वयं को करना चाहिये। परावलम्बन दुःख का कारण है। आप दूसरों को हेय, छोटा समझकर उससे क्या अपना कार्य करवाते हैं। धर्म कहता है कि स्वावलम्बी बनो। जो सादा जीवन चाहेगा वह स्वावलम्बी होगा। विचारों की पवित्रता के साथ-साथ सादगीपूर्ण जीवन आवश्यक है, सादगी के साथ आचरण की पवित्रता आवश्यक है। विलासिता का कोई अन्त नहीं, मानव इस विलासिता के कारण ही दुःखी है।

एक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह रखता है तो उसके जीवन में दुःख को स्थान नहीं मिलता है। जिसके परिग्रह बढ़ता जाता है, वह दुःखी होता जाता है। सीमित परिग्रह होने पर, सीमित साधन होने

पर, साथ में सन्तोष हो तो, वह दुःखी नहीं हो सकता है। उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि—‘अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य’ अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रह पुनः सद्गति, मनुष्यगति मिलने का संकेत है और बहु-आरम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुषः’ अर्थात् बहु आरम्भ बहुपरिग्रह दुर्गति, नरक का कारण है। आचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कठोर शब्दों में, आरम्भ को नरक, दुर्गति का कारण बताया है। आत्मानुशासन में कहा है कि कठोर शब्द ही आत्मा का मैल हटा सकते हैं। जैसे ब्रश कठोर होता है तभी वह फर्श का मैल माफ कर देता है, हटा देता है। उपर्युक्त इन दोनों सूत्रों को समझ कर, जीवन में चिन्तन करना चाहिये। अल्पारम्भपरिग्रह से मनुष्य कभी दुःखी नहीं हो सकता। एक बार परिग्रह, बढ़ने के बाद, साधन-वैभव बढ़ने के बाद फिर यदि घटते हैं तो वह मानव दुःखी हो जाता है। इसलिये मानव को कभी भी सादगी नहीं छोड़नी चाहिये। जीवन में सादगी होगी तभी विचार व उद्देश्य पवित्र होंगे और तभी जीवन भी पवित्र होगा। धर्म अन्तरंग के साथ-साथ बहुरंग में भी पवित्रता सिखाता है। प० टोडरमलजी ने कहा है कि जब आपको राग नहीं है तो बहिरंग में परिग्रह क्यों रखते हो? जब बहिरंग में परिग्रह है तो राग छूटना आसान नहीं है। आप भूल से कोई सोने का आभूषण आलमारी के बाहर छोड़ आये, जब आपको यह तथ्य याद आयेगा, ध्यान आयेगा तो तुरन्त विकल्प होगा कि अरे! कोई उठा तो नहीं ले जायेगा। परिग्रह है तो बिना विकल्प के रहना बहुत कठिन है। विकल्प ही आर्तरीद्र ध्यान का कारण बनता है। व्यावहारिक जीवन में जिनके बहिरंग में थोड़ी पवित्रता होगी। उन्हीं के अन्तरंग में भी पवित्रता होगी जिनका व्यावहारिक जीवन स्वच्छ नहीं है उनका अन्तरंग भी पवित्र नहीं हो सकता। जो पर निन्दा में, दूसरों की बुराई में ही समय व्यतीत करता है, उसके विचार कैसे पवित्र रह सकते हैं? ऐसे मानव स्वयं की ओर, स्वयं के जीवन की ओर दृष्टिपात नहीं करते। वे दूसरों की ओर ही भाकते रहते हैं, उनका जीवन कैसे पवित्र हो सकता है?

परिग्रह में सन्दर्भ में झोपड़ी वाले से तुलना कीजिये, झोपड़ी वाला फुटपाथ वाले से तुलना करे, पच्चीस मजिल वाले मकान की ओर क्यों देखते हो? ऊपर की ओर देखने से आँखों पर जोर पड़ेगा, समदृष्टि रखने से चलने में कोई परेशानी नहीं होगी। यदि धूल में ठोकर मारकर चलोगे तो धूल सिर पर चढ़ जावेगी, पर धूल से बचकर, साफ-सुथरे मार्ग पर चलेंगे तो धूल धूसरित नहीं होवोगे। समयसार में एक स्थान पर, समझाया गया है

कि — कोई व्यक्ति तेल लगा कर घूल भरे स्थान पर व्यायाम करता है अथवा कोई काम करता है तो शरीर पर घूल चिपकेगी ही पर यदि तेल नहीं लगा होगा तो घूल नहीं चिपकेगी । इसी प्रकार मन में राग-द्वेष है तो कर्मबंधन अवश्य होगा, राग-द्वेष की चिकनाई पर कर्मधूलि अवश्य चिपकेगी । यदि मन में राग-द्वेष नहीं तो कर्म बंधन का कोई कारण नहीं । कर्म-बंधन का, राग-द्वेष का कारण है 'बहिर्दृष्टि', इसलिये ही उन्हें (जिनकी बहिर्दृष्टि है) 'बहिर्मात्रा' कहा । बहिरंग में ही देखता है, अन्तरंग में उसकी दृष्टि जाती ही नहीं ।

जिसका स्वयं का जीवन पवित्र होगा उसकी दृष्टि सदैव दूसरों की अच्छाई की ओर ही जायेगी । कुछ प्राणी ऐसे भी होते हैं जिनके विचारों में किसी पवित्र-स्थान पर जाने पर भी किंचित मात्र भी पवित्रता नहीं आती ।

नारद जी एक बार स्वर्ग जा रहे थे । पृथ्वी पर ही, राह में उन्होंने देखा कि एक सूअर कीचड़ में फसा हुआ है । नारद जी को उस पर दया आ गई, उन्होंने सूअर से कहा—मैं तुमको यहाँ से निकाल दूँ ? सूअर ने कहा—ठहरो ! मैं इस ओर से जरा एक डुवकी और लगा आऊँ । थोड़ी देर बाद नारद जी ने पुनः पूछा—अब निकाल दूँ ? सूअर ने कहा—ठहरो ! जरा एक डुवकी और लगा लूँ । कीचड़ में डुवकी लगाते हुए ही सूअर ने नारद जी से पूछा आप कहा से आये हैं ? कहा जायेंगे ? नारद जी ने कहा—मैं स्वर्ग जा रहा हूँ ? सूअर ने पूछा—क्या आप मुझे भी स्वर्ग ले चल सकते हैं ? नारद जी ने कहा—हाँ चलो, तुम्हें भी स्वर्ग दिखा लाऊँ । उसने पूछा—स्वर्ग में मुझे ऐसा कीचड़ मिलेगा कि नहीं ? उन्होंने कहा—स्वर्ग में कीचड़ का क्या काम ? यह सुनकर सूअर बोला—यदि वहाँ कीचड़ नहीं है तो मुझे नहीं जाना ।

इसी प्रकार कुछ ऐसे भी मानव होते हैं जो मन्दिर, साहित्य, धर्म, तत्त्वज्ञान आदि साधन होते हुए भी नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी दृष्टि सदैव बुराई की ओर, अपवित्रता की ओर ही जाती है, ऐसे लोगों का उद्धार कौन कर सकता है ? धर्म शिक्षा देता है कि अपने जीवन को उन्नत बनाओ, ऊँचा उठाओ । धर्म, प्राणी का उपकार करता है । आचार्यों, चिन्तकों ने धर्म-सिद्धान्तों को समझाने हेतु साहित्य सृजन किया है । जैसे यहाँ जयपुर में प० टोडरमलजी हुए, उन्होंने मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना की । कुछ लोग इस कृति के लिये उनका बहुत उपकार मानते हैं तो कुछ लोग नहीं मानते ।



कुछ लोग तीर्थंकर की वीतराग वाणी का भी उपकार नहीं मानते, जब वह वीतरागवाणी उपकारक नहीं हो सकती तो साहित्य छपवाने से, वीतराग वाणी के प्रसार का क्या अर्थ है ? क्या प्रयोजन है ? क्या इससे कल्याण हो सकता है ? जब तीर्थंकर की वाणी से कुछ उपकार नहीं हो सकता तो ऐसा बताने वालों के प्रवचनों से क्या कल्याण हो सकता है ? जो तीर्थंकर की वाणी का कुछ भी उपकार न माने उससे बढ़कर कृतघ्न और कौन होगा ?

मानव-जीवन अति-मूल्यवान है । हमारे धर्म-प्राण देश से आज धर्म के ह्रास होने का कारण ही यह है कि आज हम परस्पर द्वेष करने लगे हैं, एक जाति वाले दूसरी जाति वालों से, एक धर्म वाले दूसरे धर्म वालों में द्वेष करने लगे हैं । इस द्वेष में धर्म दोषी नहीं है, धर्म कभी लड़ा नहीं सकता । धर्म के नाम पर लड़ने वाले, जाति को लेकर लड़ने वाले दोषी हैं । परस्पर में धर्म लड़े या धर्म को लेकर मूर्ख लोग लड़े ? धर्म दोषी है या वे लड़ने वाले दोषी हैं ? धर्म परस्पर न लड़वाता है, न लड़वाया है और न लड़वायेगा । सोचिये, धर्म कैसे धर्म का विरोधी हो सकता है ? सत्य कैसे सत्य का विरोधी होगा ? अमृत कैसे अमृत का विरोधी, विपरीत स्वभाव वाला होगा ? कहा भी है—

धर्म यो वाधते धर्मं न च धर्मं कुवर्त्मतत् ।

अविरोधात्तु धर्मं स धर्मं सत्यविक्रम ॥

सत्यनिष्ठ, सत्य का विरोध करे यह असम्भव है । कोई अग्नि को लेकर अपना घर जलाले और फिर कहे कि अग्नि इसके लिये दोषी है, अग्नि खराब है, इसी प्रकार अज्ञानियों ने धर्म को लेकर लड़ाईयाँ स्वयं ने की और बदनाम धर्म को कर दिया ।

एक मेढक के मरने से समुद्र गन्दा अपवित्र नहीं हो जाता । किसी एक व्यक्ति के चारित्रिक पतन से समाज नहीं डूबता । हमारे यहाँ धर्म व सम्प्रदाय के नाम से अनेक द्वन्द्व होने लगे । हमारा देश धर्मनिरपेक्ष है । धर्मनिरपेक्ष का अर्थ है सम्प्रदाय महत्ता रहित, किसी भी सम्प्रदाय के प्रभुत्व रहित, धर्म रहित नहीं । पहले किसी विशिष्ट का राजा होता था तो वह अन्य सब सम्प्रदायों को नष्ट कर देना चाहता था, इतिहास इस का साक्षी है । पर आज किसी विशिष्ट सम्प्रदाय-पुष्ट राज्य नहीं है, इसीलिये कि सम्प्रदाय-धर्म के नाम से कोई अशांति, अन्याय या अराजकता न पनपे । शासक का व्यक्तिगत धर्म कुछ

भी हो सकता है पर शासन व प्रजा के प्रति उसका धर्म है, प्रथम कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, विभिन्न धर्मावलम्बी होने पर भी प्रजा का प्रेम व वात्सल्य के साथ पालन करना । सम्प्रदाय के नाम से होने वाले भगडो का हवाला सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख से प्राप्त होता है, जहा उन्होंने प्रजा को सम्बोधित करने के लिए लिखवाया कि—“मैं आपके पूजा, पाठ भक्ति से अधिक खुश नहीं हूँ, आप परस्पर प्रेम से बिना लडे रहे तो मैं खुश रहूँगा ।”

धर्म के नाम से दूसरे का तिरस्कार करना उपयुक्त नहीं है । जाति मद (धर्म मद) करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव है ।

शकराचार्य के जीवन की घटना है—एक दिन वे गंगा-स्नान करके लौट रहे थे । शकराचार्य आत्मा, परमात्मा की चर्चा व विशद व्याख्या में मग्न रहते थे । जब वे गंगा-स्नान करके लौट रहे थे कि सामने एक हरिजन अपनी भाडू लिये खड़ा था । शकराचार्य ने कहा—रुक जा । मैं गंगा स्नान कर आ रहा हूँ । हरिजन ने कहा—आपने किसको रुकने के लिए कहा है ? यदि मुझे कहा है, तो मुझ में व आपकी आत्मा में क्या अन्तर है ? जैसा शरीर आपका है, वैसा ही शरीर मेरा है । तब आपने किसलिये मुझे रुकने के लिये कहा ? शकराचार्य ने यह सुनकर कहा—ओह ! मुझे आज आत्मा-परमात्मा के दिव्य-ज्ञान का बोध हुआ है ।

जब तक दूसरो के प्रति मत्सरभाव, द्वेषभाव नहीं छोड़ते तब तक सद्गति नहीं हो सकती । समाज को आदर्श, स्वच्छ, निर्मल और देश को सुन्दर व पवित्र रखना है तो पहिले द्वेष छोड़ना होगा । पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि यदि आप जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं कर पाते तो रागी-द्वेषी देवताओं के पूजक तो मत बनिये । सन्मार्ग पर नहीं चल पाते तो कम से कम कुमार्ग पर तो मत बढ़िये । यदि ग्रन्थों का पारायण नहीं कर सकते, तत्त्व-ज्ञान नहीं कर सकते तो दुर्बुद्धि तो छोड़िये, द्वेष को त्यागिये, इनको त्यागे बिना जीवन पवित्र कैसे होगा ? एक दूसरे से द्वेष कर कैसे कोई भली-भाति जीवित रह सकेगा, चाहे घर हो या समाज हो और जो स्वयं को सुधार न सके वे समाज का क्या सुधार कर सकेंगे ?

मेरी यही भावना है कि समाज सगठित हो, तभी देश सगठित होगा । हमें कोई राज्य प्राप्ति की भावना से या किसी दुर्भावना से सगठित नहीं

होना । भगवान महावीर के मिद्धान्तो का परिपालन कर एक आदर्श प्रस्तुत करने के लिये सगठित होना है । दूसरो की अच्छाई को स्वयं भी अपनावें । आप बाजार में सब्जी खरीदने जाते हैं तब उस सब्जी वाले की जाति या धर्म नहीं पूछते, उसकी अच्छी व ताजी सब्जी खरीद लाते हैं । इसी प्रकार किसी भी जाति-धर्म की अच्छाई को हमें अपनाना चाहिये । बिना उदार-दृष्टिकोण के जीवन चल नहीं सकता । एक गृहस्थी अनेक लोगो के उपकार से चलती है । माता-पिता के प्रति कृतघ्नता, अध्यापक के प्रति कृतघ्नता अज्ञान है । जब सामाजिक जीवन ही जीना नहीं आया तो धार्मिक जीवन कैसे सफल होगा ? कोई आपके प्रति कुछ उपकार करता है तो उसे मानिये, कृतघ्न मत बनिये । कुम्हार से पैसा देकर घड़ा खरीदने पर भी परस्पर में दोनों का उपकार है ।

सामाजिक सगठन व सम्यग्दर्शन के लिए वात्सल्य अग व धर्म-प्रभावना-अग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । आज हम वात्सल्य अग भूल गये हैं । एक निगोदीकाय जीव भी मोक्ष का अधिकारी है, केवल जैन कुलोत्पन्न ही इसके अविकारी नहीं ह । हरिजन और गिरिजन सभी पवित्रता से मोक्ष जा सकते हैं । जाति का दुरभिमान मत कीजिये । एक-दूसरे के अच्छे विचार सुनिये, बुराई न कीजिये । सबमें बुराई है तो अच्छाई भी है । कोई अयोग्य मनुष्य है ही नहीं, सबमें कोई न कोई अच्छाई, गुण अवश्य है, उसे ही देखिये, ग्रहण कीजिये, देखिये, आप अच्छाई का भण्डार बन जायेंगे, बुराई मत देखिये, बुराई देखेंगे, बुराई करेंगे तो आपके, हाथ क्या लगेगा ? बुराई करेंगे तो स्वयं बुरे बनेंगे । कोयले की दुकान में घुसने पर काला अवश्य लगेगा । आप सदैव देश, मानवमात्र, समस्त पशु-पक्षी के प्रति सुख प्राप्ति के विचार रखे । विचार श्रेष्ठ होने चाहिये । एक-एक शब्द में कलह निर्माण की अशान्ति निर्माण की शक्ति है, साथ में प्रेम-भाव उत्पन्न करने की शक्ति भी है । अतः प्रेम-भाव वाले शब्द का ही प्रयोग कीजिये ।

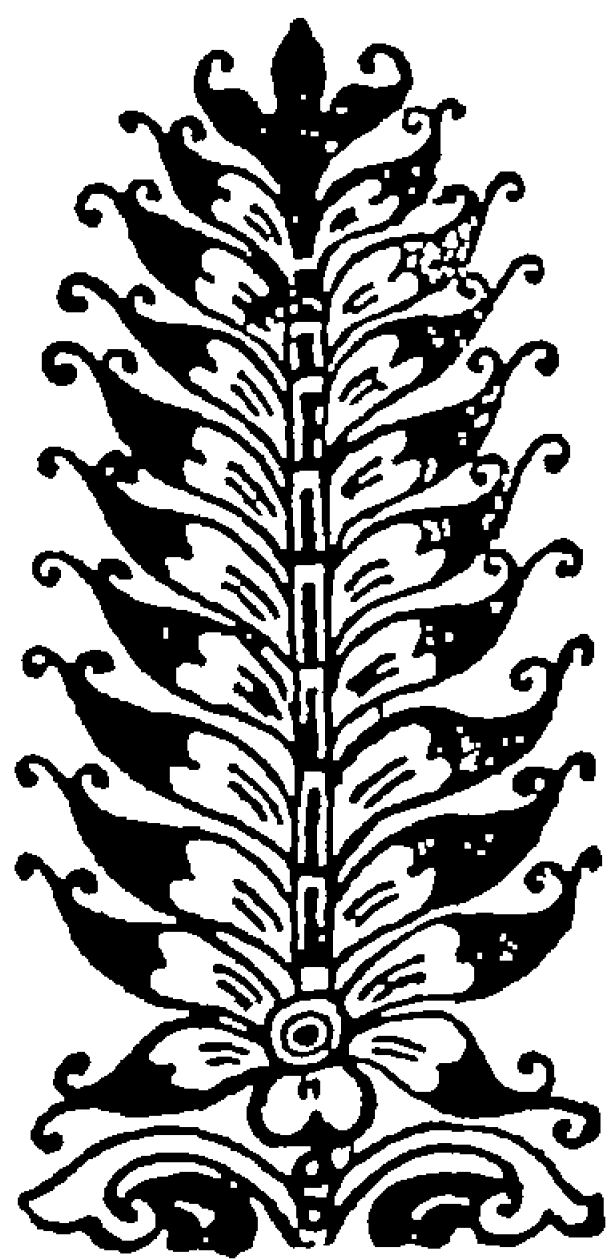
अत्याचार व लूट-खसोट से समृद्ध होने पर शांति नहीं है । हमें विश्व के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये । महावीर के मिद्धान्तो का वात्सल्य का प्रेम का जब आप पहले स्वयं पालन करेंगे तभी अन्य भी पालन करेंगे, उपदेश में कोई नहीं अपनायेगा ।

आपमें जैमी भी बने, गरीबों की सेवा कीजिये । मनुष्य का स्वयं के जीवन के साथ-साथ प्रकृति के साथ, पशु-पक्षियों के साथ भी सम्बन्ध है,

उनके प्रति दया-भाव रखने चाहिये । मनुष्य मे से दया, करुणा निकाल दें तो मनुष्य, मनुष्य नहीं रहेगा । दुर्भावना से, दूसरो की हत्या का इरादा कर के मारने वाला चाकू लाता है, जब वह चाकू चलाता है उसकी आखें क्रोध से आवेश से लाल हो जाती हैं, चेहरा विकृत हो जाता है, घडकन बढ जाती है घबराहट हो जाती है, दूसरी ओर एक डाक्टर भी चाकू चलाता है, न उसकी आखें लाल होती हैं न चेहरा विकृत होता है न घडकन बढती है बल्कि वह प्रसन्न शांत मुद्रा से चाकू चलाता है क्योकि उसकी भावना हत्या की न होकर मरीज को बचाने की होती है । यहा भावनाओ का अन्तर है ।

जीवन मानवीयता के साथ व्यतीत कीजिये । आज पढाई बढती जा रही है पर प्रेम, वात्सल्य घटता जा रहा है । प्रेम व वात्सल्य न होगा तो राष्ट्र मे शान्ति नहीं होगी । व्यक्तिगत शान्ति के साथ ही देश की शान्ति जुडी हुई है ।

आप गुलाबी नगरी जयपुर के वासी हैं, यह नगर ही गुलाबी नहीं आप सब के दिल भी गुलाबी हो, परस्पर प्रेम व वात्सल्य हो, यही भावना है ।



## स्वसन्तुलन का नवनीत—समता

विश्व के सब प्राणियों को स्व-समान देखने की दृष्टि धर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । जो धर्मात्मा होगा, सम्यग्दृष्टि होगा, वह समताभाव से अवश्य देखेगा । मिथ्यादृष्टि ही भेदभाव करेगा, उसके परिणामों में समताभ आ ही नहीं सकता । यदि परिणामों में परिवर्तन न कर हजारों शास्त्रों का पारायण कर लें तो क्या लाभ ?

मंदिर में विराजित मूर्ति की रक्षा मानव करत है, यदि मानव स्वयं सुरक्षित नहीं होगा तो उस मूर्ति की क्या रक्षा करेगा ? जीवित मूर्तियों की रक्षा करे, उन्हें धर्म-प्राण बनाये ।

आध्यात्म के मर्मज्ञ, अनुभवी आचार्य, अमृतचन्द्र ने एक पक्ति ऐसी कही जो मनुष्य के लिये चिन्तनीय है, विचारणीय है । उन्होंने कहा—“पश्य आत्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरं” अर्थात्—हे भव्य ! विश्व के सब चर-अचर प्राणियों को अपने समान देख ।

विश्व के सब प्राणियों को स्व-समान देखने की दृष्टि धर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । धर्म के बिना यह सम्भव नहीं है । समान भाव से देखने में ही समताभाव उत्पन्न होता है और यह समताभाव ही धर्म है । समताभावी ही धर्मात्मा है, सिद्धात्मा है, तीन लोक के पदार्थ उनके ज्ञान में झलकते हैं, उन्हें देखने पर भी उनमें उनके प्रति सुख-दुःख का आभास नहीं होता । सुख-दुःख का आभास ससारी प्राणी में ही तरतमभाव से अनेकानेक

भेद लिये हुये हैं । एक मा अपने दो पुत्रों को समान-भाव से देखती है, तो सोचिये धर्मात्मा सबको कैसे समान-भाव से नहीं देखेगा ? जो धर्मात्मा होगा, सम्यग्दृष्टि होगा, वह समताभाव से अवश्य देखेगा । मिथ्यादृष्टि ही भेदभाव करेगा, उसके परिणामों में समताभाव आ ही नहीं सकता । देवसेनाचार्य ने कहा है कि धर्मात्मा के कोई शरीरगत विचित्रता नहीं होती जिससे उसे पहचाना जावे, उसे तो उसके अन्तरंग लक्षण समताभाव के द्वारा ही पहचाना जाता है, उसमें भेद-भाव, अपने-पराये के प्रति राग-द्वेष के भाव नहीं होते ।

जैसे-जैसे मनुष्य का चिन्तन बढ़ता जाता है, उसका क्षेत्र व्यापक होता जाता है, दृष्टि विशाल होती जाती है । अमृतचन्द्राचार्य चिन्तन करते-करते सम्यग्दर्शन की ऊँचाई पर पहुँच गये । समताभाव केवल ग्रंथ पढ़ने से नहीं आता, खरीदने से नहीं आता, यह तो स्व में डूबने से, दृष्टि जमाने से आता है । यह आसान भी है और कठिन भी है । लोक व्यवहार में देखते हैं कि—माँ अपने बच्चे को गिरते ही उठा लेती है, और सभालती है, उसे चुप कराती है, वह दूसरे के बच्चों के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार करे, यही समताभाव का, सम्यग्दर्शन के व्यवहारिक व प्रारम्भिक लक्षण है, क्योंकि वह स्व-समान, स्व-सदृश ही दूसरे प्राणियों को मम भ्रं रहता है, देख रहा है । समताभावी के विचार पवित्र व शुद्ध हो जाते हैं, उसके ज्ञान में सारा विश्व समा जाता है । भेद-भाव से समाज में फूट डालना, बुराई को देखना, उपयुक्त नहीं है । भेद में अभेद देखना भेद-ज्ञान है । भेद-ज्ञानी की दृष्टि में भेद-भाव न होकर अभेदपन होता है, उसका लौकिक जीवन भी पवित्र होता है । कोई व्यक्ति नित्य प्रति शास्त्र म्वाध्याय करे, धर्म पढ़े, चिन्तन करे, तत्त्व चर्चा करे और व्यापार में वस्तुओं में मिलावट करके बेचे, क्या धार्मिक व्यक्ति के सन्दर्भ में ऐसा सम्भव है ? और यदि ऐसा सम्भव है तो क्या वह धार्मिक है ? अन्तरंग व बहिरंग त्याग के बिना पूर्ण समताभाव की उपलब्धि असम्भव है, यदि ऐसा न होता तो तीर्थंकर घर क्यों छोड़ते ? सम्यग्दृष्टि घर में रहता हुआ एक कैदी की भाँति गिन-गिन कर दिन व्यतीत करता है, उदासीन दृष्टि से रहता है, 'भरतजी घर में ही वैरागी' कहना बहुत आसान है । किसी भी सिद्धान्त को पढ़ना पढ़ाना आसान है, उसके साथ देखना यह है कि उसे पढ़ने से परिणामों में निर्मलता कितनी आई, स्वानुभव में कितना उतरा ? सभी अपने जीवन में यात्राये करते हैं । यात्रा करने के बाद जीवन में परिवर्तन आना चाहिये, स्वयं में जो बुराईयाँ हो जैसे गाली देना आदि वे वही छोड़ आना चाहिये, तभी यात्रा सफल है । पहाड़ आदि तो द्रव्य तीर्थ हैं, आत्मा

ही सही असली तीर्थ है। उन पहाड़ों की यात्रा आत्म-शुद्धि के लिये ही तो करते हैं, यदि किंचित मात्र भी आत्म-शुद्धि नहीं हुई, बुराईया नहीं छूटी, अवगुण नहीं छूटे तो यात्रा करने से क्या लाभ है ? केवल उस पहाड़ का चक्कर लगा लेने से कुछ प्राप्ति नहीं होगी, उन पहाड़ों पर अनेको पक्षी-पशु, कीड़े-मकोड़े भी चक्कर लगाते हैं, उनको क्या लाभ होता है ? एक कन्नड कविता का भावार्थ है कि—जीवन में अनेक शास्त्र पढ़े, उनके पन्ने पलटते रहने से (वे पन्ने) जीर्ण हो गये, पर पढ़ने वालों के कर्म जीर्ण नहीं हुये। हमारे जीवन में, अन्तरंग में, बहिरंग में परिवर्तन करना होगा। हम देखते हैं कि शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है, पर आत्मा में शुद्धता की ओर कितना परिवर्तन हुआ है ? आख वन्द होने पर कोई किसी का नहीं है, इसके बाद कहा जन्मेगे इसका क्या पता है ? यदि परिणामों में परिवर्तन न कर हजारों शास्त्रों का पारायण कर लें तो क्या लाभ ? यदि परिणामों में निर्मलता नहीं आती है, तो सारा उद्यम व्यर्थ है।

एक रात कुछ व्यक्ति नाव में बैठे, उन्हें नदी के दूरे किनारे पहुँचना था। रात भर चप्पू चलाते रहे, अरुणोदय के समय थोड़ा प्रकाश होने से उन्होंने जानना चाहा कि हम किनारे पर पहुँचे या नहीं ? सामने देखा किनारा तो था, किन्तु वह नहीं था, जहाँ पहुँचना था, बल्कि वही था, जहाँ से चले थे, क्योंकि उन्होंने रात भर उद्यम तो बहुत किया, पर नाव की रस्सी, जो किनारे के पेड़ से बधी थी, उसे नहीं खोला था। इसी प्रकार जब तक जीवन में बुराईयों की गाँठ नहीं खोलेंगे, उसे नहीं छोड़ेंगे, तो क्या लाभ होगा ?

एक बार शिवाजी को युद्ध के लिये एक दुर्जेय पहाड़ पर चढ़ना था। उस पर चढ़ने का कोई साधन नहीं था। शिवाजी ने एक रस्सी के माध्यम से सारी सेना को ऊपर चढ़ाया और स्वयं भी चढ़ गये। चढ़ने के बाद उन्होंने सारी सेना के समक्ष वह रस्सी कटवा दी। सेनापति ने इसका कारण पूछा। शिवाजी ने बताया कि यदि यह रस्सी लटकती रही तो सैनिकों के मन में यह विचार आ जायेगा कि सकट के समय इस रस्सी से पुनः नीचे उतरा जा सकता है और इस विकल्प या विचार के कारण वे तत्परता से युद्ध नहीं कर सकेंगे, वीरता में पराक्रम नहीं दिखायेंगे। रस्सी के न रहने से वे यही विचार करेंगे कि—इस विकट पहाड़ से उतरने का कोई साधन नहीं, इसलिये अपने कर्तव्य के प्रति दृढ़ एवं तत्पर रहेंगे। मानव भी जब तक मोहरूपी रस्सी को न काटे तब तक धर्म-आध्यात्म व तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकता है ?



राहुल सांकृत्यायन ने 'अथातो घुमक्कड जिज्ञासा' में लिखा है कि — महावीर ने त्याग और तपस्या की, निर्द्वन्द्व विचरण किया, इसके लिये उन्होंने करतल भिक्षा, तरतल वास व दिक्-अम्बर अपनाया । महावीर किसी एक स्थान विशेष में न रहकर निर्द्वन्द्व विचरण करते रहे । किसी स्थान का मोह न छूटा, यह मेरा आश्रम, यह मेरा मठ है, ऐसा मोह न छूट सका तो केवल आध्यात्म की पुस्तकें पढ़ने से ही क्या होगा ? पुस्तकें तो कम्पोजीटर भी पढ़ता है । एक अनपढ़ व्यक्ति में एक अश निर्मोह हैं तो वह भी मोक्षमार्ग पर है ।

जैनाचार्यों ने तपस्वियों को एक ही स्थान पर रहने के लिये निषेध किया है । नहीं तो फिर तपस्वी व गृहस्थ में अन्तर क्या है ? यदि तपस्वी को वैभवादि से, मकान-जायदाद से मोह है तो गृहस्थ में व तपस्वी में क्या फर्क है ? सोना व पीतल एक रंग का होता है, पर उनके गुणों में ही तो फर्क है, अन्तर है । वल्लभभाई पटेल ने एक स्थान पर लिखा है कि—केवल पीले वस्त्र धारण करने से जैन नहीं हो सकता, अहिंसा के साथ, निष्ठा के साथ पवित्र भावना रखने से ही जैन हो सकता है ।

हमारे आचार्यों ने हमें बहुत साहित्य दिया है । आज भी अनेक लेखक हो रहे हैं । पर प्राचीन लेखकों, आचार्यों में व आधुनिक लेखकों में अन्तर है । प्राचीन पंडित लेखक—जैसे प० दौलतरामजी, प० टोडरमलजी आदि ने पहले स्वयं के जीवन पर सिद्धान्तों को उतारा तत्पश्चात् कागज पर अंकित किया । पर आज केवल कागज पर अंकित किया जाता है, लिखा जाता है, जीवन में नहीं उतारा जाता, जीवन में अंकित नहीं किया जाता । वे लोग अपनी अनुभूति के लिये, अपने सुख के लिये लिखते थे । अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—'स्वानुभूत्या चकासते' । तुलसीदासजी ने भी लिखा है कि—'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथा' । आचार्यों द्वारा प्रदत्त साहित्य का अध्ययन, चिन्तन और अनुभूति ही लाभप्रद है ।

हमें अपने साहित्य व सिद्धान्त की भी रक्षा करनी चाहिये । संस्कृत भाषा, साहित्य व उसमें निहित सिद्धान्तों की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है । यह आत्म-रक्षा का साधन है । बूढ़ा व्यक्ति, लकड़ी को बहुत सम्भाल कर रखता है । क्योंकि वह उसका सहारा है, उपकारक है । संस्कृत का पवित्र-साहित्य मुक्ति के पूर्व आत्मा का सहारा है अतः उस साहित्य की रक्षा करनी चाहिये ।

धर्म-मार्ग में निर्द्वन्द्व विचरण करने के लिये समाज में संस्कृत के विद्वान् तैयार करने होंगे । ईसाई धर्म व संस्कृति के प्रचार हेतु साठ लाख व्यक्तियों ने पादरी व नन्स वन अपना जीवन धर्म को समर्पित कर दिया । उनमें से अनेक पादरी व नन्स अपने देश व परिवार को छोड़ भिन्न देश, भिन्न भाषा होने पर भी यहाँ आते हैं और अनपढ़, गरीब व्यक्तियों को अत्यन्त वात्सल्य से धर्म पढ़ाते हैं, समझाते हैं ।

धर्म निष्कलक जैसे मानवों से चलता है, केवल अकलक जैसे से ही नहीं चल सकता है । निष्कलक ने धर्म के लिये स्वयं प्राणार्पण कर दिये । बड़े-बड़े आचार्यों ने धर्म की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग कर दिये । आत्म-रक्षा व धर्म-रक्षा परम्पर जुड़े हुये हैं ।

आप लौकिक-व्यवहार में, व्यापार में, रोग के इलाज में हजारों रुपये खर्च करते हैं । यदि विद्या व धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में दान देकर, एक-एक व्यक्ति संस्कृत व धर्म की शिक्षा के लिये, एक-एक छात्र के अध्ययन के खर्च का उत्तरदायित्व ले, संस्कृत व धर्म के विद्वान् तैयार करें, तो आगे आने वाली पीढ़ी के प्रति आप सही कर्तव्य निभायेंगे । एक विद्वान् हजारों लाखों को ज्ञान-दान देगा, मन्मार्ग बतायेगा । स्व-संस्कृति, स्व-धर्म, स्व-भाषा की रक्षा आपके ही हाथ में है ।

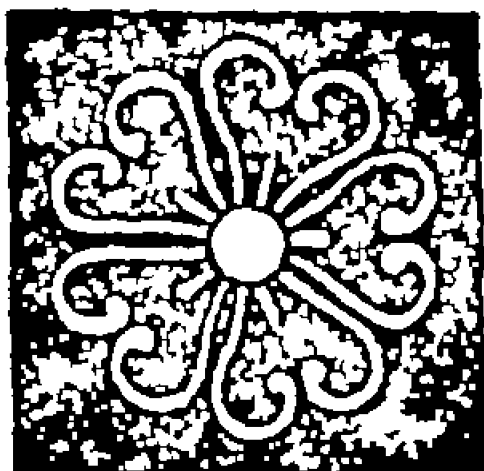
अत्यधिक भौतिक सम्पदा बढ़ने पर मानव इससे भी ऊँच जाता है, धर्म ही एक मात्र सहारा है, जो दुःख व संकट में सहायक होता है । आज देखते हैं कि वृद्ध व्यक्ति (रिटायर होने के बाद) धार्मिक चर्चाओं में रुचि लेने लगता है, धर्म से सम्बन्धित बात सुनना, समझना चाहता है, अर्थात् यही सहारा है, यह मान लेता है । यदि धर्म के प्रति प्रारम्भ से ही मन में रुचि व भावना हो तो कितना उत्तम हो । आपका धर्म है, पर उसकी विशेषतायें-विशिष्टतायें विदेशी या अन्य धर्मावलम्बी बताते हैं । हमारे सत्सिद्धान्त है, साहित्य है, पर यदि हम उसका प्रचार न करें, तो कैसे उसकी प्रभावना होगी ? जीहरी के पाम बहुत उत्तम हीरे मोती हैं, जब तक वह उन्हें बाहर नहीं निकालेगा, किसी को दिखायेगा नहीं, कोई खरीदार कैसे आयेगा ? आज हमें अनेकान्त, स्याद्वाद, अहिंसा आदि सिद्धान्तों का विश्व में प्रचार करना चाहिये । राष्ट्र-कवि रामधारीमिश्र दिनकर ने अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में एक स्थान पर कहा है कि - आज जहाँ दुनिया को पहुँचना था, वहाँ भगवान् महावीर व उनके अनुयायी पच्चीस सौ वर्ष पूर्व पहुँच चुके थे ।

आज हमने मन्दिर में मूर्तियाँ तो बहुत विराजमान कर ली, पर स्वयं को वहाँ तक नहीं पहुँचा सके। जीवित मूर्तियों की भी रक्षा करें, उन्हें धर्म-प्राण बनाये। मन्दिर में विराजित मूर्ति की रक्षा मानव करता है, यदि वह (मानव) स्वयं सुरक्षित नहीं होगा तो उस मूर्ति की क्या रक्षा करेगा ? जीवित प्राणियों की, मानवों की सुरक्षा के बिना धर्म कैसे चलेगा। भगवान् की मूर्ति आत्म-कल्याण का साधन है, पर उसका उपयोग करने वाले नहीं हों तो उस साधन का क्या उपयोग होगा ? वच्चो को कहानी के रूप में सरल-सहज रूप में धर्म की बात समझाइये।

आज न धर्म की चिन्ता है, न साहित्य की चिन्ता है, केवल शरीर की चिन्ता है। संस्कृत भाषा, धर्म की रक्षा के लिये संस्कृत कॉलेज की तन-मन-धन से सेवा कीजिये। एक वर्ष में पचास विद्वान् तैयार करने चाहिये, विद्वान् तैयार होने पर आपकी ही रक्षा होगी। एक बार गोपालदास वरैया ने 'जैनमित्र' में लिखा था कि—आप बीस विद्यार्थियों को तैयार कीजिये, पढ़ाइये, वे ही धर्म की रक्षा कर सकेंगे।

संस्कृति धर्म की रक्षा करने के लिये विद्वानों को तैयार करना परमावश्यक है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'सिद्धिविनिश्चय' की प्रस्तावना में लिखा है कि—आज देश में व्याप्त विकारों को दूर करना है, तो यह जैन-दर्शन व जैन-न्याय के पढ़ने से ही होगा।

हमारे विचार में सिद्धान्त तो उदार है पर हम स्वयं उदार नहीं हैं। स्वयं उदार न होकर न होकर ग्रन्थों का, तत्त्व सिद्धान्त का उपयोग न कर सकेंगे, तो यह कमजोर व्यक्ति के हाथ में तलवार देने के समान होगा। धर्म की रक्षा के लिये पुनीत कर्तव्य होगा कि—समर्थ व्यक्तियों को एक-एक विद्वान् को तैयार करने का उत्तरदायित्व ले लेना चाहिये, इसी से धर्म की, देश की, संस्कृति की रक्षा होगी। हमारे यहाँ संस्कृत साहित्य का भण्डार है, उसकी, धर्म की, संस्कृति की रक्षा, तन-मन-धन से करना आपका कर्तव्य है।



विभिन्न रामायणों में प्ररूपित—

## राम का जीवन आदर्श

धर्म का यथार्थ स्वरूप मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है, किन्तु जब धर्म में विकृतियाँ आ जाती हैं, तो वह तोड़ता भी है।

धर्म एक है, वह है वीतराग-धर्म। जो इसको समझता है, जीवन में उतारता है, वही धर्मात्मा है। किसी का भी तिरस्कार न करने का नियम लेने वाला, तिरस्कार न करने वाला, मेरी दृष्टि में धर्मात्मा है।

शान्ति बाहर प्रपञ्च में प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि शान्ति स्वयं में है, अन्तरंग में है। जब तक दिल में धर्म है, बहिरंग में कोई अशान्ति नहीं होगी, दुःख नहीं होगा।

लोकापवाद के भय से धर्म को कभी मत छोड़ना। धर्म के साथ ही अनुशासन है, धर्म के अभाव में नहीं।

धर्म का यथार्थ स्वरूप मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है किन्तु जब धर्म में विकृतियाँ आ जाती हैं तो वह तोड़ता भी है। मैं जहाँ भी जाता हूँ, प्रवचन सभायें होती हैं तो देखता हूँ कि सारी सभा शान्ति से बैठकर प्रवचन-धर्म वचन सुनती है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक आत्मा का स्वरूप शान्तस्वरूप है, वह शान्ति चाहता है। जब बहिरंग में, प्रपञ्च में देखते हैं तो चारों ओर अशान्ति ही दिखाई देती है, शान्ति कहीं नहीं प्राप्त होती है। शान्ति बाहर प्रपञ्च में प्राप्त हो भी नहीं सकती क्योंकि शान्ति कहीं बाहर नहीं है— शान्ति स्वयं में है, अन्तरंग में है।

इस जयपुर को सब गुलाबी नगरी कहते हैं, इसे बहिरंग से भले गुलाबी कहे पर जब तक इसके निवासी दिल से गुलाबी नहीं होंगे तब तक यह असली गुलाबी नगरी नहीं हो सकती। इसे गुलाबी बनाने के लिये आप लोगो को भी तपस्या करनी होगी। सोने को अग्नि में तपाने के बाद, छेनी से काटने के बाद ही आभूषण बनाकर पहना जा सकता है। मानव-जीवन भी तभी सुन्दर व स्वच्छ व निर्मल हो सकता है। जब वह तप तपे, तपस्या करे, कष्ट उठाये। पहाड़ चढ़ने में कठिनाई तो होती ही है पर यदि जीवन को उन्नत बनाना है तो जीवन में कष्ट, सहिष्णुता, परमत-विचार-सहिष्णुता इत्यादि बातों को जब तक ग्रहण नहीं करेंगे तब तक आप महामानव नहीं बन सकते।

इस देश में अनेक महापुरुष हुये हैं जिनमें पुरुषोत्तम राम भी हुये हैं। उनके जीवन-प्रवाह का प्रभाव समस्त एशिया की जनता के हृदय में है। राम ये दो अक्षर अजर-अमर बन गये, कल्पवृक्ष के समान फलप्रदाता बन गये, इस अजर-अमरता के पीछे राम का त्याग व तप है। विविध रामायणों को देखने के बाद ज्ञात होता है कि यदि उनको विना भेदभाव के सब स्कूल कॉलेजों में पढ़ाया जाये तो वर्तमान में शिक्षा में व्याप्त विषमतायें स्वयं दूर हो सकती हैं।

दशरथ ने जब राम को दण्डकारण्य में जाने की आज्ञा दी तो राम ने विना जवाब-सवाल किये, विना कुछ पूछे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करली। आध्यात्म रामायण में लिखा है कि जब लक्ष्मण को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने राम से कहा कि—आपको पिताजी ने वनवास दे दिया। राम ने कहा—नहीं वनवास नहीं, दण्डकारण्य का राज्य कहो, वनवास कहना पिताजी का अपमान करना है। आनन्द रामायण के अनुसार लक्ष्मण ने राम से कहा कि—मैंने धनुष धारण कर रखा है, मैं देखता हूँ कि कौन आपको आपके अधिकार से वंचित करता है? आप वन में नहीं जा सकते। तब राम ने कहा कि—हे लक्ष्मण! यदि हम राज्य के लिये परस्पर में लड़ेंगे, पिता से विरोध करेंगे तो कैसा इतिहास बनेगा, उससे लोग कैसी शिक्षा लेंगे। तुम धनुष छोड़ दो। तुम जिसके लिये (राज्य के लिए) धनुष उठा रहे हो, क्या वह अजर-अमर रहने वाली सम्पदा है? लक्ष्मण ने कहा—नहीं। जब वह अजर-अमर नहीं, तो उसके लिये लड़ना किसलिये। हमें तो अजर-अमर कार्य करना है जो इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाये और जिसे लोग अपना सकें, जो आदर्श बन सके।

वाल्मिकी रामायण में लिखा है कि—जब राम व लक्ष्मण वन को जाने लगे तो सीता भी साथ जाने को उद्यत हुई। राम ने उसे कोमलांगी होने के कारण अयोध्या में ही रहने के लिये कहा। वाल्मिकी ने लिखा है कि तब सीता ने कहा कि—(अग्रे गमिष्यामि) मैं वन में साथ चलूंगी। विपत्ति के समय पति के आगे रहकर राह के काटों को, ककरो को कुचलती चलूंगी, और सुख सम्पत्ति के समय आपके पीछे चलूंगी। जब कौशल्या ने सीता के ये शब्द सुने तो बहुत प्रसन्न हुई कि ये शब्द नारियों के लिये मानदण्ड बनेंगे और इतिहास का निर्माण करेंगे। सीता के ये विचार, उसके धर्म ज्ञान की देन थे। जिनसेनाचार्य ने कहा है—‘नारी गुणवती धत्ते स्त्रीसृष्टेर्ग्रिमपद’ जो विदुषी नारी होगी वह स्त्री जगत् में अग्रिम पद पायेगी।

सीता ने राम का वन में भी साथ निभाया। सव्या समय जलपान से निवृत्त हो रात्रि में शयन-व्यवस्था की तो लक्ष्मण की आंखों में आसू देख लक्ष्मण से पूछा कि उन्हें क्या कष्ट है? मैं दूर करूँ। लक्ष्मण ने कहा तुम मेरे कष्ट को दूर नहीं कर सकती। सीता के बहुत आग्रह पर लक्ष्मण ने कहा—राम जैसे पति, साथ में देवर है, दो राजकुलों में पली हुई तुम्हारे लिये आज विछाने के लिए कुछ नहीं है, तुम्हें जंगल में भूमि पर सोना पड़ रहा है, यह देख कर मैं दुःखी हूँ। सीता ने सोचा अभाव देख ये मेरे लिये दुःखी होते रहेंगे, यह सोच वह कहती है कि तुम्हें जितना दुःख है उससे हजार गुना दुःख मुझे है। तुम शूरवीर देवर, राम पति है, मैं स्त्री हूँ, यहाँ मैं और सब समान भूमि पर सो रहे हैं, इससे तुम्हारा अपमान हो रहा है। तुम्हें ऊँची भूमि मिलती, मैं जरा नीची भूमि पर सोती तो तुम्हारा विनय होता। उम दुःख को मुख में परिवर्तित करने की कला सीता में थी। यह कला उसने धर्म, आध्यात्मिकता में, परिवार से, माता-पिता से सीखी थी, ऐसे सस्कार इन्हीं से प्राप्त किये थे। घर के थोड़े से अभाव के कारण लोग दुःखी व चिन्तित हो जाते हैं और उम दुःख व चिन्ता में ही जीवन खत्म कर लेते हैं। वहाँ जंगल में उनके पास ओढ़ने-विछाने के लिए कुछ न था तब भी वे अत्यन्त प्रसन्न थे। क्योंकि उनके मन में धर्म विद्यमान था। जैन कवि बुधमहाचन्द्र ने लिखा है—

रामचन्द्र अरु सीता रानी, जाय वसे दण्डक वन में,  
बुधमहाचन्द्र कहु जाओ, धर्मों के धर्म सदा मन में।

यदि धर्म मन में है, दिल में है तो कहीं भी जाइये, घर में, मकान में, दुकान में, जंगल में, धर्म साथ रहेगा मंगलमय वातावरण रहेगा। यदि दिल से

धर्म निकल गया तो पति-पत्नी परस्पर लडने लगेंगे पिता पुत्र में कलह हो जायेगी, शिष्य अध्यापक में विवाद हो जायेगा । जब तक दिल में धर्म है, बहिरंग में कोई अशान्ति नहीं होगी, दुख नहीं होगा । यदि दुख आ भी जाये तो उसी क्षण वीतराग परमात्मा का ध्यान कर वह दुःखाभास दूर कर देगा ।

धर्म से निर्भीकता आती है । इहलोकभय, परलोकभय, मृत्युभय, आकस्मिकभय आदि सभी भयों से मुक्त होने में धर्म ही कारण है । वह धर्म हमारे आपके सबके मन में मौजूद है ।

राम, सीता व लक्ष्मण वन से आगे बढ़ते जाते हैं और बधिकपुत्री शबरी की कुटिया में जाकर उसका आतिथ्य स्वीकार करते हैं । हम जिन्हें आदर से नाम लेकर मन में विराजमान करते हैं वे महापुरुष आपकी भाषा में शुद्र की कुटिया में जाते हैं, उसका आतिथ्य स्वीकार करते हैं । वाल्मिकी रामायण में कहा गया है कि जाते समय राम शबरी को अजर-अमर होने का आशीर्वाद दे कर गये । कहा तो हमारा इतना पवित्र प्राचीन इतिहास, राम का आदर्श और कहा आज की मनोवृत्तियाँ हैं । पेशवा युग में महाराष्ट्र में कानून बनाया गया कि हरिजन यदि नगर में प्रवेश करते हैं तो वे वहाँ की भूमि पर थूक नहीं सकते । उन्हें थूकने के लिए अपने साथ गले में एक घड़ा बांधकर रखना होता था । मिट्टी में पाव के चिह्न भी बाकी न रहे इसके लिए उनकी कमर में एक एक भाड़ बांधनी होती थी । यह यूरोपियन इतिहास में उल्लिखित तथ्य है । वहाँ गधे, घोड़े, कुत्ते घूम सकते थे थूक सकते थे पर इन्सानों के लिए बधन व नियम थे । कहा राम का आदर्श और कहा यह सकीर्ण मनोवृत्ति । गंगा को पवित्र मानने वालों से पूछिये कि उसमें रहने वाले मेढक-मछली सब उस गंगा में ही शुद्धि करते हैं तब भी उस (गंगाजल) को पवित्र मानते हैं और इन्सानों को हेय समझते हैं ? मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि जब मेढक तिर सकता है, जटायु तिर सकता है, नाग-नागिन का भी एमोकार मंत्र से उद्धार कर सकते हैं तो आप इन्सानों से, अपने ही भाइयों से, पड़ोसियों से, द्वेष व मत्सर भाव क्यों रखते हैं ? और फिर कहते हैं कि हम धर्मात्मा हैं । धर्म इतना सस्ता नहीं है कि तिलक लगाकर या चावल चढ़ाकर या चार पत्ति (शास्त्र की) पढ़कर उसे खरीद लिया जा सके । हम छोटी-छोटी बातों को लेकर धर्म के नाम पर, बिना सोचे-समझे परस्पर तिरस्कार करते हैं ।



एक बार वर्षायोग के समय मैं बडौत में था। जन्माष्टमी सुगन्ध दशमी के दिन कुछ हरिजन महिलाएँ नहा-धोकर मेरे पास आईं और बोली कि—आज हमारा उपवास है, आप हमें आशीर्वाद प्रदान कीजिये, मैंने आशीर्वाद प्रदान किया। वे लोग सुगन्धदशमी के दिन फिर आईं और बोली आज भी हमारा उपवास है, हमें सुगन्धव्रत की कथा सुनाइये। मैंने कथा सुनाई। वे लोग मन्दिर के बाहर से गुजरती हैं तो मन्दिर-भवन को मस्तक नवाती हैं। उनकी भावनाएँ पवित्र हैं, वे इन्सान हैं फिर भी हम उनका तिरस्कार करते हैं। यदि उन्हें कुछ नहीं दे सकते तो कम से कम तिरस्कार तो नहीं देना चाहिये। केवल दो चार पुस्तकें, शास्त्र पढ़ने-लिखने से ही कोई बुद्धिमान या धर्मात्मा नहीं हो सकता, केवल इनके पढ़ने से ही क्या होगा। किसी का भी तिरस्कार न करने का नियम लेने वाला, तिरस्कार न करने वाला मेरी दृष्टि में धर्मात्मा है।

क्या दुनिया में ऐसा कोई धर्म है जो द्वेष करना सिखाता हो? धर्म जोड़ता है, तोड़ता नहीं। तोड़ना सिखाने वाला धर्म नहीं अधर्म है। तोड़ने की बात करने वाला, तोड़ने वाला, अधर्मात्मा है, जो ग्रन्थ तोड़ने की बात सिखाता है वह ग्रन्थ अधर्म-ग्रन्थ है। एक ओर तो कोई यह कहे कि सब एक परमात्मा के ही अंश हैं। कोई यह कहे कि सब आत्माएँ समान हैं, समता भाव रखिये और फिर कहे कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, यह मिथ्यादृष्टि है, तोड़ने की बात करे, क्या यह धर्म सम्मत मान्यता है। आप रेल के डिब्बे में, स्कूल में, कॉलेज में, आफिस में, विधान सभा में, सब जगह तो सबके साथ मिलकर बैठ सकते हैं पर धार्मिक स्थान पर एक साथ बैठते ही कहते हैं कि यह अमुक धर्मावलम्बी है, मेरा इससे कोई संबंध नहीं है। सब जगह मिलकर बैठ सकते हैं पर धर्म के लिए भेद-भाव करने लगते हैं। आज धर्म के अभाव में कलह होती है।

धर्म एक है, वह है वीतराग धर्म, उसमें दुनिया समा जाती है और जो इसको समझना है जीवन में उतारता है, वही धर्मात्मा है, परमात्मा है। दूध, फल, जल हरिजनों के लिए विपर्यय नहीं हो जाते। जब प्रकृति उनके लिए प्रतिकूल नहीं है तो धर्म कैसे प्रतिकूल हो सकता है? हमें अपने विचारों को, दृष्टि को विशाल बनाना होगा। आकाश अखण्ड है, हम सब उसकी छत्रछाया में रहते हैं, कोई उसका बटवारा, टुकड़े नहीं करता। मानव ने स्वयं ने अपने जीवन में बचन बना लिये, स्वयं दुःखी हो गया। हम देखते हैं

कि पाकिस्तान का कौवा (व अन्य पक्षी) भारत में, भारत का कौवा (व अन्य पक्षी) पाकिस्तान में विना किसी पासपोर्ट के, विना किसी रोक-टोक के आते जाते हैं। इसी प्रकार साप-विच्छ आदि पशु कीड़े-मकोड़े भी विना रोक-टोक के आते जाते हैं, उन्हें किसी पासपोर्ट की आवश्यकता नहीं है। पर मानव ने अपने लिए बवन बना लिए हैं। इससे ज्ञात होता है कि मानव सबसे अधिक सकीर्ण मनोवृत्ति का प्राणी है।

कहते हैं कि एक जंगल में चौबीस तीर्थंकरों का मन्दिर था। एक दिन उसमें एक वन्दर घुस गया। वह प्रतिमाओं को बहुत ध्यान से देखने लगा। भगवान् अभिनन्दन जी की प्रतिमा के वन्दर का चिह्न देखकर वह आश्चर्यचकित हुआ। उसने सब प्रतिमाओं को ध्यान से देखा। उसने पाया कि कहीं गाय, कहीं घोड़ा, कहीं हाथी, कहीं शेर। वह मन्दिर से बाहर गया और सब पशु-पक्षियों को मन्दिर में बुला लाया और जहाँ जिसका चिह्न था वहाँ बैठा दिया और स्वयं भी बैठ गया। उधर से एक महिला निकली तो दर्शन करने मन्दिर में गई, वहाँ का दृश्य देख वह तो मूर्च्छित हो गई। फिर एक सन्त पुरुष गुजर रहे थे, वे मन्दिर के दर्शन करने अन्दर गये, वे डरे नहीं, निर्भीकता से दर्शन करने लगे। जब वे अभिनन्दन भगवान् के दर्शन कर रहे थे तो वहाँ बैठे वन्दर ने उनके नमस्कार से खुश होकर, पाँव उठाकर आशीर्वाद प्रदान किया। उस व्यक्ति ने कहा—हम तुम्हें थोड़े ही भगवान् मानकर नमस्कार कर रहे हैं, जो तुम आशीर्वाद प्रदान कर रहे हो। वन्दर ने कहा—भगवान् नहीं मानते तो यहाँ पत्थर पर खुदवा क्यों रखा है। ये पत्थर की मूर्ति है, ये कौनसे भगवान् है? व्यक्ति ने जवाब दिया ये अभिनन्दन भगवान् हैं। वन्दर ने पूछा—ये कैसे पहचाना? उन्होंने कहा—वन्दर के चिह्न से। तब वन्दर बोला तभी तो हम कह रहे हैं कि हम भी भगवान् हैं। दोनों में कुछ देर विवाद चला। मानव ने कहा कि पशु-पक्षियों के आकार भिन्न हैं, मानवाकार एकसा है इसलिये मानव चिह्न न खुदवा पशु-पक्षियों के चिह्न खुदवा देते हैं। तब वन्दर ने कहा कि आज मुझे एक बात समझ में आ गई कि मनुष्य की बाह्यकृति एक-सी होती है, पशु-पक्षी की विभिन्न होती है। मनुष्य बाहर से एक समान होने पर भी अन्दर से एक नहीं है और पशु-पक्षी बाहर से पृथक्ता लिये हुये होने पर भी अन्दर से एक हैं। आज हम पशु से भी गया बीता निम्न स्तर का जीवन जी रहे हैं।

आगे जाने पर सीता का अपहरण हो गया। इससे राम अत्यन्त दुःखी

हुये । पउम-चरिय मे लिखा है कि तव पवन-पुत्र हनुमान ने वहाँ पहुँचकर राम से सीता की खोज निकालने की आज्ञा मागी । राम ने उन्हें अपनी अगूठी चिन्ह के रूप में (जिससे सीता यह पहचान ले कि यह राम का ही अनुचर है) दी और सीता की खोज के लिये भेजा । हनुमान कामदेव थे, अत्यन्त मनोहर रूप था उनका । प्लवग नामक विद्या के द्वारा ये अनेक रूप धारण कर लेते थे । सीता को खोजने के लिये उन्होंने इस विद्या से वन्दर का रूप धारण किया जिससे उन्हें लका में कोई रोक न सके । वहाँ पहुँच, उन्होंने सीता को खोज निकाला । सीता ने हनुमान को राम का अनुचर स्वीकार नहीं किया । सीता ने पूछा कि यदि तुम राम के अनुचर हो तो उनकी आदते, गुण व विशेषताओं के बारे में बताओ । तब हनुमान ने उनकी खान-पान सम्बन्धी विशेषताये बताई कि —

न मास राघवो भुक्ते न चैव मधु-सेवते ।

वन्य सुविहित नित्य भक्तमश्नाति केवलम् ॥

(वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड ३६/४१)

अर्थात्—“रामचन्द्रजी न मास भक्षण करते, न मधु का सेवन करते । वे तो केवल भली-भाति निष्पन्न किये हुये भात (चावल) का ही सेवन करते हैं ।” राम शाकाहारी हैं, हनुमान से यह सुन कर सीता को राम का अनुचर होने का विश्वास हो गया ।

महानुभावो । राम का नाम, महावीर का नाम लेने के अधिकार तभी है जब सब दुर्व्यसनो को छोड़ दे । राजस्थान में वर्तमान में शराबवदी की चर्चा भी बहुत हो रही है । दुर्व्यसन स्वयं के छोड़ने में छूटते हैं, केवल कानून बना देने में कुछ नहीं होता ।

हनुमान सीता का वृत्तान्त जानने के बाद राम व रावण में घनघोर युद्ध हुआ । यह युद्ध मृत्यु व अमृत्यु के मध्य, नीति व अनिती के मध्य था । रावण मारा गया । राम युद्ध स्थल में गये, माथ में विभीषण व अनेक अधिकारी थे । रावण के शव को देखकर एक पदाधिकारी ने उसे पैर से ठोकर मारनी चाही, राम ने उसे ऐसा करने में रोका और कहा कि—

माग्गान्तानि व्रैरानि यथा तव तथा मम ।

हम इक्ष्वाकुवशी इष्ट सिद्धि के पश्चात् वैर नहीं रखते । अब मैं रावण विभीषण का ही नहीं मेरे भी बड़े भाई के समान हूँ । जब मन्दोदरी को राम के विचार ज्ञात हुये तो उसने राम के चरणों में आकर कहा—

धन्या राम त्वया माता, धन्या राम त्वया पिता ।

धन्या राम त्वयो वशो, परदारान् न पश्यति ॥

और वह भी राम की भक्त बन गई ।

राम ने युद्ध में विजित भूमि विभीषण को सौंप दी और स्वर्णमय लका को छोड़ आये । राम को स्वर्ण आदि वैभव ने मोहित नहीं किया । वे तद्भव मोक्षगामी थे, इसलिये वैभव का मोह उन्हें न ग्रस सका । धर्मात्मा पर-वस्तु को अपनी नहीं समझते, न उनसे राग ही करते हैं ।

वनवास की अवधि समाप्त कर वे अयोध्या पहुँचे । मा प्यार से लक्ष्मण के शरीर पर हाथ फेर रही थी कि सहसा उसे लक्ष्मण के सीने पर एक छाला दिखाई दिया । उसने लक्ष्मण से उस छाले के बारे में पूछा । लक्ष्मण ने बताया कि युद्ध में मुझे वारण लगा था । मा ने कहा—बेटा बहुत दर्द हुआ होगा । लक्ष्मण ने कहा—मा, वारण मुझे लगा था, मैं मूर्च्छित था, पर दर्द भाई राम को हो रहा था ।

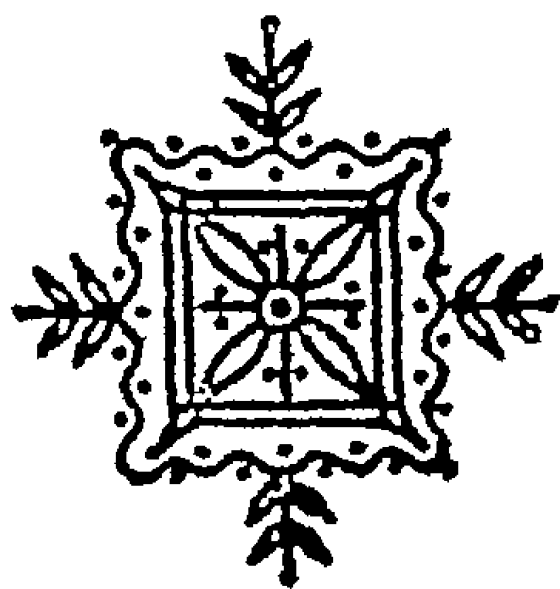
ऐसे थे वे दोनों भाई, जो दो शरीर, एक प्राण थे । यदि परस्पर भाई होकर भी एक दूसरे को धोखा दे तो क्या वे भाई हैं, क्या वहाँ धर्म है ? आप राम के जीवन से भ्रातृप्रेम की, भाईचारे की शिक्षा तो ग्रहण कीजिये । जो जीवन में अपने भाई को धोखा नहीं देता वह दूसरों को भी धोखा नहीं दे सकता, ऐसा मेरा विश्वास है ।

पुनः धोखे के अपवाद के कारण राम-सीता को वनवास के लिये भेजने लगे । लक्ष्मण ने इसका विरोध किया । राम ने कहा कि सत्य की सिद्धि के लिये मुझे सीता ही क्या राज्य को भी छोड़ना पड़े तो मैं छोड़ दूँगा । रविषेणाचार्य ने लिखा है कि कृतान्तवक्र नामक सेनापति दुखी मन से सीता को वन में छोड़ने गये । सीता को छोड़कर आते समय उन्होंने राम के लिये सन्देश पूछा । सीता ने कहा—उनके लिये यही सन्देश है कि जैसे लोकापवाद के कारण मुझे छोड़ दिया है, त्याग दिया है वैसे किसी लोकापवाद के भय से धर्म मत छोड़ बैठना ।

अग्नि परीक्षा के लिये सीता को अयोध्या बुलाया गया, जिसमें वह सफल हुई । पम्प रामायण में लिखा है तथा रविषेणाचार्य ने भी लिखा है कि—उस समय सीता ने राम से कहा कि हे राम ! मेरे कारण आपको कितने कष्ट उठाने पड़े । विवाह तक आप सुखी थे । विवाह के कुछ समय

पश्चात् ही आपको वनवास मिल गया । कहा तो आप प्रातः चक्रवर्ती होने जा रहे थे, कहा उसी सध्या काल में पेड़ के नीचे बैठे थे । वनवास में ही मेरे कारण रावण से युद्ध करना पड़ा । वहाँ से लौटते तो मेरे ही कारण एक धोवी ने आप पर अपवाद आरोपित किया । मुझे लगता है अशांति का कारण मैं ही हूँ । सीता ने स्वयं को दोषी मान कर सारा दोष स्वयं पर लेकर पति को निर्दोष सिद्ध कर दिया, उसने पति को परमात्मा बना दिया । वह सिद्धान्त को समझती थी, तत्त्वज्ञाता थी, धर्म को जानती थी, शुभाशुभ के परिणाम को भी समझती थी, इसलिये उसने स्वकर्मों का दोष दूसरों पर आरोपित नहीं किया । सीता के महान् जीवन से सब महिलाएँ यही आदर्श अपने जीवन में उतारें, शिक्षा ग्रहण करें कि जीवन में आने वाले छोटे-छोटे कष्टों को, अभावों को सहन करने की क्षमता रखें, उन्हें शांति के साथ सहन करें ।

मैं अपनी कर्नाटक यात्रा के दौरान पिछले दो महीने से इस शहर में हूँ । आप सब (यहाँ के निवासी) धार्मिक विचार वाले हैं, आप लोगों का व्यवहार बहुत अच्छा व धार्मिक है । राजस्थान में मरुभूमि में रहते हुये भी आप लोगों के दिल व दिमाग समताभावी हैं, आपकी सद्भावनाएँ मेरे साथ हैं मेरी सद्भावनाएँ आपके साथ हैं । आप लोगों के आचार-विचार धर्म व देश के अनुरूप हों, उत्तर-दक्षिण का भेद समाप्त हो, अखण्ड भारत सदैव धर्मात्मा बनकर विश्व के कल्याण में योगदान दे, मानवमात्र सुख शान्ति से रहे । आपकी बुद्धि धर्म में बनी रहे, यही भावना है ।



## अहंकार के आठ रूप

सम्यग्दृष्टि के, मद का एक भी अंश हो तो वह उसके सम्यग्दर्शन को, धर्मात्मभाव को कलंकित कर देगा, नष्ट कर देगा ।

ज्ञान वही है जो स्वहित करे व अहित हरे, यही सत्यज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है । ज्ञान होने के साथ, शोध करने के साथ, यदि जरा भी दुरभिमान हो तो वह ज्ञान निष्फल है ।

आचार्यों ने धर्म के जो नियम बताये हैं वे नियम मार्गकालिक व सार्व-भौम हैं । वे नियम, हर आत्मा को धर्मात्मा बनने के लिये उपादेय हैं । आचार्यों, तपस्वियों ने अपने चिन्तन के द्वारा प्रसूत तथ्यों को ग्रंथों में लिखा । अपने चिन्तन, मनन व अनुभव के द्वारा कुछ नियम बताये हैं । गृहस्थ हो या गृहविरत वे नियम प्रत्येक मानव के लिये सामाजिक, व्यावहारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी धरातल पर अत्यन्त उपयोगी हैं ।

आचार्यों ने बताया कि प्राणी में, मानव में आठ प्रकार के मद हो सकते हैं । इन मदों से जो मुक्त होगा वही धर्मात्मा कहलायेगा, सम्यग्दृष्टि कहलायेगा । रत्नकरड श्रावकाचार में आचार्य ने लिखा है—

ज्ञान पूजा कुल जाति, बलमृद्धि तपो वपु ।

अष्टवाश्रित्य मानित्व, स्मयमदुर्गतस्मया । २५

ज्ञानमद—थोड़े से ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अहं होना कि मैं बहुत ज्ञानी हूँ मेरे समान कोई ज्ञानी नहीं है ज्ञानमद है । भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में

एक स्थान पर स्वयं के लिये लिखा है कि—जब मैं थोड़ा जानता था तो मैं हाथी के जैसे गर्व से चलता था कि मुझसे बड़ा कोई ज्ञानी नहीं है और जब ज्यादा जानने लगा तो चीटी के जैसे चलने लगा, क्योंकि तब आभास हुआ, ज्ञात हुआ कि ज्ञान अनन्त है इसका कोई अन्त नहीं और इस अपेक्षा से मैं कुछ नहीं जानता ।

मनुष्य का ज्ञान तभी कार्यकारी है, तभी वह आत्मकल्याणक होगा जब उसका (ज्ञानका) मद नहीं होगा । जिस ज्ञान का मद है, वह ज्ञान अज्ञान रूप है, मिथ्याज्ञान है क्योंकि मद अज्ञान का अंश है । इसलिये धर्मात्मा के लिये पहली शर्त है नियम है कि—वह ज्ञानमद न करे, यदि हो तो उसका त्याग करे । जब ज्ञानमद नहीं होगा, ज्ञान मद रहित होगा तभी वह आत्महित के लिए प्रवृत्त होगा, बुद्धि का सदुपयोग करेगा । ज्ञानमद होने पर वह बाहर भटकेगा, तब वह ज्ञान, न स्वयं के लिये कल्याणकारी होगा और न पर के लिये । ज्ञान वही है जो स्वहित करे व अहित हरे, यही सत्य ज्ञान है, सम्यक्ज्ञान है ।

जिसने स्वहित किया है वही परहित का मार्ग बताने में समर्थ हो सकेगा । जो अपना हित नहीं कर सकता वह दूसरो का हित करने व हित का मार्ग बताने में कैसे समर्थ हो सकेगा ? जो स्वयं सूरदास : वह दूसरो को क्या दिखा सकता है ? पर ज्ञान में तिलतुष मात्र भी मान (कषाय) व मद नहीं होना चाहिये ।

बड़े-बड़े आचार्यों ने तपस्वियों ने चिन्तन से ज्ञान प्राप्त कर उसे ग्रन्थों में उत्कीर्ण किया और अन्त में लिखा कि—यदि मुझसे कुछ भूल हो गई हो तो विद्वान पाठक उसे सुधार लें । कितनी विनम्रता है ! ज्ञान हमें विनम्रता सिखाता है । विना विनम्रता के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये धर्मात्मा के लिये पहली शर्त है कि ज्ञान का मद न करे ।

पूजामद—द्वितीय शर्त है कि पूजा का मद न करे । बहुत से लोग मेरी पूजा करते हैं, सम्मान करते हैं, जयजयकार करते हैं इससे मद उत्पन्न हो जाये । व्यक्तिपूजक की चाह व मद वाले सभी नष्ट हो गये । राम, महावीर यदि व्यक्तिपूजा का मद करते तो आज तक उनका नाम न रहता । धर्मात्मा को, सम्यग्दृष्टि के पूजामद से दूर रहना होगा ।



**कुलमद**—यह मद होना, अभिमान होना कि मैं इस कुल में जन्मा हूँ। मेरा कुल इतना ऊँचा है। यह दिल से निकलना सहज नहीं है। सम्राट् चन्द्रगुप्त चाहते थे कि मैं लिच्छवीवंश की कन्या से ही विवाह करूँ और उन्होंने काफी बड़ी उम्र तक केवल इसीलिये विवाह नहीं किया। जब लिच्छवीवंश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया तो दुनिया में इस बात का प्रचार व प्रसार करने के लिये मिक्को पर स्वयं की व कुमारदेवी की तस्वीर अंकित कराई।

पिता की परम्परा को श्रेष्ठतम मानना उसका अभिमान करना ही कुलमद है।

**जातिमद**—माता के परिवार का मद करना जातिमद है।

कुलमद व जातिमद धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगो में अधिक होता है। पर चाहे कितना ही पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा करे, यदि कुलमद व जातिमद है तो वह कभी धर्मात्मा नहीं हो सकता।

राम ने जातिमद-कुलमद किया होता तो वे कभी भी वधिकापुत्री शत्रु की आतिथ्य स्वीकार नहीं करते, पर उन्हें ये मद नहीं थे इसलिये उन्होंने उसका आतिथ्य स्वीकार किया और उसे अमर होने का आशीर्वाद दिया।

**बलमद**—अपनी शारीरिक शक्ति का, ताकत का अभिमान करना बलमद है। अपनी शक्ति का प्रयोग दूसरे को कष्ट पहुँचाने में, विघ्न पहुँचाने में किया जावे वह कैसे धर्मात्मा हो सकता है ?

**ऋद्धिमद**—धन-वैभव का, ऋद्धि का मद करना, थोड़े से वैभव की प्राप्ति से दुरभिमान से भर जाना ही ऋद्धिमद है। महापुरुषों ने, महावीर ने, विशाल वैभव को क्षणभर में त्याग दिया, थोड़े से वैभव से गर्वित होना अज्ञानता का प्रतीक है।

**तपमद**—अपनी तपस्या के मद में डूब जाना। यह अभिमान करना कि मैं इतना बड़ा तपस्वी हूँ, मेरी तपस्या में इतना बल है, मैं अपने तप से अभी श्राव दे सकता हूँ ऐसी भावना वाला व्यक्ति धर्मात्मा कैसे हो सकता है ?

**वपुःमद**—अपने सुन्दर शरीर का अभिमान करना। अपनी सुन्दरता के पीछे गर्वोन्मत होना कि मैं अद्वितीय सुन्दर हूँ।

पर इस मुन्दर गरीर के अन्दर भी कभी भाका है कि यह अन्दर से कैसा है ? यदि मास-मज्जा के विद्रूप ढाँचे पर से यह मुन्दर चमड़ी हटा दें तो चील-कौवे इसके पीछे लग जायें और मनुष्य को जीवित न छोडे ।

जब तक अन्तरंग से ये मद न निकलें तो प्राणी धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? धर्मात्मा होने की, सम्यग्दृष्टि होने की प्रथम गर्त है इनका त्याग करना । इसीलिये ममन्तभद्राचार्य ने कहा कि इन मदों से रहित प्राणी ही धर्मात्मा हो सकता है ।

धर्म ऐसा सस्ता व आसान नहीं कि उसे खरीद लिया जा सके, मंदिर में चावल, फूल चटाकर उसे नहीं खरीदा जा सकता । धर्मात्मा होने के लिए इन आठों मदों को दिल से निकालना होगा । यदि अमृतमय लड्डू में एक भी अणु जहर का है तो वह ग्राह्य नहीं है, दूध के एक घट में जरा सा भी नमक डाल दिया जाये तो वह दूध काम का नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के, मद का एक भी अणु हो तो वह उसके सम्यग्दर्शन को, धर्मात्मभाव को कलंकित कर देगा, नष्ट कर देगा ।

बड़े-बड़े अनेक शोधकर्त्ताओं, वैज्ञानिकों ने अनेक खोजों के पश्चात् मद नहीं किया दुरभिमान न किया । ज्ञान होने के साथ, शोध-करने के साथ यदि जरा भी दुरभिमान हो तो वह ज्ञान निष्फल है । हम सर्वप्रथम 'मैंने किया' यह दुरभिमान, मान-कपाय व मद छोड़ने के बाद ही धर्म में प्रवेश कर सकते हैं । जैसे मोन्टेसरी स्कूल में प्रवेश लेने वाले बच्चे अल्पज्ञानी व छोटे होते हैं, उसी प्रकार इन आठों मदों को छोड़ने पर धर्म के मोन्टेसरी स्कूल में हमारा नाम दर्ज होगा । अभी हम धर्मात्मा नहीं हुये, अभी केवल प्रवेश मिला है ।

इन मदों का चिन्तन कीजिये । विचार कीजिए कि मुझ में कितने मद हैं ? उन्हें दूर करने के प्रयत्न कीजिए । जीवन में कदाचित् उनमें से कोई मद पुनः जागृत हो जाये तो फिर उसे हटाने का प्रयास करें ।

एक बार रेल के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में गांधीजी व सरोजनी नायडू यात्रा कर रहे थे । उस समय गांधीजी इनमें प्रसिद्ध न थे । डिब्बे में दो-तीन युवक भी बैठे थे, उन्होंने पान खाकर वही डिब्बे में उसका पीक थूक दिया । उनके कुछ छोट्टे उछलकर गांधीजी की धोती पर लग गए । सरोजनी नायडू को यह बुरा लगा, वे कुछ कहने को उद्यत हुईं । पर गांधीजी ने मना कर

दिया । युवको को गर्व हुआ कि हमने इस बूढ़े के कपड़ों पर भी छीटे लगा दिये, हम तो नवयुवक हैं, हमें कौन रोक सकता है ? उन्होंने दोबारा थूका, तब गांधीजी ने अपनी अजली आगे करते हुए कहा कि आपको कुछ तकलीफ है, आप इसमें थूक दीजिए, मैं डिब्बे से बाहर फेंक दूंगा । युवक कुछ शर्मा गए । जब गांधीजी का गन्तव्य स्थान आया तो उन्होंने देखा कि गांधीजी को लेने स्टेजन पर बहुत से व्यक्ति आए हैं, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये सज्जन गांधीजी थे, तब वे बहुत शर्मिन्दा हुए ।

आज हमारे युवावर्ग में दुरभिमान व्याप्त है उन्हें भी इन आठों मद्दों से, दुरभिमान से दूर रहने की शिक्षा देने की अत्यन्त आवश्यकता है यह दुरभिमान मानव को चूर-चूर कर देता है । हिटलर इतना शक्तिशाली था किन्तु दुरभिमान ने उसका सर्वनाश कर दिया, उसे कलकित कर दिया ।

कुछ वर्ष पूर्व जर्मन से एक दल आया था, वह दल जब मेरे पास आया तो मैंने उनसे पूछ लिया कि आपके व आपके देशवासियों के, हिटलर के बारे में क्या विचार हैं । उन्होंने कहा हम जर्मनवासी हिटलर का नाम लेना भी पसन्द नहीं करते, आप क्यों हमें उसकी याद दिलाते हैं ? पर बम्बई में ऐसे पाँचसौ दुकानदार-व्यापारी हैं जो हिटलर का नाम लेकर ही अपना प्रत्येक कार्य सम्पन्न करते हैं । उनका कहना है कि यदि यह व्यक्ति न होता तो आज हम करोड़पति नहीं हो सकते थे । हम दिवाला निकालने वाले थे कि हिटलर ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया, महगाई बढ़ गई, सब सामान दुगुना महगा हो गया जिससे हम दिवाला निकालने से बच गए और करोड़पति हो गये । इसलिए वे हिटलर को अपना भगवान मानते हैं ।

मनुष्य के स्वार्थ विचित्र है । नि स्वार्थ जीवन बिताने के लिए, जीवन को उन्नतशील बनाने के लिए, धर्मात्मा बनने के लिए इन मद्दों को, दुरभिमानों को त्यागना होगा ।



## स्वदोष शमन ही उन्नति का सोपान है

मनुष्य के जीवन में सब वैभव हो पर धर्म व शांति न हो तो वह जीवन शुष्क है, निष्प्रयोजन है व पशुवत् है। कोई भी, तत्त्वचर्चा व धर्मध्यान की विधि बताने में सहायक हो सकता है, पर एकाग्र स्वयं को ही होना होगा। प्रपंच के कार्यों के लिये साथी की आवश्यकता है पर धर्मध्यान अकेले, एकान्त में, एकाग्रता से करना होगा। स्वयं के कर्म स्वयं ही धो सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं और करने होंगे। परमात्मा किसी के कर्म नहीं धो सकता, नष्ट नहीं कर सकता। परावलम्बन ही दुःख का कारण है।

जब भगवान की भक्ति में, उनके गुणों के चिन्तन में स्वयं लीन होंगे तभी पाप नष्ट होंगे। जब भक्ति से चित्त की शुद्धि होती है तभी उससे कर्म नष्ट होते हैं। ससार समुद्र से पार होने के लिये, दुःख से पार होने के लिये, शांति प्राप्त करने के लिये साधनों को भी त्यागना होगा। साधन छोड़े बिना इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते। आत्मानुभव के बाद शास्त्रों की, मनन की, चिन्तन की कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञान सबके पास है, पर धर्मध्यान का एक अंश भी आत्मसात करले, पचालें तो सब पापकर्म नष्ट कर सकते हैं।

मानव—मस्तिष्क, विचारों का विश्वविद्यालय है। प्रत्येक मानव निरन्तर जीवनभर चिन्तन करता रहता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में (शास्त्रों

में) ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग कहा है । ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो चिन्तन-शून्य हो । यह पृथक् बात है कि चिन्तन की दिशाये अपनी-अपनी हाती है अतः इनमें भिन्नता हो सकती है । चिन्तन का मूल आधार एक है, सब मनुष्य अपने चिन्तन के फलस्वरूप शांति चाहते हैं । ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो शांति की चाह न रखे । इसी प्रकार समस्तभद्र स्वामी के चिन्तन से प्रसूत श्लोक हैं—

स्वदोष शान्तया विहितात्मशान्ति शान्तेर्विधाता शरण गतानाम् ।

भूयाद्भूव-क्लेशमयोपशान्त्यं शान्तिजिनो मे भगवन् शरण्य ।८०।

(बृहदस्वयम्स्तोत्र)

जब मनुष्य स्व-दोषों को शांत करता है, शमन करता है तो अन्तरंग में शान्ति स्वयं ही प्रकट होती है, अन्यथा बहिरंग में कहीं शांति नहीं है । शांति स्वयं में है, अपने में है, इसलिये अपने को देखना है, अपने को खोजना है । परन्तु फिर भी जब तक मनुष्य संसार में जीता है, जन्म से मरण के बीच के काल में वह पर पदार्थ के संयोग को सर्वथा त्याग भी नहीं सकता । जब भी कभी सर्दों महसूस करते हैं तो धूप में जाकर खड़े हो जाते हैं, गर्मों महसूस करते हैं तो वहाँ से हट जाते हैं, इसी प्रकार कभी सुख अनुभव करते हैं, कभी दुःख अनुभव करते हैं, जीवन का यही क्रम चलता रहता है ।

प्रत्येक वस्तु के सेवन की एक मात्रा होती है । भोजन में उचित मात्रा में नमक डाला जाता है, तो वह स्वादिष्ट लगता है, यदि उसमें दो-तीन मुट्ठी नमक डाल दिया जाये तो वह भोजन ग्राह्य नहीं रहेगा । चतुर पाकशास्त्री व रसोइये भोजन को स्वादिष्ट बनाने हेतु हिसाब से नमक डालते हैं । खाने वाला पाककला नहीं जानता किन्तु फिर भी नमक का कम ज्यादा होना बता देता है ।

भोजन में नमक न हो तो भोजन स्वादिष्ट नहीं लगता, ऐसा आप सब मानते हैं । इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में सब वैभव हो पर धर्म व शान्ति न हो तो वह जीवन शुष्क है निष्प्रयोजन है पशुवत् है । कभी रसोई-घर में एक साथ दो व्यक्ति काम करते हैं और दोनों ही भोजन में नमक डाल देते हैं तो वह भोजन ग्रहणीय नहीं रहता । इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में जब पर पदार्थों का संयोग होगा, दूसरे का संयोग होगा तो वहाँ अशान्ति होगी, वार्ता होगी, कलह होगी । इसलिये मन्दिरों में, उपाश्रयों में, एकान्त में शांति से बैठकर धर्माध्यान करने के लिये कहा गया है । धर्माध्यान में कोई सहायक नहीं

हो सकता, कोई भी तत्त्वचर्चा एवं धर्मव्यान की विधि बताने में सहायक हो सकता है पर एकाग्र स्वय को ही होना होगा। परावलम्बन ही दुःख का कारण है। व्यान में स्वावलम्बी होना होता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है—एक व्यक्ति कही जा रहा था, उम्मे दूसरे व्यक्ति ने कहा कि—अकेले मत जाना, किसी को साथ लेकर जाना। यह सुनकर कुन्दकुन्द मुस्कराते हुये बोले—आप जब इस दुनिया में आये तो किसी को साथ लेकर नहीं आये थे, जब जाओगे तब किसी को साथ नहीं लेकर जाओगे तो इनके बीच में क्यों किसी का साथ चाहते हो? प्रपञ्च कार्यों के लिए साथी की आवश्यकता है पर धर्मध्यान अकेले, एकान्त में एकाग्रता से करना होगा। स्वय के कर्म स्वय ही धो सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं और करने होंगे, परमात्मा किसी के कर्म नहीं धो सकता, नष्ट नहीं कर सकता। अपना पेट भरने के लिये स्वय को ही भोजन करना होगा, चबाना होगा, पचाना होगा, तभी रक्त बनेगा। आपके बढले दूसरा व्यक्ति भोजन करले तो आपका पेट नहीं भर सकता, आपके द्वारा खाया हुआ अन्न ही आपको फल देगा। खाया हुआ अन्न यदि पचता नहीं है, उसका रक्त नहीं बनता तो वह अन्न भी आपका नहीं है, उसको चबाने आदि का परिश्रम व्यर्थ का है। ज्ञान भी आपको स्वय को प्राप्त करना होगा। आचार्य ने कहा है कि—

**हेयोपादेय विज्ञान न चेत् व्यर्थश्रमश्रुतौ**

अर्थात्—हेय—उपादेय को जाने बिना, उपादेय को ग्रहण किये बिना, अनुभव किये बिना आपका अव्ययन, मनन, चिन्तन, परिश्रम व्यर्थ है। जैसे डाक्टर स्वास्थ्य के बारे में खाने की मात्रा नहीं पूछता, पचने की मात्रा पूछता है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्ति के लिये, वर्मात्मा बनने के लिये बहुत सारे ज्ञान की आवश्यकता नहीं मानी। उपनिषद् में लिखा है—‘ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्,’ परिशुद्ध ज्ञान की एक चिनगारी भी ममस्त कर्मों को खत्म कर सकती है। जैनाचार्यों ने लिखा है कि—व्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्ममान् कुरुते क्षणात्’। यहाँ ज्ञान व व्यान के अर्थ में अन्तर नहीं है केवल शब्दों का अन्तर है, अर्थ समान है। सुमेरु पर्वत जितने बड़े रुई के ढेर को अग्नि की एक चिनगारी जलाने में सक्षम है। आपके मन में जरा भी धर्म का अंग हो तो वह आपके पापों को नष्ट करने में सक्षम है। ज्ञान सबके पास है पर धर्मव्यान का एक अंग भी आत्मसात कर लें, पचाले तो सब पाप कर्म नष्ट कर सकते हैं। इसीलिये समन्तभद्र स्वामी ने स्वदोषशान्ति के लिये लिखा है।

अपने दोषों को नष्ट करने पर ही शांति मिलेगी। बहिरंग में दुनिया भर के दोष समाप्त करने चले तो शांति मिल ही जायेगी यह निश्चित नहीं है। गली-मुहल्ले में सफाई करे भाड़ू मारे पर स्वयं के घर की सफाई न करें तो घर तो गदा ही रहेगा। अपने घर से ही सफाई प्रारम्भ करनी होगी। पहले स्वयं के दोष स्वयं को ही शांत कर करन होंगे।

केवल भगवान की भक्ति से ही पाप नहीं नष्ट होते। जब भगवान की भक्ति में, उनके गुणों के चिन्तन में स्वयं लीन होंगे तभी पाप नष्ट होंगे, जब भक्ति से चित्त शुद्धि होती है तभी उससे कर्म नष्ट होते हैं। यह भी साधन है यह भी छूट जायेगा। साधन छोड़े बिना इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते। नाव किनारे पहुँचने का साधन है, यदि किनारे पहुँचने पर भी उस नाव को न छोड़े तो वह पुनः दूसरे किनारे पर आ जायेंगे, उसे बिना छोड़े पार नहीं हो सकेंगे। इसी प्रकार ससार-समुद्र से पार होने के लिए, दुःख से पार होने के लिए, शांति प्राप्त करने के लिए साधनों को भी त्यागना होगा।

मानव जीवन में धर्मध्यान करते समय अनेक बाधाएँ आती हैं। पूर्व कर्मफल से धार्मिक व्यक्ति के जीवन में भी कई बाधाएँ आती हैं जो उसे मार्ग से थोड़ा सा भटका सकती है, पर इन बाधाओं से धर्मध्यान नहीं छोड़ना चाहिए। घोड़े पर सवार होने वाला ही गिर सकता है, पर क्या इसमें डरकर कोई घोड़े पर चढ़ना छोड़ देते हैं? क्या दुर्घटना के डर से रेल में बैठना छोड़ देते हैं? क्या हानि के डर से व्यापार करना छोड़ देते हैं? जब व्यवहार में बाधाओं के डर से कार्य-कलाप नहीं छोड़ते, नाना विपत्ति-सकट आने पर भी उनको नहीं छोड़ते तो केवल धर्म ही क्यों छोड़ देते हो? धर्म के जो सस्कार हैं वे व्यर्थ जाने वाले नहीं हैं, वे अवश्य ही कार्यकारी होंगे।

जब तक स्वानुभव नहीं होगा। तब तक सकट आयेंगे और तब तक साधन का भी सहारा लेना होगा। इष्ट तक पहुँचने के पूर्व साधन नहीं छोड़ना है। इष्ट पर पहुँचने के बाद साधन स्वयं छूट जाते हैं। आत्मानुभव के बाद शास्त्रों की, मनन की, चिन्तन की कोई आवश्यकता नहीं है।

एक ऊँचे वृक्ष पर एक वृद्ध राजहंस बैठा था। राजहंस पक्षी बुद्धिमान होता है, वह ऊँचाई पर ही जाकर बैठता है, जिससे शिकारी उसका शिकार न कर सके। एक दिन राजहंसों के बच्चे पास के छोटे वृक्ष पर आकर बैठ गये। वृद्ध राजहंस ने उन्हें कहा कि—तुम किसी ऊँचे वृक्ष पर बैठो, नहीं तो तुम



फस जाओगे । बच्चों ने उसका मजाक बनाया और कहा कि यदि शिकारी आ भी जायेगा तो हम तो उड़ जायेंगे, हम तो अभी शक्तिशाली हैं । वृद्ध चुप हो गया । एक दिन रात में एक शिकारी ने उन बच्चों पर जाल डाल दिया । प्रातः जब वे उठे तो अपने को फसा हुआ पाया । वृद्ध ने कहा—अनुभव न होने व सीख न मानने से तुम फस गये । बच्चों ने अपनी गलती स्वीकार कर ली और बोले कि—हम तो अनुभवहीन हैं इसलिये फस गये, पर अब तुम्हारा अनुभव, बुद्धिमानी तभी है जब हमें इससे बचाओ । वृद्ध ने कहा—जब शिकारी आयेगा तो मैं तुम्हें इशारा कर दूंगा, उस समय तुम सब आखें सफेद कर लेना, पेट फुला लेना, टांगे अकड़ा लेना । शिकारी आयेगा, तुम्हें मरा हुआ समझ कर जाल भटक देगा, उस समय तुम सब एक साथ उड़ जाना । थोड़ी देर बाद शिकारी आया, उन्होंने ऐसा ही किया और बधन मुक्त हो गये ।

मनुष्य के जीवन में जब तक अनुभव न हो तब तक लाभ नहीं । अनुभव प्रत्येक क्षण, प्रत्येक वस्तु से प्राप्त नहीं कर सकते हैं । केवल शास्त्रों को पढ़कर ही अनुभव प्राप्त नहीं करते । शास्त्र तो गूढ़ बातें बताता ही है । हमें अपने रास्ते में पड़े पत्थर से ठोकर खाकर पुनः ठोकर न खावें ऐसी शिक्षा लेनी चाहिये । जीवन में अनेक बुराईयाँ व दोष आते हैं, उनके शमन के लिये शास्त्र साधन हैं, आदर्श हैं, मार्गदर्शक हैं । तत्त्वज्ञान ही जीवन में उतारना चाहिये यही साथी है, सहायक है । आख वन्द ही जाने पर वैभव, मोटर, मकान, हाथी घोड़ा कोई भी साथ नहीं जाता, यह चमड़े का ढाँचा, जिसे साथ लेकर आये थे वह भी साथ नहीं जाता । पारिवारिक जन, प्रियजन भी श्मशान में ले जाने की व्यग्रता प्रकट करते हैं ।

जिस पेड़ पर फल-फूल व पत्ते नहीं होते उसकी कोई कीमत नहीं होती उसी प्रकार विना सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र के आत्मा भी कीमती नहीं (बन रहा) । पक्षी है, पर यदि उसके पख नहीं है तो वह उड़ नहीं सकता, इसी प्रकार जीवन में सिद्धालय तक की उड़ान भरने के लिये निश्चय व व्यवहार नय के पंख लगाने होंगे । सर्वथा एक पख से उड़ान नहीं भरी जा सकती ।

कुआ खोदते चले जायें पर उसमें पानी न निकले तो सारा परिश्रम व्यर्थ है । सारा जीवन जी लिया किन्तु धर्मव्याप्त नहीं किया तो वह जीवन विना पानी के कुएं के समान है । एक-एक ईंट रखकर मन्दिर शिखर तक पहुँच जाता है, जीवन में एक-एक गुण को ग्रहण करेंगे तो जीवन भी अपनी

ऊँचाइयो तक पहुँचेगा, उन्नतशील होगा। गुणों की प्राप्ति से ही मनुष्य जीवन श्रेष्ठ होता है। गुणों को छोड़ देंगे तो खाली हो जायेंगे। प्रयास करके एक-एक गुण की प्राप्ति करने पर जीवन उन्नत होगा, दृष्टि की प्राप्ति होगी, सफलता मिलेगी। इसलिए पूज्यपाद आचार्य ने लिखा है कि—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिर्नुति सङ्गतिः सर्वदायैः,  
सद्वृत्तानां गुणागणकथा दोषवादे च मौनम् ।  
सर्वस्यापि प्रियहित वचो भावनाचात्मतत्त्वे,  
सपधन्तां मम भवभवे याददेतेऽपवर्गः ।

नित्य शास्त्रों को पढ़ना चाहिए, वीतराग परमात्मा के गुणों का चिन्तन करना चाहिए कि ऐसे गुण मेरी आत्मा में भी प्रगट हों। क्षणभर के लिए ही सही, पर सत्पुरुषों की संगति अवश्य करनी चाहिए। जीवन में कोई न कोई नियम होना चाहिए। बिना नियम के जीवन बिना गाँठ की सिलाई के समान है, जो अथक प्रयास के बाद भी बिना सिला ही रह जाता है। गुणी व्यक्तियों का गुणवानों का गुणगान करना चाहिए, प्रशंसा करनी चाहिए। गुणवानों व गुणगानों को श्रवण भी करना चाहिए। जहाँ किसी के दोषों की बात आ जाए वहाँ मौन हो जाना चाहिए। जीवन बहुत जटिल है, इसलिए परदोष की बात आने पर मौन हो जाना चाहिए। ऐसे समय में आप बोलेंगे तो आप शब्दों के गुलाम हो जायेंगे, सुनने वाले आपकी बात के अनेक अर्थ निकालेंगे इसलिए दोष के समय मौन ही रहो। यदि बोलना भी हो तो असदिग्ध भाषा में बोलो जिससे कोई उसका कुअर्थ न कर सके। सब प्राणी मात्र के साथ प्रिय, हितकारी, औचित्य (उचित) व हितमित शब्द ही प्रयोग कीजिए (औचित्य शब्द अच्युत से बना है, अच्युत का अर्थ है परमात्मा, जो अपने गुणों व स्थान से कभी च्युत नहीं होते,) ऐसे औचित्य सिद्ध होने वाले, कुअर्थ न हो सकने वाले शब्दों का ही प्रयोग कीजिए।

भावना सदैव यही रहनी चाहिए कि—हे भगवान् ! मैं कुछ नहीं चाहता। मैं यही चाहता हूँ कि जबतक ससार के दुःखों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक उपर्युक्त सभी बातें मेरे साथ रहे, यही मेरी भावना है, कामना है। भौतिक सम्पदा की अपेक्षा आत्मिक गुण ही मेरे साथ रहे, यही चाह है।

## कर्तव्य पालन करें, साधन स्वतः जुटेगे

छोटा सा दीपक रातभर अंधेरे से लडकर प्रकाश का प्रसार करता है। अपनी शक्ति, साधन व बुद्धि के अनुसार निर्लेप भाव से, निरपेक्ष भाव से, निष्काम भाव से पर-सेवा करे।

कार्य करने वालों के साथ साधन स्वयमेव जुट जाते हैं।

आप सब लोग इस बात को भलिभाति समझते हैं कि — हमारे समक्ष जो यह विशाल-विश्व है, वह अनादि है। हमारे जो चिन्तक एवं सर्वज्ञ हुये हैं उन्होंने इस पृथ्वी-मण्डल पर रहने वाले प्राणियों के सम्बन्ध में, अपने चिन्तन के आधार पर बताया है कि—यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। इस तथ्य को उनकी आचार्य-परम्परा ने शास्त्रों में अंकित किया।

चौरासी लाख योनियों में जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे केवल कर्मफल चेतना को ही भोगते रहते हैं, उन्हें ज्ञानचेतना का कोई भान नहीं। कर्मफल-चेतना अर्थात् अपने किये हुये जो शुभ-अशुभ भाव हैं अनादि से उन्हीं को भोगते चले आ रहे हैं और उनके द्वारा नये कर्मों का वध करते जा रहे हैं। दो इन्द्रिय से कर्मचेतना प्रारम्भ हो जाती है। उनको असपर्याय कहा है। अस शब्द का अर्थ है — जो त्राम से भय से भयभीत होकर इधर-उधर भागते फिरें, भटकते रहे। दो-इन्द्रिय जीवों से पचेन्द्रिय जीवों तक त्रस-पर्याय है। पचेन्द्रिय जीव में सजी व असजी, दो भेद हैं। मनुष्य सजी पचेन्द्रिय है।

समस्त जीव-जगत् में मनुष्य-गति सर्वोच्च श्रेष्ठ मानी गयी है क्योंकि मनुष्य ही इस मारे चिन्तन को समझ सकता है, जान सकता है और इन (चौरासी लाख योनियों के) कष्टों में वचन के लिये पुरुषार्थ भी कर सकता

है । इसके लिये यही प्रमाण है कि उसने (मनुष्य ने) अपने अनुभव से मन-वचन-काय की शुद्धि के उपाय ढूँढ लिये हैं । काय की नीरोगता के लिये उसने अनेक प्रयत्न किये हैं अनेक रोगों का पता लगाया है और उससे मुक्ति के लिये चिकित्सा-विधि भी खोजी है । इसीसे वह सन्तुष्ट नहीं हुआ इसलिये अपनी वाणी (वचन) को परिशुद्ध बनाने के लिये शब्दानुशासन की रचना की । शब्दों के प्रयोग व उच्चारण के कुछ नियम हैं, वधन हैं । स्वस्थ सामाजिक मनुष्य की वाणी को उन नियमों की परिपाटी में बाधने के लिये शब्दानुशासन का निर्माण किया गया । शब्दों का शरीर व आत्मा पर अत्यधिक (अच्छा बुरा) प्रभाव पड़ता है ।

शरीर की नीरोगता व शब्दानुशासन से ही सन्तुष्ट न होकर मन की, चैतन्य मन की, आत्मा की नीरोगता के लिये आत्मानुशासन की खोज की । हमारी आत्मा में अनेक, व्यर्थ के विकल्प उठते रहते हैं । उन विकल्पों के कारण मानव-जीवन की शांति भग्न हो जाती है, अशांति उत्पन्न हो जाती है । उस अशांति से आत्मा को निर्मल बनाये रखने के लिये, परिणामों की शुद्धि के लिये आचार्यों ने जो मार्ग बताया, दिखाया वही आत्मानुशासन है ।

परिणामों की शुद्धि के लिये उन्होंने कहा कि अशुभ-भाव छोड़ें, शुभ-भाव रखें । शुभ-भाव में ही स्थिर न रहते हुये, इससे भी आगे बढ़ते हुये कहा कि 'शुद्ध-भाव' रखें, जिससे आप अपने गन्तव्य तक पहुँच सकें, आत्मा से परमात्मा बन सकें, सदैव के लिये अन्तरंग-बहिरंग रूप से नीरोगी हो सकें ।

मनुष्य जन्म लेता है, जन्म के साथ मृत्यु निश्चित है । जन्म में मृत्यु भी निहित है । जन्म व मृत्यु के बीच का समय अत्यन्त सघर्षमय है । सघर्षों में कुछ अन्तरंग सघर्ष होते हैं तो कुछ बहिरंग सघर्ष । जीव अनादि से इन सघर्षों के बीच भव-भ्रमण करता आ रहा है ।

सूर्य अस्त होने से पूर्व विवेकी दीपक जला लेते हैं । छोटा सा दीपक रात भर अंधेरे से लड़कर प्रकाश का प्रसार करता है और प्रातः बुझ जाता है अथवा बुझा दिया जाता है । इसी प्रकार मनुष्य-जीवन में बहिरंग में जो अज्ञानताये हैं, अनेक कष्ट हैं, उनके निराकरण के लिये वह अनेक उपाय ढूँढता है और स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण की भी भावना रखते हुये वह 'परस्परौपग्रहो जीवानाम्' सिद्धान्त के आधार पर सेवा करता है ।

सेवा करना मानव का कर्तव्य है, धर्म है । कोई हमारी सेवा करता है तो हमें अत्यन्त आनन्द अनुभव होता है, भला लगता है और उसे बहुत अच्छा समझते हैं । जब अपनी सेवा करने वाले को हम अच्छा समझते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अपनी शक्ति, साधन व बुद्धि के अनुसार निर्लेप-निरपेक्ष

भाव से, निष्काम भाव से, फल की आकांक्षा रहित भाव से पर सेवा करें। शिवकोटि आचार्य ने भगवती-आराधना में 'सेवा-भाव' को तीर्थंकर प्रकृति का कारण बताया है। पञ्चाध्यायी में आचार्य ने इसके साथ एक शर्त जोड़ दी है कि—जहाँ तक हिंसा, साव्यता का प्रसंग न आवे उस सीमा तक सेवाभाव व कार्य उचित हैं। उस (सीमा सहित) सेवा में जो उत्तरोत्तर स्वच्छ व निर्मल भावनाएँ होती हैं वह मनुष्य की शांति का हेतु बन जाती हैं, वही शांति उसको (सेवा करने वाले को) सर्वाधिक सुख व फल प्रदाता होती है।

आप लोगो ने भी सेवाभाव से यहाँ जयपुर में छोटे रूप में (आरोग्य भारती, वैद्यावृत्यभवन व महावीर कल्याण केन्द्र के रूप में) सेवा कार्य प्रारम्भ किये हैं, वे महान् हैं। वटवृक्ष का बीज बहुत छोटा होता है, मिट्टी में डालकर पानी से सींचने से वही बीज एक विशाल छायावान् वृक्ष बन जाता है। हमें भी इसी प्रकार के सेवा-कार्यों को व्यक्तिगत रूप से सामूहिक रूप से आगे बढ़ाते रहना चाहिये, अन्य लोगो में इसके लिये भावना जागृत करनी चाहिये। वे स्वयं ही इससे प्रभावित होकर इसे अपनाते जायेंगे।

कर्तव्य-पालन करना प्रत्येक मानव का धर्म है। कर्तव्य-पालन करने वाले को उसका फल स्वयमेव प्राप्त होता है। उसके लिये तत्सम्बन्धी साधन स्वयं जुट जाते हैं। जो साधन जुटाकर कार्य प्रारम्भ करना चाहता है, उसका कार्य सफल नहीं हो पाता। कार्य करने वालों के साथ साधन स्वयमेव जुट जाते हैं, यह लौकिक अनुभव है।

आप सबकी बुद्धि आत्मकल्याण के साथ पर-सेवा परोपकार में भी बनी रहे। निष्काम-भाव से, बिना किसी फल प्राप्ति की आकांक्षा के सेवा करने की भावना व प्रयत्न करना चाहिये। इन्हीं प्रयत्नों से देश, समाज व सस्कृति आदर्श बन सकते हैं और यही आदर्श हमारा प्राचीन आदर्श होने के कारण कलियुग के अन्तिम क्षण तक भारत की अहिंसा-सस्कृति को अक्षुण्ण रखेगा। अहिंसा-सस्कृति के अनुरूप यह फले-फूले और समस्त प्रजा क्षेम से जीवे, यही भावना है।



